CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

4618

4618

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राचीन भारत में संगीत

(वैदिक काल से गुप्त काल तक)

[उत्तर भारतीय संगीत पर विशेषावधानपूर्वक]

डा० धर्मावती श्रीवास्तव

एम० ए०, एम० म्यूज़०,

पीएच० डी०

भारतीय विद्या प्रकाशन

वाराणसी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रकाशक :
भारतीय विद्या प्रकाशन
पो० ब० १०८, कचौड़ीगली,
वाराणसी

4618

State Museum Library
Lucknow

प्रथम संस्करण १९६७
मूल्य ~~२५.००~~

REVISED PRICE
२०/-

मुद्रक :
नरेन्द्रकुमार प्राणलाल आचार्य
आचार्य मुद्रणालय, कर्णघण्टा,
वाराणसी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

समर्पण

पूज्य

माता

पिता

के

श्रीचरणों

में

—धर्मा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१५७—स्वप्नवासवदत्ता (भासप्रणीत) अनन्तरामशास्त्री संस्कृत व्याख्या जैकृष्णदास गुप्ता–प्रकाशक चौखम्भा संस्कृत सिरीज बनारस, १९२३।

१५८—चारुदत्तं अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थावली सं० ३९ (भास प्रणीत) गणपति शास्त्रिणा संशोधितम् भासनाटकत्रकं द्वादशम् त्रिवेन्दरम् गवर्नमेन्ट प्रेस, १९१४।

१५९—प्रतिमा नाटक गणपति शास्त्री त्रिवेन्द्रम्, १९१५।

१६०—प्रतिमानाटकम् (भासकृत) श्रीधरानन्दशास्त्री मोतीलाल बनारसी दास पंजाब संस्कृत पुस्तकालय, लाहौर, १९९३।

१६१—प्रतिज्ञायोगंधरायण (भासकृत) त्रिवेन्द्रम संस्कृत सिरीज सं० १६ टीका गणपति शास्त्री ट्रावनकोर गवर्नमेन्ट प्रेस, १९१२

१६२—मृच्छकटिक (शूद्रक कृत संपा० एम० आर० काले बंबई, १९६२

१६[illegible]—हरिवंश (महाभारत भाग) गीताप्रेस गोरखपुर।

१६४—लाइफ इन दि गुप्ता एज आर० एन० सेलेटोर पौपलर बुक डिपो बम्बई, १९४३।

[illegible]लाग आफ दि गुप्त काइन एलेन।

[illegible]पकालीन मुद्राएँ एम एस० आल्टेकर।

१६७—वैदिक वाङ्गमय का इतिहास भगवद्दत्त।

१६८—स्टडीज आफ दि सामवेद भाग–१ बैरेण्ड फैडेगोन नौर्थ हौलेन्ड पब्लिशिंग कंपनी, १९५१।

[illegible]—इन्डिया इन वैदिक कल्पसूत्राज रामगोपाल दिल्ली।

[illegible]इण्डिया ऐज नोन टु पाणिनि वी० एस० अग्रवाल लखनऊ [illegible]निवर्सीटी प्रेस, १९५३।

१७१—वैदिक स्वर मीमांसा युधिष्ठिर मीमांसक अमृतसर, १९५८।

१७२—प्री बुद्धिस्ट इन्डिया आर० एल० मेहता बंबई, १९३९।

१७१—रामायण कालीन संस्कृति शांतिकुमार नानूराम व्यास सत्साहित्य प्रकाशन नई दिल्ली, १९५८।

१७४—ए स्टडी इन रामायण कीर्त्तिमन्दिर लेक्चर सिरीज रामस्वामी शास्त्री, १९४४ बड़ौदा।

१७५—इन्डिया इन दि टाइम आफ पतंजलि बी एन० पुरी भारतीय विद्या भवन बंबई भवन बंबई ७, १९२७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१७६—लाइफ इन एन्शियेन्ट इन्डिया एज डिपिक्टेट इन जैन कैनन्स जगदीश चन्द्र जैन, १९४७।

१७७—तामिल साहित्य और संस्कृति अवधनन्दन साहित्य प्रकाशन, १९५८।

१७८—ए स्टडी आफ दि महावस्तु अवदान राधागोबिन्द बसाक कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९६०।

१७९—अमरकोष—(क्षीर स्वामी कमेन्ट्री एडिटेड बाई अभ्यंकर) माहेश्वरी समलंकृत—निर्णयसागर प्रेस।
सपा०—रामनारायणराम आचार्य "काव्यतीर्थ"

१८०—सोशल लाइफ इन एण्शिएन्ट इन्डिया स्टडीज इन वात्स्यायनाज कामसूत्र हरन चन्द्र चक्लादार कलकत्ता, १९२९।

१८१—स्कल्पचर्स्इन्स्पायर्ड बाई कालिदास ३९ शिवराममूर्त्ति

१८२—भास, ए स्टडी संस्कृत प्राकृत सिरीज-भाग-७ ए० डी० पुसालकर, लाहौर।

१८३—इन्डिया इन कालिदास बी० एस० उपाध्याय किताबिस्तान, १९४७।

१८४—गुप्ता एम्पायर आर० एन० मुकर्जी हिन्द किताब लिमिटेड बंबई, १९५२।

१८५—नौदर्न इन्डियन म्यूजिक एलेन डैनेल्यू कलकत्ता विश्वभारती, १९४९। सेलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स् डी० सी० सरकार अशोक भण्डारकर

जर्नल्स

१८६—ऐनेल्स आफ भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट पूना भाग १२ दि वीणा इन एन्शियेन्ट टाइम्स श्री दिवक्तिया।

१८७—जर्नल आफ अमेरिकन ओरियन्टल सोसायटी संपा० मैक्स एस० मर्गोलिस भाग ५० याले यूनिवर्सीटी प्रेस, १९३०। (दि ओल्ड इण्डियन वीणा)

१८८—एनेल्स आफ भण्डारकर रिसर्च इण्स्टिट्यूट भाग-७ पृ० १८ कालिदास एन्ड म्यूजिक जी० एन० मजुमदार।

१८९—संगीत सितंबर, १९६१ हाथरस।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१६०—जर्नल आफ म्यूजिक एकेडमी मद्रास भाग ३४ खण्ड १–४ संपा० वी० राघवन, १६६३ ।
१६१—एपि ग्राफिया इन्डिका ।
१६२—इन्डियन सोसाइटी इन्डियन आर्ट एण्ड लेटर्स न्यू सिरीज भाग–६ सं० १ लेख–डा० के० एन० सीताराम जुलाई, १६३५ ।
१६३—दि नव नालंदा महाविहार रिसर्च पब्लिकेशन भाग—२ संपा० सत्कारी मुकर्जी पटना, १६६० ।
लेख० सम आस्पेक्ट आफ सोशल लाइफ आफ एन्शियेन्ट इन्डिया इन दि ६०० बी० सी० ऐज डेपिक्टेड इन ब्रह्मजाल सूत्र ।
१९४—जर्नल आफ न्यूमिस्मैटिक सोसायटी, इन्डिया भाग–१० प्लेट ८ चित्र ४ प्लेट ६–३ ।
१९५—संगीत मार्च १९६० वर्ष १६ अंक ३ लेखक–श० परांजपे संगीत एवं नाट्य संगीत कार्यालय, हाथरस ।
१६६—मेमायर आफ दि आर्कियालाजिकल सर्वे आफ इन्डिया भाग १६ दि टेम्पल आफ शिव ऐट भूमारा, १६२४ ।
१६७—कैटलाग आफ म्यूजिकल इन्स्ट्रूमेन्ट इन मद्रास म्यूजियम श्री पी० साम्बमूर्त्ति ।
१९८—एज आफ इम्पिरियल यूनिटी, विद्याभवन सिरीज बंबई ।
१९९—कम्पेरेटिव एस्थेटिक्स भाग–१ इन्डियन एस्थेटिक्स के० सी० पाण्डे चौ० सं० वाराणसी, १९५९ ।
२००—बिगिनिंग आफ इन्डियन हिस्टीरियोग्रेफी यू० एन० घोषाल ग्रेटर इन्डिया सोसायटी कलकत्ता, १९४४ ।
२०१—कम्परेटिव एस्थेटिक्स भाग–२ वेस्टर्न एस्थेटिक्स के० सी० पाण्डे चौ० सं० सि०, वाराणसी, १९५९ ।
२०२—राग लक्षण अथवा राग के आवश्यक तत्व डा० प्रेमलता शर्मा, १९५९ ।
२०३—डान्स आफ इन्डिया प्रोजेश बनर्जी किताबिस्तान इलाहाबाद, १९४७ ।
२०४—दि म्यूजिक आफ इन्डिया एच० ए० पौप्ले कलकत्ता, १९५० ।
२०५—हिस्टोरिकल डेवलेपमेन्ट आफ इन्डियन म्यूजिक स्वामी प्रज्ञानानन्द कलकत्ता, १२ १६६० ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

२०६—दि स्टोरी आफ इन्डियन म्यूजिक ओ० गोस्वामी एशिय पब्लिशिंग हाउस, १६५७।
२०७—रागाज एण्ड रागिनीज ओ० सी० गांगुली नालंदा पब्लिकेशन बंबई-१ १६३५।
२०८—दि स्टोरी आफ म्यूजिक ओ० गोस्वामी।
२०६—दि डान्स आफ शिव आनन्दकुमार स्वामी एशिया पब्लिशिंग हाउस बंबई-कलकत्ता, १९४८।
२१०—दि कल्चरल हेरिटेज आफ इन्डिया भाग-३ रामकृष्ण सेन्टीनरी कमेटी बेलूरमठ, कलकत्ता।
२११—म्यूजिक आफ इन्डिया एस० बन्ध्योपाध्याय बंबई, १९५८।
२१२—म्यूजिक आफ इन्डिया विलियम जोन्स कलकत्ता, १६६२।
२१३—हिस्ट्री आफ इन्डियन म्यूजिक भाग-२ स्वामीराम सरनानन्द हिमालय, १६५५।
२१४—प्रणव भारती (प्रथम भाग) पं० ओम्कारनाथ ठाकुर, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी, १६५६।
२१५—दि म्यूजिक आफ हिन्दुस्तान ए० एच० फौक्स स्ट्रेंजवेज, १९१४।
२१६—संगीतशास्त्र के० वासुदेवशास्त्री हिन्दी समिति ग्रन्थमाला-१९ सूचना विभाग उत्तर प्रदेश, १६५८।
२१७—संगीत रत्नाकर (शार्ङ्ग देव कृत) संपादक सुब्रमण्यम शास्त्री अड्यार लाइब्रेरी, १९५१।
२१८—उत्तरभारतीय संगीत का संक्षिप्त इतिहास पं० भातखण्डे। संगीत कार्यालय हाथरस। १६५४ [प्रथम बार १९१६ में बड़ौदा कॉफ्रेन्स में भाषण दिया]
२१६—भरत का संगीत सिद्धान्त, आचार्य कैलासचन्द्र देव बृहस्पति उत्तर प्रदेश, १६५९।
२२०—संगीतराज, रचित महाराणा कुम्भ, सम्पादिका डॉ० कु० प्रेमलता शर्मा का० हि० वि प्रेस, वाराणसी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

फलक-१

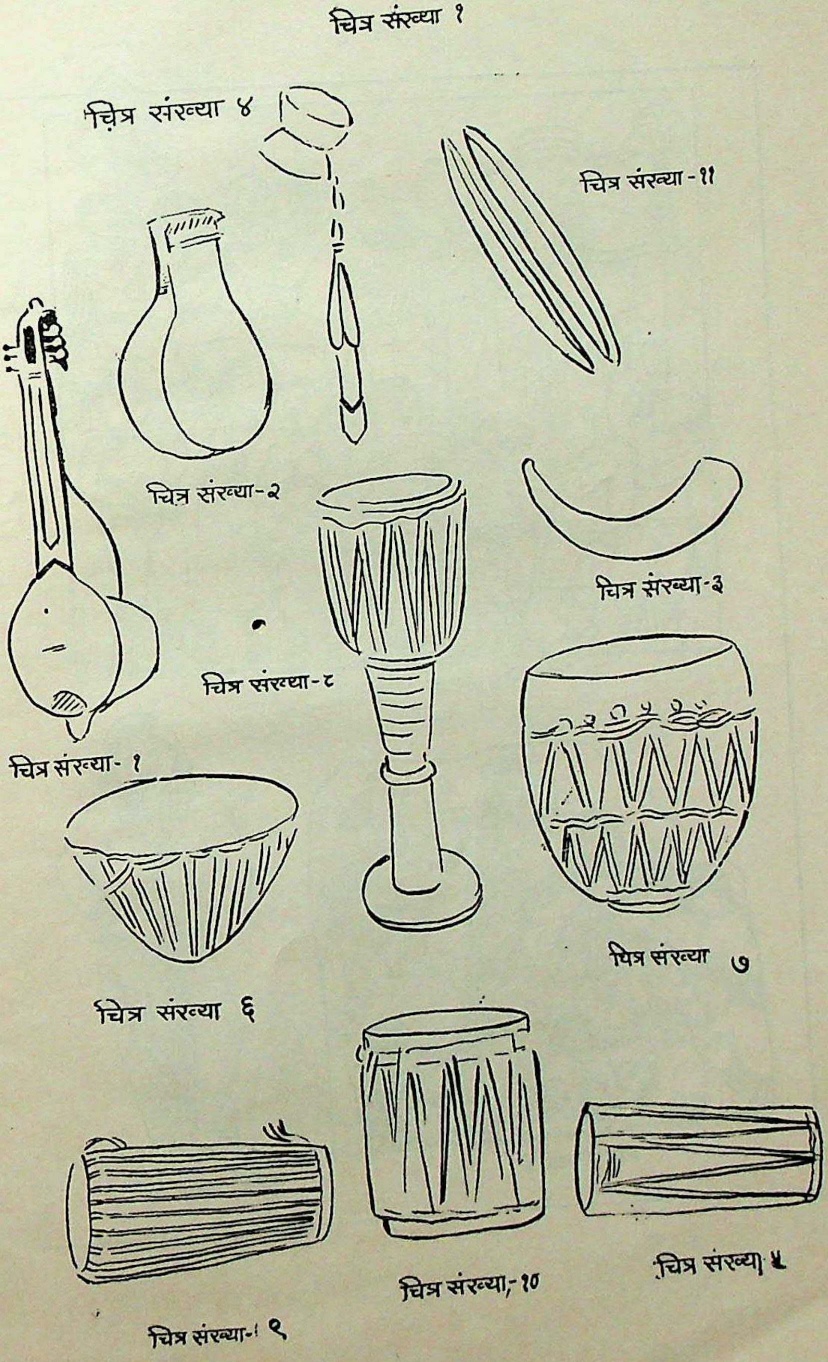

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

फलक-२

चित्र संख्या-१

चित्र संख्या-२

चित्र संख्या-३

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

फलक-३

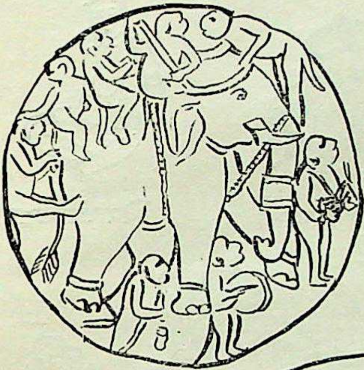

चित्र संख्या- १

चित्र संख्या ३

चित्र संख्या-२

चित्र संख्या- ४

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

फलक-४

चित्र संख्या-१

चित्र संख्यां-२

चित्र संख्या-३

चित्र संख्या-४

चित्र-संख्या ११

चित्र संख्या-८

चित्र संख्या-९

चित्र संख्यां १०

चित्र संख्या-५

चित्र सख्या-६

चित्र संख्या ७

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आरम्भिकी

ब्रह्मग्रन्थजमारुतानुगतिना चित्तेन हृत्पङ्कजे,
सूरीणामनुरञ्जकश्रुतिपदं योऽयं स्वयं राजते।
यस्माद् ग्रामविभागवर्णरचनालङ्कारजातिक्रमो,
वन्दे नादतनुं तमुद्धुरजगद्गीतं मुदे शङ्करम्।

शब्द के झीने आवरण से आनन्द का मधुर कोश सङ्गीत में बिखर जाता है। विहङ्गों का उषःकालीन कलरव, शिशुओं की निर्बोध हँसी की गूँज, भावविभोर भक्त की गीतियाँ और रसपेशल प्रणय की मुखरता उसी आनन्द के नाद की भिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं जो समाहित संगीतज्ञ द्वारा स्वर-लय में निबद्ध होकर प्रकाश पाता है। दजला और फराव से सप्त सिन्धु तक फैली हुई पुरैतिहासिक विमिश्र संस्कृति के मानव ने इस नैसर्गिकी अभिव्यञ्जना को शास्त्रीय परिधान पहिनाया। सामसंगीत और तलवकार साहित्य से लेकर देशी और मार्ग की विभिन्न प्रणालियों से बहती हुई स्वरधारा ने मनुष्य की उद्दाम और उदग्र वृत्तियों को कोमिल और संस्कृत बनाने का प्रयास किया:—"गीत-वादित्र-नृत्तादिपुण्याख्यानकथाभिः ये लोपयन्त्यथ पारुष्यम्।" राज-दरबार तथा मन्दिरों में, शृंगाटक तथा खेतों में, पानगोष्ठी और प्रेक्षणकों में संगीत विभिन्न प्रयोजनसे रूपायित हुआ। मुमुक्षुओं के लिये मोक्ष का साधन और भोगियों को यह 'प्रवरो विनोदः' तथा 'रक्तस्य रागवृद्धिकरो प्रमोदः' था। प्रस्तुत शोधग्रंथ इस रूपविधान का प्रथम वैज्ञानिक और विशद विवेचन है। उन इतिहास के अध्येताओं के लिये जो युद्ध के भेरीघोष का ही इतिवृत्त सुनते रहे, घोषवती की मूर्च्छना के इस ऐतिह्य में नवीनता का आकर्षण होगा। मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस उपज्ञ कृति का हिन्दी जगत में पर्याप्त समादर होगा।

अध्यक्ष,

विश्वम्भर शरण पाठक

प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं
पुरातत्त्व विभाग,
गोरखपुर विश्वविद्यालय,
गोरखपुर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मङ्गलाशंसा

सौ० श्रीमती धर्मावती श्रीवास्तव के शोध-प्रबन्ध को प्रकाशित होते देख कर मुझे हर्ष का अनुभव हो रहा है। भारतीय सङ्गीत का ऐतिहासिक अध्ययन अभी शैशवावस्था में ही है। किसी भी विषय का ऐतिहासिक अध्ययन निम्नलिखित प्रकारों में से किसी एक के सदृश हो सकता है:—

१. पुरातत्त्ववित् की भाँति मृत आकृतियों और परम्पराओं का अध्ययन। इस में अध्ययन का विषय जीवन्त अनुभव और प्रचलित अथवा शाश्वत मूल्यों के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं रखता।

२. विश्लेषणात्मक इतिहास, जिसमें ऐसी आकृतियों का अध्ययन किया जाता है जिनका जीवनकाल समाप्त हो चुका है, ऐसा माना जाता है। यह खोजने का यत्न किया जाता है कि उनका अन्त क्यों और कैसे हुआ।

३. शल्यक्रिया के प्रयोक्ता की पद्धति, जिसमें बीमारी का अथवा शरीर में पनपे हुए बीमार अङ्गों का अध्ययन होता है। यहाँ शरीर भी जीवित है और बीमार अङ्ग भी या बीमारी से बढ़ा हुआ अङ्ग भी मरा नहीं है।

४ चिकित्सक की प्रणाली, जिसके अनुसार रोग का निवारण अपेक्षित होता है।

५. 'मिशनरी' अथवा सुधारवादी की पद्धति, जिसमें दोषों को दूर करने का उद्देश्य रहता है।

भारतीय सङ्गीत का ऐतिहासिक अध्ययन इस युग में जो कुछ भी थोड़ा बहुत हुआ है, उसकी पद्धति प्रायः ऊपर लिखे प्रथम और द्वितीय प्रकारों के सदृश रही है। आवश्यकता इस बात की है कि सङ्गीत के वर्तमान लक्ष्य में शाश्वत मूल्यों की ऐतिहासिक खोज और पुनः स्थापना का यत्न किया जाए। प्रस्तुत प्रकाशन से इस दिशा में कुछ प्रेरणा मिले, ऐसी मेरी हार्दिक शुभकामना है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पीएच० डी० की उपाधि के लिए शोध प्रबन्ध की प्रस्तुति किसी भी व्यक्ति के लिए अनुसन्धान के क्षेत्र में प्रवेश या दीक्षा का ही रूप है। आशा है कि श्रीमती धर्मा जो बाल्यकाल से मेरी प्रिय विद्यार्थिनी रही है, अनुसन्धान की प्रवृत्ति को भावी जीवन में अधिकाधिक उत्साह से अपनाएंगी। मेरी मङ्गलकामना सदैव उसके साथ रहेगी।

प्रस्तुत प्रबन्ध में विभिन्न उत्सों से सङ्कलित सामग्री विद्यार्थियों और अध्यापकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी और भारतीय सङ्गीत में अध्ययनोपयोगी सामग्री के दारुण अभाव की कुछ पूर्त्ति कर सकेगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

पृ० १४३–४४ पर 'मार्दव' और 'आयतत्व' संज्ञाओं का, दो ग्रामों का परस्पर सम्बन्ध दिखाने के लिए, प्रयोग किया गया है। और 'आयतत्त्व' का अर्थ अपकर्ष एवं 'मार्दव' का अर्थ उत्कर्ष लिया गया है, तदनुसार अपकर्ष के लिए 'अमार्दव' संज्ञा का उपयोग किया है। भरत नाट्यशास्त्र के तौर्यत्रिक प्रकरण पर अभिनवगुप्त की टीका अब प्रकाशित हो गइ है। इसलिये 'मार्दव' का अर्थ अपकर्ष और 'आयतत्व' का अर्थ उत्कर्ष अब निश्चित समझा जा सकता है। (मार्दवं तन्त्र्याः शिथिलीकरणं, विपरीतत्वमायतत्वं क्रियत इत्याह— ना० शा० बड़ौदा सं० चतुर्थखण्ड पृ० २१)। तदनुसार पाठक उस अंश का परिमार्जन कर लें, ऐसा विनम्र अनुरोध है। 'अभिनवभारती' के इस अंश के प्रकाशन से भरत के तौर्यत्रिक प्रकरण का नवीन आलोक में अध्ययन संभव होगा।

अन्त में लेखिका के श्रम की सार्थकता और भविष्य में अनुसन्धान के प्रति उसकी उन्मुखता के लिये पुनः पुनः हार्दिक मङ्गलकामना व्यक्त करती हूँ।

प्रेमलता शर्मा

१.५.६७

डीन फैकल्टी ऑफ म्यूज़िक एण्ड फाइन आर्ट्स
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राक्कथन

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में योग्यतम गुरुओं से संगीत शिक्षा प्राप्त करने का सौभाग्य मुझे बाल्यकाल से ही मिलता रहा। साथ ही प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व का अध्ययन भी बी० ए० में अन्य विषयो के साथ तथा एम० ए० में विशेष रूप से पढ़ने का सुयोग प्राप्त हुआ, एम० म्यूज० तथा एम० ए० पूर्ण करने के पश्चात् सभी गुरूजनों ने मेरे अध्ययन के दो प्रमुख विषयों को समन्वित करने की दृष्टि से यह सुझाव दिया कि प्राचीन भारतीय संगीत पर ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, सामाजिक एवं शास्त्रीय दृष्टि से शोधकार्य करूँ। इस विषय के चुनाव के लिये मैं भारती महाविद्यालय के प्रिन्सिपल डा० अवध किशोर नारायण के प्रति आभार प्रकट करती हूँ जिन्हों ने मुझे मेरी रूचि के अनुकूल सुझाव दिया तथा जिसे कार्यान्वित करने में मैं सहर्ष प्रवृत्त हो सकी।

प्राचीन भारतीय संगीत के इतिहास का अध्ययन प्राचीन भारत के सामान्य इतिहास की भूली बिसरी कहानी के पुनरुद्धार के साथ सम्बद्ध है। १८७४ में विलियम जोंस बंगाल में आये और यूनानी, लातीनी तथा सदृश भाषाओं के साथ संस्कृत का गठबंधन कर भारतीय अतीत के ज्ञान का द्वार उद्‌घाटित किया। अन्य विषयों के अतिरिक्त जोंस तथा उनके समकालीन कैप्टेन बिलफोर्ड भारतीय संगीत को यूरोपीय कर्णों से सुनकर उनके इतिहास और स्वरूप के विषय में किंचित् उन्मुख हुये और इसका साक्ष्य अपने उन लेखो में दिया जिनको सौरीन्द्रमोहन टैगोर ने हिन्दू म्यूजिक फ्रॉम वेरियस आथर्स के नाम से करीब सौ वर्ष बाद १८८२ में पुनः प्रकाशित किया, इन लेखों में भारतीय संगीत का या तो प्रासंगिक उल्लेख था अथवा उसका साधारण स्वरूप परिचय अथवा मध्यकालीन भारतीय संगीत धारा के प्रति विस्मित उत्कण्ठा इस नवीन प्रवृत्ति के साथ ही साथ राजघरानों में स्फुट और आपेक्षिक शैथिल्य के साथ साथ शनैः शनैः संगीत की मध्ययुगीन धारा भी अनेक क्षेत्रो में विभक्त हो कर प्रवाहित हो रही थी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कवि कृष्ण का 'राग कुतूहल' (१७८१) जोंस के भारत आनेके चार वर्ष पूर्व प्रणीत हुआ। जयपुर के सवाई महाराजा प्रतापसिंह देव (१७७९–१८०४ के द्वारा 'संगीत-सार' निश्चित ही जौन्स के भारत आने के बाद रचित हुआ होगा।

नवीन प्रवृत्ति में दो उपधारायें परिलक्षित होती हैं। प्रथमतः एंथ्रापालाजी अथवा एथनालाजो के वे अविकसित सिद्धांत और विचार जो विदेशी संस्कृति के अभिनव पक्ष में उत्कण्ठा के साथ प्रवृत्त होते थे। इसमें संगीत के आतोद्य सितार, तबला आदि के विषय में औत्सुक्य दिखाई देता है। दूसरे भारतीय राग ताल को यूरोपीय नोटेशंस के माध्यम से समझने का प्रयास है।

इस प्राथमिक युग के अन्तिम चरण में वेदो के अध्ययन ने जोर पकड़ा और वैदिक छन्दों तथा सामवेद के प्रसंग में भारतीय संगीत की प्रासंगिक विवेचना हुई। 'इंदिशे स्तूदियेन' की आठवीं जिल्द (१८६३) में प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् वेबर ने Beitrage fur die Kunde de indischer Atertums में वैदिक संगीत के scale के सम्बन्ध में प्राचीन ग्रंथों की उद्धरणी प्रस्तुत की। करीब-करीब इसी समय मार्टिन हांग Ueber dus Wesen undder werth des wedis chen Accent ग्रंथ में सामवेद के प्रकाश में वैदिक संगीत के स्वरों का विवेचन किया।

सौरीन्द्रमोहन टैगोर के उदय से संगीत के इतिहास का दूसरा युग प्रारंभ होता है। इस समय पुनर्जागृतिकाल का पूरा प्रभाव भारतीय संगीत पर पड़ा और युगप्रवर्तक सौरीन्द्रमोहन टैगोर ने एक नई दिशा दी, उन्हों ने प्रथमतः मध्ययुगीन संगीत धारा के साथ ही यूरोपीय संगीत के प्रभाव को समन्वित करने का प्रयत्न किया। 'संगीत-सार-संग्रह' का प्रणयन उनके द्वारा १८७५ में हुआ।

पाँच साल बाद The Eight Principal Ragas of the Hindus with Tableau and dramatic pieces illustrating their Character (1880) प्रकाशित कर अंग्रेजी शिक्षितों का भारतीय संगीत की ओर ध्यान आकृष्ट किया। ऐसा ही प्रयत्न उन्होंने १८७७ में एक छोटी सी पुस्तिका "Six principal rāgas with a brief view of Hindu Music" में किया था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस द्वितीय युग में संगीत के इतिहास पर भी ध्यान गया। राजा सौरीन्द्रमोहन टैगोर ने "Universal History of Music" पुस्तक लिखी जिसमें बंगाली संगीतज्ञों का परिचय भी प्राप्त होता है, यह प्रयत्न ग्रोसे द्वारा Contribution a 'l' Etude de le Musique Hindune (1888) अग्रसर किया गया।

एथनालाजी की प्रेरणा प्राप्त कर आतोद्य-विमर्श की प्रवृत्ति भी इस युग में बढ़ी। सी० आर० डे० का दी म्यूजिक एण्ड दी म्यूजिकल इंस्ट्रूमेन्टस आफ सदर्न इंडिया एण्ड दी डेक्कन (१९९१) और विक्टर चार्ल्स मेहिलान का फ्रेन्च भाषा में उपनिबद्ध पुस्तक 'केतेलाग दिस्क्रिप्रीफ एनालितिक दुम्यूजिए इंस्ट्रूमेन्टल में भारतीय आतोद्य का वर्णन है। किन्तु इस दृष्टि से वैज्ञानिक पद्धति पर इस युग की सर्वोत्तम कृति है। चार्ल्स एस मेयर्स की दी एथानालाजीकल स्टडी आफ म्यूजिक (१९६७) जिसमें अन्य संस्कृतियों के साथ ही भारतीय संस्कृति के संगीत के अध्ययन की दिशा बताई गई है।

राजा सौरीन्द्रमोहन टैगोर के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों ने भी भारतीय रागों का पाश्चात्य ढंग से विवेचन और नोटेशन सहित प्रकाशन किया। चिन्न स्वामी मुदलियार ओरियांटल म्यूजिक इन यूरापियन नोटेशन (१८६२) ईकलीमेंटस् की इंट्रोडक्शन टु दी स्टडी आफ् इंडियन म्यूजिक (१६१३) प्रमुख रूप से इस विषय में उल्लेखनीय है।

भारतीय संगीत के प्रमुख पक्षों का साधारण विवेचन इस समय के यूरोपीय और आंग्ल-शिक्षित भारतीयों की एक आवश्यकता थी और इस लिये भवान राव पिंगले (१८६८) की (इंडिएन म्यूजिक) और विल्सन की (ए शार्ट एकाउन्ट आफ् इंडिएन म्यूजिक) आदि पुस्तकों का प्रणयन हुआ।

राजघरानों में मध्ययुगीन धारा भी मन्दगति से चल रही थी। इसके प्रसंग में हिन्दी, उर्दू, फारसी भाषाओं में संगीतविषयक ग्रन्थ लिखे जा रहे थे। बुद्धि प्रकाश दर्पण, नाद विनोद, मार्फत-उल-नगमात आदि की रचना इसी युग की है। इस प्रकार द्वितीय युग

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१८८४ से १९१४ में विभिन्न प्रवृत्तियों का प्रदर्शन संगीत के अध्ययन के प्रसंग में हो रहा था।

तृतीय युग (१६१४-१६४८) में संगीत के अध्ययन की धारा में कुछ स्थिरता सी आई, किन्तु उसकी सीमा में विस्तार भी हुआ। प्रमुख विशेषता इस युग की है—प्राचीन भारतीय संगीत परम्परा के प्रति साकांक्ष ममत्व एवं जिज्ञासा जिसके कारण एक ओर तो इतिहास जानने की इच्छा उत्पन्न हुई तो दूसरी ओर संगीत के प्राचीन पक्ष का अवतरण करने का आग्रह। फॉक्स स्ट्रांगवेज अपनी पुस्तक "दि म्यूजिक आफ हिन्दुस्तान १६१४) के तृतीय अध्याय में संगीत के इतिहास की ओर उन्मुख दिखाई पड़ते हैं किन्तु संस्कृत ग्रन्थों का आलोड़न न होने से खिन्न होकर मध्यकालीन युग तक ही दृष्टिपात कर पाते हैं। देवल का कार्य निश्चित ही इस में गति देता है। उनकी थ्योरी आफ इण्डियन म्यूजिक ऐज एक्सपाउंडेड बाई सोमनाथ" और दी रागाज आफ हिन्दुस्तान "उपर्युक्त दोनों प्रवृत्तियों को उकसाती है। इतिहास पर प्रकाश डालने वाली पुस्तक अमियानाथ सान्याल की बंगाली पुस्तक प्राचीन भारतेर संगीत चिन्ता, साम्बमूर्त्ति की "साउथ इन्डियन म्यूजिक (१६४१) आदि अनेकों पुस्तकें इस काल की हैं। इसी युग में पं० भातखण्डे ने भी इस दिशा में कुछ प्रयास किया है जो उनकी पुस्तक "उत्तर भारतीय संगीत का संक्षिप्त इतिहास के रूप में हमारे सामने है। किन्तु यहाँ भी भरत से पूर्व उनकी दृष्टि में संगीत के इतिहास का कोई प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं अत: भरत से पूर्व संगीत के इतिहास को केवल कुछ पंक्तियों तक ही सीमित कर दिया।

वर्तमान युग (१६४८-) में स्वातंत्र्य प्राप्ति से संगीत का प्रचार क्षेत्र बढ़ा। ओ० गोस्वामी के शब्दों में "विथ दि एडवेंट आफ फ्रीडम एण्ड दी एस्टेब्लिशमेण्ट आफ दिस स्टेट्स आफ इन्डियन इन दी कमिटी आफ नेशंस, मोर एण्ड मोर आफ पीपुल इन इन्डिया एब्राड, हेव बिगन टु टेक ए पासिंग इन्टरेस्ट इन दि कल्चर आफ इन्डिया।" इस समय इतिहास की सुसंबद्ध शृंखला बनाने का प्रयत्न हो रहा है। किन्तु वैज्ञानिक पद्धति का अभाव अथवा प्राचीन ग्रन्थों से

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस द्वितीय युग में संगीत के इतिहास पर भी ध्यान गया। राजा सौरीन्द्रमोहन टैगोर ने "Universal History of Music" पुस्तक लिखी जिसमें बंगाली संगीतज्ञो का परिचय भी प्राप्त होता है, यह प्रयत्न ग्रोसे द्वारा Contribution a 'l' Etude de le Musique Hindune (1888) अग्रसर किया गया।

एथनालाजी की प्रेरणा प्राप्त कर आतोद्य-विमर्श की प्रवृत्ति भी इस युग में बढ़ी। सी० आर० डे० का दी म्यूजिक एण्ड दी म्यूजिकल इंस्ट्रूमेन्टस आफ सदर्न इंडिया एण्ड दी डेक्कन (१९९१) और विक्टर चार्ल्स मेहिलान का फ्रेन्च भाषा में उपनिबद्ध पुस्तक 'केतेलाग दिस्क्रिप्तीफ एनालितिक टुम्यूजिए इंस्ट्रूमेन्टल में भारतीय आतोद्य का वर्णन है। किन्तु इस दृष्टि से वैज्ञानिक पद्धति पर इस युग की सर्वोत्तम कृति है। चार्ल्स एस मेयर्स की दी एथानालाजीकल स्टडी आफ म्यूजिक (१९६७) जिसमें अन्य संस्कृतियों के साथ ही भारतीय संस्कृति के संगीत के अध्ययन की दिशा बताई गई है।

राजा सौरीन्द्रमोहन टैगोर के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों ने भी भारतीय रागों का पाश्चात्य ढंग से विवेचन और नोटेशन सहित प्रकाशन किया। चिन्न स्वामी मुदलियार ओरियांटल म्यूजिक इन यूरापियन नोटेशन (१८६२) ईकलीमेंटस् की इंट्रोडक्शन टु दी स्टडी आफ् इंडियन म्यूजिक (१६१३) प्रमुख रूप से इस विषय में उल्लेखनीय है।

भारतीय संगीत के प्रमुख पक्षों का साधारण विवेचन इस समय के यूरोपीय और आंग्ल-शिक्षित भारतीयों की एक आवश्यकता थी और इस लिये भवान राव पिंगले (१८६८) की (इंडियन म्यूजिक) और विल्सन की (ए शार्ट एकाउन्ट आफ् इंडिएन म्यूजिक) आदि पुस्तकों का प्रणयन हुआ।

राजघरानों में मध्ययुगीन धारा भी मन्दगति से चल रही थी। इसके प्रसंग में हिन्दी, उर्दू, फारसी भाषाओं में संगीतविषयक ग्रन्थ लिखे जा रहे थे। बुद्धि प्रकाश दर्पण, नाद विनोद, मार्फत-उल-नगमात आदि की रचना इसी युग की है। इस प्रकार द्वितीय युग

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

१८८४ से १९१४ में विभिन्न प्रवृत्तियों का प्रदर्शन संगीत के अध्ययन के प्रसंग में हो रहा था।

तृतीय युग (१९१४–१९४८) में संगीत के अध्ययन की धारा में कुछ स्थिरता सी आई, किन्तु उसकी सीमा में विस्तार भी हुआ। प्रमुख विशेषता इस युग की है—प्राचीन भारतीय संगीत परम्परा के प्रति साकांक्ष ममत्व एवं जिज्ञासा जिसके कारण एक ओर तो इतिहास जानने की इच्छा उत्पन्न हुई तो दूसरी ओर संगीत के प्राचीन पक्ष का अवतरण करने का आग्रह। फॉक्स स्ट्रांगवेज अपनी पुस्तक "दि म्यूजिक आफ हिन्दुस्तान १९१४) के तृतीय अध्याय में संगीत के इतिहास की ओर उन्मुख दिखाई पड़ते हैं किन्तु संस्कृत ग्रन्थों का आलोड़न न होने से खिन्न होकर मध्यकालीन युग तक ही दृष्टिपात कर पाते हैं। देवल का कार्य निश्चित ही इस में गति देता है। उनकी थ्योरी आफ इण्डियन म्यूजिक ऐज एक्सपाउंडेड बाई सोमनाथ" और दी रागाज आफ हिन्दुस्तान "उपर्युक्त दोनों प्रवृत्तियों को उकसाती है। इतिहास पर प्रकाश डालने वाली पुस्तक अमियानाथ सान्याल की बंगाली पुस्तक प्राचीन भारतेर संगीत चिन्ता, साम्बमूर्त्ति की "साउथ इन्डियन म्यूजिक (१९४१) आदि अनेकों पुस्तकें इस काल की हैं। इसी युग में पं० भातखण्डे ने भी इस दिशा में कुछ प्रयास किया है जो उनकी पुस्तक "उत्तर भारतीय संगीत का संक्षिप्त इतिहास के रूप में हमारे सामने है। किन्तु यहाँ भी भरत से पूर्व उनकी दृष्टि में संगीत के इतिहास का कोई प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं अतः भरत से पूर्व संगीत के इतिहास को केवल कुछ पंक्तियों तक ही सीमित कर दिया।

वर्तमान युग (१९४८–) में स्वातंत्र्य प्राप्ति से संगीत का प्रचार क्षेत्र बढ़ा। ओ० गोस्वामी के शब्दों में "विथ दि एडवेंट आफ फ्रीडम एण्ड दी एस्टेब्लिशमेण्ट आफ दिस स्टेटस आफ इन्डियन इन दी कमिटी आफ नेशंस, मोर एण्ड मोर आफ पीपुल इन इन्डिया एब्राड, हेव बिगन टु टेक ए पासिंग इन्टरेस्ट इन दि कल्चर आफ इन्डिया।" इस समय इतिहास की सुसंबद्ध शृंखला बनाने का प्रयत्न हो रहा है। किन्तु वैज्ञानिक पद्धति का अभाव अथवा प्राचीन ग्रन्थों से

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अपरिचय किसी विशिष्ट ग्रन्थ के प्रणयन में बाधक रहे। उदाहरणार्थ ओ० गोस्वामी ने अपनी पुस्तक "दी स्टोरी आफ इन्डियन म्यूजिक" में युग विभाजन का शीर्षक टाडलर, प्रेटलर आदि अवैज्ञानिक ढंग से तो किया ही है। सहस्रों सदियों का इतिहास ६८ पेजों के सीमित कलेवर में संकीर्ण है। अभी हाल में उमेश जोशी की पुस्तक आई है। जिसमें इस विषय के अग्रसर होने का प्रयत्न है, किन्तु इतिहास की अपेक्षा किंवदन्ती को ही विशेषतः आधार माना है। इसी काल में पं० डा० ओंकारनाथ जी नें भी 'प्रणव भारती' जैसे ग्रन्थ का प्रणयन किया किन्तु वह संगीत के शास्त्रीय पक्ष को ही प्रस्तुत करता है।

लेखिका की स्पष्ट किन्तु विनम्र धारणा है कि संगीत के सांस्कृतिक एवं सामाजिक पक्ष के इतिहास का अद्यावधि समुचित क्रमबद्ध और वैज्ञानिक विवेचन नहीं हुआ। प्रस्तुत प्रबंध में इस विषय का एक लघु प्रयास है।

प्रस्तुत पुस्तक के क्षेत्र एवं पद्धति के विषय में भूमिका में यथोचित उल्लेख किया गया है।

यह निवेदन पूरा करने से पूर्व आभार ज्ञापन के पुनीत कर्त्तव्य का निर्वाह आवश्यक है। सर्वप्रथम मैं अपने इस प्रबंध के निर्देशक डा० विश्वंभर शरण पाठक, रीडर, भारती महाविद्यालय के प्रति हार्दिक कृतज्ञता निवेदित करती हूँ। आपके अमूल्य एवं तत्पर निर्देशन तथा सहानुभूतिपूर्ण छत्रछाया में जो कार्य सम्पन्न हुआ है उसकी सफलता का श्रेय आपको ही है तथा त्रुटियों का उत्तरदायित्व मुझ पर है।

इस प्रसंग में डा० कुमारी प्रेमलता शर्मा, रीडर संगीतशास्त्र एवं अनुसंधान, श्री कला संगीत भारती, का० हि० वि० वि० का नाम भी हार्दिक कृतज्ञता सहित उल्लेखनीय है। प्रस्तुत पुस्तक का विषय 'इतिहास एवं संगीत' दोनों ही विषयों से समान रूप से संबद्ध होने के कारण इतिहास एवं सस्कृति के विशेषज्ञ की ही भाँति संगीत विशेषज्ञ का निर्देशन भी अनिवार्य था। यद्यपि विश्वविद्यालय के नियमों के भीतर डा० शर्मा के निर्देशन का कोई स्थान मेरे शोध कार्य

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में नहीं प्राप्त हुआ तथापि आपने इस कार्य में पूर्ण तत्परता के साथ योगदान देकर मुझे विशेष रूप से आभारी बनाया है।

इस शोध-कार्य के लिय यूनिवर्सिटी ग्रान्ट्स कमीशन की ओर से दो वर्षों तक जो आर्थिक सहायता मिलती रही, उस के प्रति भी मैं आभरी हूँ।

तामिल साहित्य के उल्लेखों के लिये श्री कला संगीत भारती के कर्णाटक संगीत के प्राध्यापक श्री रंगस्वामी जी से जो सहायता मिली है उसके लिये वे हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं। प्रकाशन व्यवस्था के लिये भारतीय विद्या प्रकाशन के संचालक श्रीकिशोरचन्द जैन और मुद्रण के लिये आचार्य मुद्रणालय के प्रति हार्दिक धन्यवाद निवेदित करती हूँ। अन्य सभी गुरुजन, सहपाठी पुस्तकालयाध्यक्ष तथा कर्मचारी जिनका सहयोग इस कार्य में मिला है उन सभी के प्रति आभार प्रदर्शन करते हुए इस निवेदन को पूर्ण करती हूँ।

धर्मावती श्रीवास्तव

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय अनुक्रमणिका

भूमिका पृ० १९ से २२ तक

अध्याय प्रथम वैदिक काल में संगीत। वैदिक काल में गायन, सामगायन, गाथा इत्यादि—। वादन, नृत्य, संगीत के सप्त स्वर, गुरु शिष्य परंपरा, संगीत एवं स्त्री वर्ग, समाज में संगीतकारों की स्थिति। पृ० १ से २०तक।

अध्याय द्वितीय आठवीं शताब्दी ई० पूर्व से चौथी शताब्दी ई० पू० तक का संगीत। खण्ड "क" सूत्र ग्रन्थ एवं जातकों में संगीत की विभिन्न धाराएँ, संगीत के तीनों तत्त्व, खण्ड "ख" पाणिनी के अष्टाध्यायी में संगीत, खण्ड "ग" शिक्षा एवं प्रातिशाख्यों में संगीत, निष्कर्ष। पृ० २१ से ५५ तक।

अध्याय तृतीय तृतीय शताब्दी ई० पू० से प्रथम शताब्दी ई०पू० तक का संगीत। उस काल के प्रमुख उत्स—उत्सों की विविधता एवं परस्पर भिन्नता, खण्ड "क" कौटिल्य-कृत अर्थशास्त्र में संगीत—संगीत का राजनैतिक पक्ष। खण्ड "ख" मनुस्मृति में संगीत का धार्मिक पक्ष अथवा धार्मिक परंपरा का प्रतीक। खण्ड "ग" महाकाव्यों में संगीत 'अ' महाभारत में संगीत, 'आ' रामायण में संगीत। खण्ड 'घ' पतंजलि के महाभाष्य में संगीत। खण्ड 'ङ' 'अ' बौद्धत्रिपिटकों में संगीत, 'आ' बौद्ध साहित्य मिलिन्द प्रश्न, ललित विस्तर एवं सद्धर्म पुण्डरीक में संगीत। खण्ड 'च' कुछ प्राचीन जैन सूत्रों में संगीत तथा निष्कर्ष। पृ० ५६ से १२४।

अध्याय चतुर्थ द्वितीय शताब्दी ई० पू० से चौथी शताब्दी के प्रारंभ तक। इस काल के प्रमुख उत्स खण्ड 'क' भरतकृत नाट्यशास्त्र, खण्ड 'ख' दत्तिलं, खण्ड 'ग'

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तमिल महाकाव्यों में संगीत, अश्वघोष कृत बुद्ध चरित एवं सौन्दरनन्द काव्य, अवदान शतक, विशुद्धि मार्ग दिव्यावदान, कुछ महायान सूत्रो में संगीत, वात्स्यायन के कामसूत्र में संगीत, याज्ञवल्क्य स्मृति में संगीत निष्कर्ष। पृ० १२५ से २२९ तक।

अध्याय पंचम गुप्तकाल में संगीत, प्रमुख उत्सों का विवेचन, तक कुछ जैन सूत्रों में संगीत मतंग के बृहद्देशी में संगीत, कालिदास, भास, एवं शूद्रक के नाटकों में संगीत, निष्कर्ष। पृ० २६० से २९४ तक।

उपसंहार पृ० २६५ से ३०१ तक

फलक सूची पृ० १ से ८ तक [फलकों के बाद] सहायक ग्रन्थों की सूची—पृ० ६ से २५ तक।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संकेत सूची

ऋ० वे० ऋग्वेद संहिता	अथ० सं० अथर्ववेद संहिता
वाज०—वाजसनेयि संहिता	काठ सं०—काठक संहिता
तैत्ति० सं०—तैत्तिरीय संहिता	जैमि० उ० ब्रा०—जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ।
तैत्ति० ब्रा०—तैत्तिरीय ब्राह्मण	कौषी० ब्रा०—कौषीतकि ब्राह्मण
जैमि० ब्रा०—जैमिनीय ब्राह्मण	गोपथ ब्रा०—गोपथ ब्राह्मण
ता० महा० ब्रा०—ताण्ड्य महाब्राह्मण	पं० वि० ब्रा० पंचविंश ब्राह्मण
शत० ब्रा०– शतपथ ब्राह्मण	तैत्ति० आर०—तैत्तिरीय आरण्यक
शांखा० आर०—शांखायन आरण्यक	ऐत० आर०—ऐतरेय आरण्यक
कौषी० उप०—कौषीतकि उपनिषद्	तैत्ति० उप० –तैत्तिरीय उपनिषद्
छां० उप०—छान्दोग्य उपनिषद्	बृह० उप०—बृहदारण्यक उपनिषद्
बौधा० धर्मसू०—बौधायन धर्मसूत्र	वसिष्ठ धर्मसू०—वासिष्ठ धर्मसूत्र
शांखा० गृसू०—शांखायन गृह्यसूत्र	कौषी० गृह्यसू०—कौषीतकि गृह्यसूत्र
आप० गृसू०—आपस्तंब गृह्यसूत्र	काठ गृ० सू०—काठक गृह्यसूत्र
वारा० गृसू०—वाराह गृह्यसूत्र	पार० गृसू०—पारस्कर गृह्यसूत्र
गोभि० गृसू०—गोभिल गृह्यसूत्र	मान० गृसू०—मानव गृह्यसूत्र
हिर० केशि०—हिरण्य केशि श्रौसू०—श्रौतसूत्र	कात्यायन० श्रौसू०—कात्यायन श्रौतसूत्र
वैखा० श्रौसू०—वैखानस श्रौतसूत्र	वारा० श्रौसू०—वाराह श्रौतसूत्र
शांखा० श्रौसू०—शांखायन श्रौतसूत्र	आप० श्रौसू०—आपस्तंब श्रौतसूत्र
लाट्या० श्रौसू०—लाट्यायन श्रौतसूत्र	बौधा० श्रौसू०—बौधायन श्रौतसूत्र

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

जात०—जातक
पाणि० शि०—पाणिनीय शिक्षा
ऋ० प्राति०—ऋग्वेद प्रातिशाख्य
शु० य० प्राति०—शुक्ल यजु० प्रातिशाख्य
मनु०—मनुस्मृति
रामा०—रामायण
दी० नि०—दीघनिकाय
चरिया०—चरिया पिटक
अंगु० नि०—अंगुत्तर निकाय
सुत्तं०—सुत्तविभंग
महा०—महावग्ग
विमान०—विमानवत्थु
सद्धर्म—सद्धर्म पुण्डरीक
ललित०—ललित विस्तर
उत्तरा०—उत्तराध्ययन सूत्र
आचा०—आचारांग सूत्र
कल्प० सू०—कल्प सूत्र
ना० शा०—नाट्य शास्त्र
सं० रा०—संगीत राज
विशु०—विशुद्धि मग्ग
अमिता०—अमितायुर ध्यानसूत्र
बुद्ध०—बुद्ध चरित
काम०—कामसूत्र
मणि०—मणिमेखलई
बृहद्दे०—बृहद्देशी
स्थानां०—स्थानांग सूत्र
राया०—रायापसेनीय सूत्र
ऋतु०—ऋतु संहार

अष्टा०—अष्टाध्यायी
याज्ञ० शि०—याज्ञवल्क्य शिक्षा
तै० प्राति०—तैत्तिरीय प्रातिशाख्य
अर्थ०—अर्थशास्त्र
महा०—महाभारत
महा०—महावस्तु
खु० पा०—खुद्दक पाठ
सं० नि०—संयुक्त निकाय
विन० पि०—विनयपिटक
चुल्ल०—चुल्लवग्ग
पेत०—पेतवत्थु
बुद्ध०—बुद्धवंस
मिलिन्द०—मिलिन्द प्रश्न
दिव्या०—दिव्यावदान
सूत्र कृ०—सूत्र कृतांग
भग० सू०—भगवती सूत्र
ज्ञाता० धर्म०—ज्ञाताधर्म कथांग सूत्र
सं० र०—संगीत रत्नाकर
अव० श० अथवा—अवदान शतक
अव० शत०
वि० म०—विशुद्धि मग्ग
सुखा०—सुखावती व्यूह
सौन्दर—सौन्दरनन्द
सिल०—सिलप्पादिकारम्
याज्ञ० स्मृ०—याज्ञवल्क्य स्मृति
समवा० सू०—समवायांग सूत्र
उव०—उववाई सूत्र
मालवि०—मालविकाग्निमित्र
रघु०—रघुवंश

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रतिमा०—प्रतिमानाटक

स्वप्न० वा०—स्वप्न वासवदत्ता

मृच्छ०—मृच्छकटिक

मेघ०—मेघदूत (पूर्वमेघ, उत्तरमेघ)

विक्र०—विक्रमोर्वशीय

ज० ओ० ओ० सो०—जर्नल आफ अमेरिकन ओरियन्टल सोसायटी

ए० भं० रि० इं०—एनेल्स आफ भण्डारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट

एपि० इन्डि०—एपिग्राफिया इन्डिका

चारु०—चारुदत्त

प्रतिज्ञा०—प्रतिज्ञा यौगंधरायणं

अभि० शाकु०—अभिज्ञान शाकुन्तलम्

कुमार०—कुमार संभव

हरि०—महाभारत का एक अंश हरिवंश

ज० म्यू० ए० म०—जर्नल आफ म्यूजिक एकेडेमी, मद्रास

ज० भ० रि० इं०—जर्नल आफ भण्डारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूट

इन्डि० सो०—इन्डियन सोसायटी

———

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भूमिका

संगीत कला के अन्तर्गत गीत, वाद्य एवं नृत्य का समावेश होता है। प्राचीन भारत के संगीत के सांस्कृतिक पक्ष पर व्यवस्थित विवरण का अभाव होने के कारण प्रस्तुत विषय एक सुव्यवस्थित, ऐतिहासिक एवं आलोचनात्मक शोध प्रबंध की अपेक्षा रखता है। भारत में अति प्राचीन काल से ही धर्म ने संस्कृति के लगभग सभी पक्षों को प्रभावित किया। स्वाभाविक ही है कि संगीत भी इस प्रभाव से मुक्त नहीं रहा होगा। इस शोध पुस्तक में उन सभी तत्त्वों का विश्लेषण करने का प्रयास किया है जिन्होंने संगीत को अथवा संगीत ने जिनको प्रभावित किया।

अद्यावधि प्राचीन भारतीय संगीत पर काल क्रमानुसार व्यवस्थित कार्य नहीं हुआ है। अतः समाज के इस आह्लादकारी पक्ष के शोधपूर्ण विवेचन की आवश्यकता स्पष्ट है। संगीत, संगीतज्ञ एवं गायक वादकों के सामाजिक पक्ष के उद्घाटन के साथ ही संगीत का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत पुस्तक का प्रयोजन है। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि संगीत के लौकिक एवं शास्त्रीय पक्ष का विकास कालक्रमानुसार कैसे सांस्कृतिक प्रसंगों में हुआ, भारतीय संस्कृति का उस पर क्या प्रभाव पड़ा, संगीत संस्कृति एवं समाज को कहाँ तक प्रभावित कर सका, विभिन्न समयों में संगीत के प्रति क्या दृष्टिकोण रहे, गायक, वादकों को समाज में कैसा स्थान प्राप्त था, स्त्रियों का संगीत से कैसा संबंध था, संगीत के शास्त्रीय पक्ष में क्या क्या परिवर्त्तन एवं विकास हुए, इत्यादि विषय ऐसे हैं जिन पर प्रमाण सहित प्रकाश डालना हमारी पुस्तक का उद्देश्य है। वाद्यों का विवेचन शास्त्रीय एवं व्यवहारिक दोनों पक्षों के अन्तर्गत आ जाता है।

उक्त पुस्तक में विश्लेषणात्मक एवं आलोचनात्मक विधि अपनायी गई है। सर्व प्रथम काल विशेष की सामग्रियों का उल्लेख किया है जो उस काल के संगीत पर प्रकाश डालती है। सामग्रियों ...या स्त्रोतों के दो भेद किये जा सकते हैं। प्रथम साहित्यिक सामग्री

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एवं द्वितीय पुरातात्विक उत्स। साहित्यिक सामग्रियों को भी दो उपवर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वह साहित्य जो संगीत पर लिखा गया हो अथवा संगीत का शास्त्रीय एवं सैद्धांतिक विवरण प्रस्तुत करता हो यथा–भरत का नाट्यशास्त्र, मतंग का बृहद्देशी एवं दत्तिलं। द्वितीय उपवर्ग के अन्तर्गत वह साहित्य आता है जिसमें संगीत का यत्र तत्र स्फुट उल्लेख मिलता है। अधिकांश प्राचीन साहित्य इसी वर्ग के अन्तर्गत आता है। पुरातात्विक अवशेषों के अन्तर्गत मूर्त्तिकला, अभिलेख, एवं मुद्राएँ आती हैं। दोनों ही प्रकार की सामग्रियाँ समान महत्त्वपूर्ण हैं एवं एक दूसरे की प्रामाणिकता को स्पष्ट करती हैं। साहित्यिक उल्लेखों को हम पुरातात्त्विक अवशेषों में देखकर उनकी प्रामाणिकता एवं व्यावहारिकता का, कभी-कभी स्वरूप का भी (यथा—वाद्य एवं नृत्य संबंधी) अनुमान करते हैं। साची, अमरावती आदि मूर्त्तिकलाएँ तथा गुप्त मुद्राएँ इसका स्पष्ट प्रमाण हैं।

यह उल्लेखनीय है कि गीत एवं वाद्य पर विशेष ध्यान केंद्रित किया गया है। नृत्य में जहाँ तक गीत एवं वाद्य उपजीव्य रहते हैं, वहीं तक नृत्य पर विचार किया गया है। अभिनय जो नृत्य को नाट्य के समकक्ष रखता हैं, प्रस्तुत पुस्तक के बाहर ही रखा गया है।

प्रस्तुत प्रबंध में अध्यायों का विभाजन काल क्रमानुसार किया गया है। प्रत्येक अध्याय के आरंभ में भूमिका में ही उस काल के मुख उत्सों का उल्लेख किया गया है। काल विषयक मतभेदों में न पड़कर अधिकांश मान्य मतों को दृष्टि में रखकर विभाजन किया है। प्रमुख उत्सों को यदि वे परस्पर भिन्न प्रकार के हैं तो उनका स्वतंत्र विवेचन एवं तत्पश्चात् सम्मिलित निष्कर्ष निकाला गया है। जहाँ तक संभव बन पड़ा है प्रत्येक निष्कर्ष की पुष्टि प्राप्त उत्सों से ही की गई है। जहाँ प्रमाण का अभाव है वहाँ कोई निश्चित मत न देना ही श्रेयस्कर समझा गया है।

वाद्यों के विवेचन एवं स्वरूप निर्धारण में पुरातात्विक प्रमाणों की सहायता भी यथासंभव ली गई है। कभी-कभी तो साहित्यिक उत्सों में उल्लिखित सम्पूर्ण दृश्य का ही समीकरण मूर्त्तिकला में प्राप्त हो जाता है। आवश्यकता पड़ने पर आज के प्रचलित वाद्य स्वरूप से साम्य दिखाई देने पर भी उल्लेख किया गया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रस्तुत पुस्तक पाँच प्रमुख अध्यायों में विभक्त है। आवश्यकतानुसार अध्यायों को विभिन्न खण्डों में विभक्त किया गया है, जहाँ वे भिन्न धारा का प्रतिनिधित्व करते हैं। संक्षेप में प्रस्तुत पुस्तक के अध्यायों का संक्षिप्त परिचय दे देना सुविधाजनक होगा।

प्रथम अध्याय वैदिक काल के संगीत पर लिखा गया है। इसमें वैदिक काल के कण्ठ वा., संगीत एवं नृत्य का विवेचन किया गया है। वैदिक काल में प्राप्त संगीत की पारिभाषिक संज्ञाओं के आधार पर वैदिक संगीत के स्वरूप का निर्धारण किया है। वैदिक काल में गुरु शिष्य परंपरा, संगीत को देवजन-विद्या मानना, समाज में संगीतकारों का स्थान, स्त्रियों का सहयोग आदि तत्त्वों का स्पष्टीकरण किया गया है।

द्वितीय अध्याय में सूत्र साहित्य, जातक एवं शिक्षा प्रातिशाख्य, अष्टाध्यायी आदि को ध्यान में रखते हुए संगीत का स्वरूप निर्धारण करने का प्रयास किया गया है। इस काल में संगीत का सामान्य जन में भी प्रचार दृष्टिगत होता है। धार्मिक कृत्यों के अतिरिक्त अन्य सामाजिक कृत्यों में भी संगीत का प्रचार हो गया था। संगीतकारों में प्रतियोगिताएँ भी होनी प्रारम्भ हो गई थीं। संगीत जीविका के साधन के रूप में भी प्रचलित हो गया था। कुछ शास्त्रीय संज्ञाएँ यथा—त्रिस्थान, मूर्च्छना आदि तथा एकतंत्री से स्वर एवं मूर्च्छनाओं की उत्पत्ति आदि उल्लेख संगीत के शास्त्रीय पक्ष के विकास का भी संकेत करते हैं।

तृतीय अध्याय में कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र, मनुस्मृति, महाभारत एवं रामायण, पतंजलि के महाभाष्य, बौद्ध तथा जैन सामग्री के आधार पर तत्कालीन संगीत का निर्धारण किया गया है। संगीत को समाज में किन-किन दृष्टिकोणों से देखा गया, किन-किन क्षेत्रों में उसका उपयोग रहा, संगीत कला को विभिन्न मूर्त्तिकलाओं एवं मुद्राओं में किस रूप में स्थान मिला, संगीत को राज्य का प्रश्रय किस रूप में प्राप्त हुआ तथा संगीत के शास्त्रीय पक्ष में क्या-क्या विकास हुए यह इस अध्याय की संक्षिप्त विषय वस्तु है।

अध्याय चतुर्थ में संगीत के शास्त्रीय पक्ष के विस्तृत विकास का विवरण है। इस काल में भरतकृत नाट्यशास्त्र का स्वतंत्र विवेचन किया

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

गया है। इसी अध्याय के अन्य खण्डों में तमिल महाकाव्य, बौद्ध ग्रन्थ, वात्स्यायन का कामसूत्र तथा याज्ञवल्क्य स्मृति के संगीत का भी विवेचन प्रस्तुत है। भरत द्वारा कहे गये सिद्धांतों के व्यावहारिक प्रयोग के संकेत रूप में इनका महत्वपूर्ण स्थान है।

अन्तिम अध्याय पंचम में गुप्तकालीन संगीत विवेचित है। इस काल का प्रमुख महत्वपूर्ण ग्रन्थ मतंग का बृहद्देशी है। इसके अतिरिक्त कुछ जैन सूत्र एवं कालिदास शूद्रक एवं भास के नाटक आदि हैं जो इस काल के संगीत के शास्त्रीय एवं व्यावहारिक दोनों पक्षों की सबलता का दिग्दर्शन कराते है। संगीत का समाज एवं संस्कृति में इस काल तक कैसा स्थान रहा, यह विषय भी यहीं विवेचित है।

गुप्त काल के साहित्य में कतिपय पुराणों का प्रमुख स्थान है किन्तु दो कारणों से प्रस्तुत पुस्तक के मुख्य अध्याय में पुराणों से प्राप्त सामग्री का समावेश नहीं किया गया एक तो विभिन्न पुराणों के काल निर्णय में अत्यधिक मतभेद हैं दूसरे यह कि उनमें प्राप्त सामग्री कुछ ऐसी नहीं जो अन्यत्र दुष्प्राप्य हो अतः पुस्तक के कलेवर की वृद्धि के भय से तथा भरतनाट्यशास्त्र के विषयों की पुनरावृत्ति से बचने के लिये भी पुराणों का परित्याग अनुचित नहीं प्रतीत हुआ है।

प्रस्तुत पुस्तक के उपसंहार में संपूर्ण पुस्तक का सारांश संक्षेप में दे दिया गया है।

इस प्रकार इस पुस्तक में वैदिक काल से लेकर गुप्त काल तक के संगीत का शास्त्रीय एवं व्यावहारिक स्वरूप, क्रमबद्ध रूप से प्रस्तुत किया गया है।

आज के हमारे संगीत शास्त्र में स्वर, श्रुति, ग्राम, मूर्च्छना, राग, ताल, प्रबंध इत्यादि जो प्रमुख विषय हैं उनका प्रभूत विकास गुप्त काल तक हो चुका था। यह इस पुस्तक से स्पष्ट होगा, साथ ही संगीत के विभिन्न स्तरों यथा धार्मिक तथा लौकिक का भी यथास्थान विवेचन करने का प्रयास किया गया है।

———

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रथम अध्याय

वैदिक काल का संगीत

वैदिक साहित्य में अन्य कलाओं के साथ-साथ संगीत कला के भी प्रचुर उल्लेख यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं। वेद संगीत संबंधी साहित्य नहीं है, अतः इस साहित्य को उस वर्ग की साहित्यिक सामग्री के अन्तर्गत रखा जाता है, जो संगीत का यत्र-तत्र स्फुट उल्लेख मात्र करती है। इन्हीं उल्लेखों के आधार पर संगीत कला के प्रारंभिक इतिहास का एक अस्फुट रेखाचित्र किसी प्रकार निर्मित किया जा सकता है।

गायन के लिये इस साहित्य में "गीत" संज्ञा मिलती है। गायन, वादन एवं नृत्य के भी स्फुटोल्लेख मिलते हैं।[1] संगीत कला के अन्तर्गत परवर्ती संगीत परम्परा में उपर्युक्त तीनों ही तत्त्व परिगणित किये गये हैं।[2]

गायन का प्रतिनिधित्व "साम गायन" करता है जो वैदिक काल के गायन का संकेत करता है एवं इस काल में साम गायन का ही सर्वाधिक प्रचार था। यज्ञ आदि अवसरों पर साम गायन बहुधा आवश्यक माना जाता था। साम का छन्दोबद्ध गीतों से गायन होता था।[3] साम को विभिन्न स्तोभों द्वारा गाया जाता था। इन स्तोभों को

१—जैं० उ० ब्रा० १. १६. ९–१०, छां. उप० ८. २. ८

२—सं० र० १. १. २१—गीतं वाद्यं तथा नृत्तं त्रयं संगीतमुच्यते ॥

३—ऋ० वे० १०. ४३. १–३। जैं० ४४ प्रदक्षिणद्भिः गृणन्ति कारवोवयो वदन्त ऋतुथा शकुन्तयः उभे। वाचो वदति सामगा इव गायत्रं च त्रैष्टुभं चानुराजति। उद्गातेव शकुने साम गायसि ब्रह्मपुत्र इव सवनेषु शंससि वृषेव वाजी शिशुमतीरपीत्या सर्वतो नः शकुने भद्रता वद विश्वतो नः शकुने पुण्यमा वद ॥,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वैदिक गायन का अलंकार कहा गया है।[1] स्तोभों से युक्त एवं रहित दोनों प्रकार से साम गाया जाता था।[2] साम का गायक उद्गाता कहलाता था। जो उद्गाता छन्दोबद्ध साम का गायन करता था वह श्रोताओं का मन अनुरंजित करने के साथ ही उनसे सम्मान भी प्राप्त करता था। इससे यह निष्कर्ष निकालना भ्रामक न होगा कि संभवतः गीतों की रचना तथा उनके गायन में नियमबद्धता, उच्चारण-शुद्धता, रंजकता इत्यादि पर पर्याप्त ध्यान दिया जाता था।

जैसा कहा जा चुका है साम का गायन विशेषतया यज्ञ के ही अवसरों पर होता था।[3] साम के कई प्रकार प्रचलित थे जिनमें "वर्षा-हार" साम भी एक प्रचलित प्रकार था।[4] साम गायन स्तुति रूप में भी होता था जैसे सूर्य, अग्नि की स्तुति साम स्तोत्रों द्वारा की जाती थी। ऐसी मान्यता थी कि नियमपूर्वक गाये गये साम द्वारा यज्ञ में जब किसी देव विशेष की स्तुति की जाती थी तो उससे देव प्रसन्न हो जाते थे। दूसरे शब्दों में, साम गायन में दैवी शक्ति का निवास माना जाता था।[5] यज्ञ समाप्ति भी साम गायन के साथ होती थी। इस

१—जैं० ब्रा० ४०२ स्तोभा ह वा आसाम अलंकाराः ता ह अलंकुर्वन्निव शोभयन्निव गायते ॥

२—जैं० ब्रा० ४८, ५२, ५९।

३—अथ० सं० १२. १. ३८ यस्त्रां सदौहविर्धाने यूपो यस्यां निमीयते। ब्रह्माणो यस्यामर्चन्त्यृग्भिः साम्ना यजुर्वेदः युज्यन्ते यस्यामृत्विजः सौममिंद्राय पातवे ॥ छां० उ० १. ७. १–९

४—बृहत्, रथन्तर, वैराज, वर्षाहार साम आदि ॥ ऋ० १०. ९०. ९, यजु० १५. १३, १८. २९, १३. ५४–५८, अथ १०. ७. २०, ११. ३ १५–१६ श० ब्रा० १४. ३. १. २६ ज्ञोऽथाह व्वर्षाहर सामगायेति। एष वै वृषा हरिर्य्यऽएष तपत्येषऽउप्रवर्ग्यंस्तदेतमेवैतत्प्रीणाति तस्मादाह व्वर्षाहार साम गायेति ॥

५—अथ सं० १५. ६ ८–११, ९. १०. २, १०. ७. २०। श० ब्रा० १४. ३. १. १०–१२ अथाय सामगायेति। साम ब्रूहीति वा गायेति त्वेव ब्रूयाद् गायन्ति हि साम तद्यत्साम गायति नेदिमान्वहिर्द्धा यज्ञाच्छरीरान्नाष्ट्रा रक्षासि हि न सन्निति साम हि······अग्निय्याङ्गायति। अग्निर्हि रक्षसामवहन्ताऽति-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रकार वैदिक काल में साम गायन पर्याप्त प्रचलित था। कण्ठ संगीत के समकक्ष इसे माना जा सकता है। केवल कण्ठ संगीत का अर्थात् बिना किसी स्वर वाद्य की संगति के किया गया "साम" श्रेष्ठ समझा जाता था।[१] धार्मिक अवसरों यथा-यज्ञ, धार्मिक संस्कारादि से संबंधित होने के कारण यह संगीत लौकिक गायन के अन्तर्गत नहीं आ सकता। ऋग्वेद में साम की उत्पत्ति पुरुष प्रजापति से मानी गयी है—यह साम की दिव्योत्पत्ति का प्राथमिक उल्लेख है।[२]

गायन संबंधी सूचना कुछ अन्य उल्लेखों से भी मिलती है। वादन की संगति के साथ भी गायन होता था। जैसा आज भी विपुल प्रचार है कि गायन के साथ स्वर एवं ताल दोनों की संगतिवाले संगति वाद्यों यथा तंत्री, (तत) सुषिर एवं अवनद्ध वाद्यों का वादन होता है।[३] सोम स्तुति के अवसर पर यज्ञगृह में बाण नामक वाद्य के साथ तदनुरूप गायन होता था।[४] यज्ञों के अवसर पर उद्गाताओं की पत्नियाँ भी गायन की संगति विभिन्न वीणाओं द्वारा करती थीं।[५] "वीणागाथी" संज्ञा जो वैदिक साहित्य में अनेक स्थलों पर प्रयुक्त की गई है वह भी वीणा नामक वाद्य के साथ गायन करनेवाले के लिये की गई है।[६] वीणावादन ब्राह्मण एवं क्षत्रिय दोनों करते थे। इतना ही नहीं यज्ञ के अवसर पर वीणागाथी ब्राह्मण एवं क्षत्रिय दोनों की उपस्थिति आवश्यक मानी गई थी, अन्यथा स्पष्ट कहा गया था कि यदि दोनों में से किसी

च्छन्दसि गायत्येषा वै सर्व्वाणि च्छन्दांसि यदतिच्छन्दस्तस्मादतिच्छन्दसि······ तद्रक्षा स्पतोऽवहन्ति।

१—जै० ब्रा० १८६ यद् वीणायाम् गीयते यत् नृत्यते यद् वृथाचरति सा मृत्योः सेनास।

२—ऋ० वे० १०.९०-९।

३—ऋ० वे० ९-९७-८ प्र हंसासस्तृपलं मन्युमच्छामादस्तं वृषगणा अयासुः। आङ्गूष्यं पवमानं सखायो दुर्मर्षं साकं प्रवदन्ति वाणम्। जै० ब्रा० ६०, १७४, १८४, १८६ छा० उप० १. ७. ६ वीणायां गायन्ति।

४—ऋ० वही०।

५—पं० वि० ब्रा० ५. ६. ८।

६—तै० ब्रा० ३. ९. १४; १. २. ३ जै० उ० ब्रा० १. १८. ३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एक का गायन होगा तो क्रमशः क्षत्र एवं ब्रह्म उनसे दूर चला जायेगा ।[१] यह अवश्य द्रष्टव्य है कि यद्यपि गायन दोनों ही वर्ग करते थे तथापि उनकी विषय-वस्तु भिन्न-भिन्न होती थी ।[२]

ब्राह्मण एवं क्षत्रिय स्वरचित गायन भी यज्ञ-अवसर पर गाते थे ।[३] स्वरचित रचनाएं आज भी प्रचार में देखी जा सकती है । राज्य का संगीतकार राजा के विषय में गीत बना कर प्रस्तुत करता था । मध्य युग में ऐसे कई दरबारी गायकों को देखा जा सकता है ।

गायक अथवा वीणागाथी 'उत्तरमन्द्रा' नामक मूर्च्छना अथवा गायन की एक विशेष अन्तराल-योजना (स्वरावली) द्वारा स्वरचित गायन करता था ।[४]

गायनकी विषयवस्तु पर भी वैदिक साहित्य अल्प सा प्रकाश डालता है । जब ब्राह्मण गायक यज्ञकर्त्ताकी प्रशस्तिका गायन करता था तब उसकी रचना की विषय वस्तु यज्ञ एवं दानादि से संबंधित होती थी ।[५] इसके विपरीत जब क्षत्रिय गायक गायन करता था तो उसकी रचना की विषय वस्तु यज्ञकर्त्ता की युद्ध एवं विजय संबंधी सफलताओं से संबंधित होती थी ।[६]

उक्त अंशों से इस बात का भी संकेत मिलता है कि वीणागाथी ब्राह्मण समूह गायन वादन भी करता था एवं प्रशस्ति गायन भो । "वीणागणगिन"

१—श० ब्रा० १३. १. ५, १ '

२—वही० २. ३. ४. ५ ।

३—वही० ।

४—श० ब्रा० १३. ४. २. ८–११–१४ तस्यै प्रयाजेषु गायमानेषु ब्राह्मणो वीणागाथी दक्षिणतऽउत्तरमंद्रामुदाघ्नंस्तित्रः स्वयं सम्भृता गाथा गायतीत्ययजतेत्यददादिति तस्योक्तं ब्राह्मणम् ।

५—श० ब्रा० १४. ४. ३. ३ ।

६—श० ब्रा० १३. ४. ३. ५ राजन्य वीणागाथी दक्षिणतऽउत्तरमंद्रा मुदाघ्नंस्तिस्त्रः स्वयं संभृता गाथा—गायन्तीत्यं युद्धयतेत्यमुं संग्राममजयदिति तस्योक्तम्ब्राह्मणम् ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
संज्ञा की सायणाचार्य एवं एगेलिंग ने जिस प्रकार व्याख्या की है उससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उस काल में भी गुरु-शिष्यपरंपरा प्रचलित थी एवं आचार्य वीणावादन की समुचित शिक्षा दिया करते थे। इस प्रकार गायन एवं वादन का साथ-साथ तथा अलग-अलग भी प्रचार था। आज भी प्रचार में वादन की संगति देखी जा सकती है।

वैदिक साहित्य में साम संगीत के अतिरिक्त कुछ अन्य भी उल्लेख प्राप्त होते हैं जिन्हें साम गायन के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। इस प्रकार के गायन के अन्तर्गत गाथा, नाराशंसी उक्थआदि का उल्लेख आता है जो प्रशस्ति गायन के अनुरूप थे। ऋग्वेद के दशम मण्डल में एक उल्लेख आता है[१] जहां गाथा एवं नाराशंसी का रचना (Composition) के एक एक अंग के रूप में प्रयोग हुआ है, यद्यपि अन्य स्थानों में ये दोनों सामान्य अर्थ में गायन के ही वाचक हैं।[२] गाथा एवं नाराशंसी वैदिक यज्ञों के इतने अभिन्न अंग बन चुके थे कि उनका गायन बड़े बड़े महत्वपूर्ण यज्ञों में होता था।[३] अश्वमेध यज्ञ के दिन जब घोड़े को छोड़ा जाता था, "वीणागणगिन" गाथा का गायन करते थे। ये गाथा उनकी स्वयं रचित होती थीं जिनकी विषयवस्तु राजा की प्रशस्ति होती थी। इसका उल्लेख ऊपर भी गायन-वादन के साथ देखा जा चुका है। अतः यह सिद्ध हो जाता है कि ब्राह्मण एवं क्षत्रिय जो गाथा गाते थे वह प्रशस्तियाँ ही होती थीं।[४] गाथा एवं नाराशंसी के उद्धरण अन्य उल्लेखों में भी प्राप्त होते हैं जहां उनका संबंध अश्वमेध एवं अन्य यज्ञों के साथ मिलता है।[५]

राजाओं की गाथा के अतिरिक्त देवताओं की गाथाओं के स्वरूप

१—ऋ० वे० १०. ८५. ६।

२—वैदिक इण्डेक्स आफ नेम्स एण्ड सब्जेक्ट्स।

३—श० ब्रा० १३. २. २. १; वाज० सं० २२ कण्डिका।

४—श० ब्रा० १३. ४. ३. ५; १४. ४. ३. ३; १३. ४. २. ८–११–१४।

५—वही० १३. ५ ४.१–२; ऐ० ब्रा० ८. २१–२३ श० ब्रा० १३. ५. ४. ७–८–११।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भी वैदिक साहित्य में प्राप्त होते हैं जहाँ इन्द्र के सम्मान में गाथाओं का उल्लेख आया है।[1]

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकालना अस्वाभाविक न होगा कि वैदिक काल में संगीत की स्पष्ट ही दो धाराए प्रचलित थीं। प्रथम साम संगीत एवं द्वितीय सामेतर, जिसके अन्तर्गत गाथा, नाराशंसी इत्यादि को रखा जा सकता है।

साम गायन पूर्णत: धार्मिक प्रतीत होता है, उसकी विषय वस्तु देवस्तुति संबंधी ऋचाएँ थीं, जब कि सामेतर संगीत की विषय वस्तु सामान्यत: प्रशस्तियाँ प्रतीत होती हैं। यह संगीत जन साधारण के कुछ निकट का प्रतीत होता है, यद्यपि इसे भी लौकिक संगीत नहीं माना जा सकता।

सूत संज्ञा संभवत: संगीतकारों के इसी वर्ग के लिये प्रयुक्त की गई प्रतीत होती है जहाँ इन्हें पुरुषमेध यज्ञ के बलि-प्राणियों की तालिका के अन्तर्गत रखा गया है। गायक वर्ग का समाज में महत्व-पूर्ण स्थान था। यही कारण था कि यज्ञ जैसे महत्वपूर्ण अंग में इन्हें भी समाविष्ट किया गया।[2] वाजसनेयि-संहिता में 'सूत' संज्ञा नृत्य करने वाले तथा "शैलूष" गायक के लिये प्रयुक्त की गयी है, परन्तु तैत्तिरीय ब्राह्मण में इसके विपरीत गायक के लिये "सूत" एवं नट नर्तकादि के लिये "शैलूष" का प्रयोग हुआ है। यही उचित भी प्रतीत होता है क्योंकि संस्कृत साहित्य में "शैलूष" सर्वदा नटों व नर्तकों के लिये ही प्रयुक्त किया गया है। उनका गायक के साथ कोई संबंध कहीं नहीं प्राप्त होता।

वादन—वादन संगीत का महत्त्वपूर्ण द्वितीय अंग समझा जा सकता है। वादन के अन्तर्गत सर्वप्रथम वाद्यों का विवेचन आता है। भरत एवं अन्य आचार्यों ने शास्त्रीय विवेचन में चार प्रकार के वाद्यों—तत, सुषिर, घन एवं अवनद्ध का उल्लेख किया है। किसी भी देश में

१—अथ० वे० २०.१२८; १२. १६।

२—वाज० सं ३०. ६; तै० ब्रा० ३. ४. २. १।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चार ही प्रमुख प्रकार के वाद्य संभव हो सकते हैं। इन्हीं के परस्पर मिश्रण से अन्य प्रकार भेद बने। वैदिक काल में यह विभाजन तो अवश्य ही नहीं मिलता, किन्तु इन चारों प्रकार के वाद्यों का उल्लेख मिल जाता है।

वैदिक काल के तंत्री वाद्य—वीणा इस वर्ग का प्रमुख वाद्य है। इसके अनेक उल्लेख वैदिक साहित्य में यत्र तत्र मिलते हैं। संभवतः यह इस काल के लोकप्रिय सर्वाधिक प्रचलित वाद्यों में से थी। वीणा का सामान्य उल्लेख भी मिलता है।[१]

वीणा के विषय में ऐतरेय आरण्यक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूचना प्रदान करता है। यहाँ मानुषी (मनुष्यकृत) वीणा की तुलना दैवी वीणा से की गई है। जिस प्रकार दैवी वीणा (देवकृत मनुष्य शरीर) शिर, उदर, जिह्वा, अंगुली, स्वर, स्पर्श एवं शब्दादि से युक्त होती है, उसी प्रकार इसके अनुकरण पर बनी मानुषी (मनुष्यकृत) वीणा भी उक्त अंगों से युक्त होती है अर्थात् यह भी शिर, दण्ड, स्वर, तंत्री, शब्द से युक्त एवं चर्म से मढ़ी होती है।[२] सायण ने इस अंश की स्पष्ट व्याख्या की है जिससे वीणा का मूर्त्त स्वरूप नेत्रों के सम्मुख आ जाता है।

वैदिक काल में वीणाओं की भिन्न-भिन्न संज्ञाएँ उसके अनेक प्रकारों की सत्ता की संकेतक समझी जा सकती हैं। बाण[३] वीणा[४]

१—बृह० उप०—२. ४. ६; ४. ५. ६; ४ ५.७—८।

२—ऐ० आ० ३. २. ५ अथ खल्वियं दैवी वीणा भवति तदनुकृतिरसौ मानुषी वीणा भवति। यथास्याः शिर एवममुष्याः शिरो यथास्या उदरमेव-ममुष्या अंभण यथास्यै जिह्वैवममुष्यै वादनं यथास्यास्तन्त्रय एवममुष्या अंगुलयो यथास्याः स्वरा एवममुष्याः स्वरा यथास्या स्पर्शा एवममुष्याः स्पर्शा यथाह्येवेयं शब्दवती तर्द्मवते त्वचमसो शब्दवती तर्द्मवती यथा ह्येवेयं लोमशेन चर्मणा-पिहिता भवत्येवमसौ लोमशेन चर्मणाऽपिहिता लोमशेन ह स्म वै चर्मणा पुरा वीणा अपिदधति।

३—ऋ० वे० ८. २० ८; ९. ९७. ८; १०. ३२. ४; पं० वि० ब्रा० ४.६. १२; १४. ७. ८; तै० सं० ७.५. ९; ऐ० आर० ५. १. २; काठ० सं० ३४. ५।

४—वाज० सं० ३०. १९—२० काठ० सं० ३४. ५; मैत्रा० सं० ३. ६. ८;

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कर्करि[1] काण्डवीणा[2], अपघाटिला,[3] गोधा वीणा[4] आदि कुछ ऐसी ही संज्ञाएँ हैं। "बाण" नामक तंत्री वाद्य वैदिक काल का सर्वाधिक प्रचलित एवं महत्त्वपूर्ण प्रकार था जो उसकी व्याख्या में प्रयुक्त "महा-वीणा" संज्ञा से भी स्पष्ट हो जाता है।[5] इस वीणा की विशेषता उसमें लगे १०० तारों के कारण थी जिसकी तुलना पुरुष की सौ वर्ष की आयु से की गई है।[6] महाव्रत यज्ञ के अवसर पर इस वीणा का वादन इसके धार्मिक महत्त्व का भी संकेतक है।[7] सोमस्तुति के समय ऋषि-गण इसी बाण नामक वाद्य का वादन करते एवं साथ ही गायन भी करते थे।[8] "बाण" नामक वाद्य का वादन सप्त स्वरों द्वारा होता था। इसकी पुष्टि विश्वदेव की स्तुति के अवसर पर बजनेवाले "बाण" के उल्लेख से हो जाती है।[9] सप्तस्वर संबंधी विवेचन इसी अध्याय में आगे किया जायगा।

इस वीणा के स्वरों का वादन सप्त छन्दों द्वारा करने का विधान मिलता है। अवश्य ही ये सप्त छन्द संगीत के सप्त स्वरों से कुछ न कुछ संबंध रखते होंगे। इसमें स्वरों का आरोही रीति से क्रमशः नीचे से ऊपर के स्वरों का वादन होता था।[10] स्थानों का उल्लेख संभवतः मंद्र

तै० सं० ६. १. ४. २५; पं० वि० ब्रा० ६. ५. १३; तै० ब्रा० ३. ४.१५; ३. ४. १३; ३. ९. १४; ऐ० आ० ५. १. २; ३. २. ५. जै० ब्रा० १.४२

१—ऋ० वे० २. ४३. ३; अथ० वे० सं० ४. ३७. ५।

२—काठ० सं० ३४. ५।

३—पं० वि० ब्रा० ५. ६. ८।

४—ऋ० वे० ८. ६९. ९।

५—पं० वि० ब्रा० ५-६. १२ देखिये सायणभाष्य।

६—वही० ५. ६. १३।

७—वही०

८—ऋ० वे० ९. ९७. ८।

९—ऋ० वे० १०. ३२. ४।

१०—ऐत० आर० ५.१.२ कीथ की व्याख्या देखिये—"निष्ठिते प्रेंखे होता बाणमौ-दुम्बरशततन्तुमुभाभ्यां परिगृह्योत्तरत उपोहते यथा वीणाम्। सप्तभिश्छन्दो-भिश्चतुरुत्तरैः स्थानान्यस्योर्ध्वमुद्गृहलीयाद्दशभिर्वा। गायत्रेणत्वा छन्दसोद्गृहा-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मध्य एवं तार[1] से हो सकता है। पंचविंश ब्राह्मण में भी एक स्थान पर त्रिस्थान का उल्लेख मिलता है।[2] उदुम्बर की लकड़ी द्वारा निर्मित उक्त शततंत्री वीणा को साधारण वाद्य नहीं माना जाता था, इसे रहस्यमय वाद्य माना था जिसमें दैवी शक्ति निहित होती थी।[3]

उपर्युक्त शततंत्री बाण का अवशेष आज भी सौ तारोंवाले प्रचलित काश्मीरी वाद्य शन्तूर, दक्षिण भारतीय याल, एवं कात्यायनी वीणा के रूप में देख सकते हैं। कलकत्ता संग्रहालय में कात्यायनी वीणा का उदाहरण मिलता है जो सौ तारों से युक्त है। इसे देखकर हम बाण की कुछ कल्पना कर सकते हैं।[4] जैसा कि आज भी प्रचलित वीणाएँ लकड़ी से बनाई जाती है, तार लगे होते हैं एवं वादन क्रमशः नीचे की ओर से ऊपर (दण्ड के ऊपर से नीचे तुम्बी तक) स्वरों के आरोही क्रम में वैदिक काल में भी होता था। वीणा वादन की कई विधियाँ आज भी प्रचलित हैं। यथा—लकड़ी की पतली सी शाखाओं द्वारा, शीशे के गोले द्वारा इत्यादि, इसी प्रकार वैदिक काल में भी कुछ प्रकार प्रचलित थे। "बाण" नामक वीणा का वादन संभवतः आज के शन्तूर की भाँति लकड़ी की शाखा द्वारा होता था। यज्ञ के अवसर पर इसका वादन गायन के साथ अथवा स्वतंत्र भी होता था। "साम" गायक भी इसे बजाते थे। यह वाद्य इस प्रकार प्रत्येक अवसर पर बजने वाला महत्त्वपूर्ण वाद्य था।[5]

बाण के अतिरिक्त अन्य वीणाओंके उल्लेख भी वैदिक साहित्यमें यत्र तत्र देखे जा सकते हैं। इन वीणाओंके विषयमें यद्यपि कोई स्पष्ट धारणा नहीं बनाई जा सकती क्योंकि इनका स्वरूप अस्पष्ट सा है,

---

म्यौष्णिहेन त्वानुष्टुभेन त्वा बार्हतेन त्वा प्राङ्क्तेन त्वा त्रैष्टुभेन त्वा जागतेन त्वा वैराजेन त्वा द्वैपदेन त्वातिछन्दसा त्वेति। छन्दांस्यनुक्रम्य स्थानानामनुपरिक्रमणमौदुम्बर्यार्द्रया शाखया सपलाशया मूलदेशेन वाणं त्रिरूर्ध्वंमुल्लिखति।

१—इस विषय में "रामायण का संगीत" देखिये।

२—पं० वि० ब्रा० ७. १. ७

३—पं० वि० ब्रा० ५. ६. १४—देखिये सायणभाष्य

४—देखिये फलक (१) चित्र संख्या (२)

५—ऐत० आर० ५. १. ३

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तथापि उनके नामों के आधार पर एवं परवर्त्ती वीणाओं के प्रकाश में कुछ धारणा अवश्य बनाने का प्रयत्न कर सकते हैं। कर्करिवीणा एवं काण्ड वीणा आदि प्रकार संभवत: तंत्री संख्या, आकार, वादन-विधि, निर्माणतत्त्वादि भेदोंके आधार पर बनाये जाते होंगे। कर्करी एक ऐसा फल है जो पानी में होता है तथा इसकी पेंदी में छिद्र होता है। "संभवत: इसीसे बनी वीणा कर्करि वीणा कहलाती थी" एवं "काण्ड" को शर का संकेतक माना जा सकता है। जैसा आज की वीणाओंमें "अलाबु" (लौकी का तुम्बा) का प्रयोग होता है, संभवतः उक्त वस्तुओं का भी होता होगा।[1] अप-घाटिला वीणा एक ऐसा प्रकार है जिसके विषय में विद्वानों में मत-भेद है। प्रो० कैलेण्ड ने इसकी मुख से बजाई जानेवाली वीणा के रूप में व्याख्या की है। इस विषयमें प्रमाणाभाव के कारण हम निश्चित कुछ नहीं कह सकते। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि यह भी वीणाओं का विशेष प्रकार था जिसका वादन यज्ञ के अवसर पर गायकोंकी पत्नियां भी करती थीं।

जिस प्रकार गायकों का उसी प्रकार वादकों का भी उल्लेख मिलता है। महाव्रत तथा अन्य प्रमुख यज्ञों में न केवल वीणागाथी एवं वीणा-गणगिन ही, वरन् यजमानों की पत्नियाँ भी वीणा वादन करती थीं।[2]

उक्त उल्लेख समूह वादन की भी सूचना प्रदान करता है। वीणा वादकों का एक विशेष वर्ग बन गया प्रतीत होता है क्योंकि पुरुषमेध यज्ञ के बलि प्राणियों की तालिका में वीणा वादकों का उल्लेख किया गया है।[3] वही वीणावादक पुरुषमेध यज्ञ की बलिके योग्य होता था

१—लाट्यायन श्रौ० सू० शांखा० श्रौ० सू० अनुवाद प्रो० कैलेण्ड

२—पं० विं० बा,० ५.८६. तं पत्न्योऽपघाटिलाभिरूप गायन्त्यत्विंज्यमेव तत्पत्न्यः कुर्वन्ति सह स्वर्गल्लोकमयामेति।

३—तै० ब्रा० ३.४. १३–१५ महसे वीणा वादनं···॥ वीणावादं गणकं गीताय:··· । वाज० सं० ३०.१९–२० महसे वीणा वादं क्रोशाय तूणवध्ममव-रस्पराय शंखध्मं वनाय वनपमन्यतोऽरण्याय दावपम् ॥···नर्माय पुँश्चलूं हसाय कारिं यादसे शाबल्यां ग्रामण्यं गणकमभिक्रोशकं तान्महसे वीणावादं पाणिघ्नं तूणवध्मं तान्नृत्तायानन्दाय तलवम्।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जो वीणा का वादन कुशलता से कर सके। श्रुति, जाति, स्वरमण्डलादि का उपयोग कुशलता से कर सके अर्थात् वादन के तत्वों में पूर्णतः कुशल हो।[१] वादन के मुख्य अंग, प्रत्यंगों का शास्त्रीय विवेचन भरत ने अपने ग्रन्थ में किया है।[२] यहां भी संभवतः वादन की उतनी विकसित तो नहीं, किन्तु कुछ न कुछ अवश्य ही विशिष्ट पद्धति रही ही होगी जिसका उल्लेख संभवतः संगीतका स्वतंत्र ग्रंथ नहीं होने के कारण प्राप्त नहीं होता।

वैदिक काल के अनवद्ध वाद्य—इस वर्ग के अन्तर्गत सर्वाधिक प्रचलित वाद्य दुन्दुभि[3], भूमिदुन्दुभि[४] था। ये ढोल वर्ग के चर्म से मढ़े वाद्य थे। दुन्दुभि वह ढोल प्रकार है जिसे काष्ठ पर चर्म को मढ़कर बनाते थे एवं भूमिदुन्दुभि, जैसा नाम से संकेत मिलता है, भूमि में गढ़ा खोदकर उसपर चर्म को मढ़कर बनाया जाता था। यह चर्म रोमयुक्त एवं वृषभ का होना चाहिये[५]। दुन्दुभि के काष्ठ निर्मित होने का संकेत दुन्दुभि के ही उल्लेखोंके संदर्भ में मिल जाता है, जहाँ यह कहा गया है कि वाणी देवताओं के पास से वनस्पतियों में प्रविष्ट हो गई एवं वनस्पतियों ने उसे चार प्रकारों में विभाजित

१—तै० ब्रा० ३. ४ १३–१५ सायणभाष्य।

२—अध्याय चतुर्थ का वादन संबंधी अंश देखिये।

३–४ ऋ० वे० ६. ४७. २६–३०–३१; वाज० सं० १६. ३५; २६. ५५–५६–५७ काठ० सं० १४. ७; १७. १४; ३४. ५; २३. ४; मैत्रा० सं० ३–६. ८; तै० सं० ६१. ४. २५; बृह० उप० २. ४- ६–७ : श० ब्रा० ३-४-७-१६; ५-१. ५–६–७; पं० वि० ब्रा० ६. ५.१३; ५-५.१८; तै० ब्रा० १.३.६ १–२; ३-४.१३; काठ० सं० ३४.५; पं० वि० ब्रा० ५-५-१६; तै० सं० ७-५-१०–११–१२।

५—पं० वि० ब्रा० ५. ५. १६ भूमिदुन्दुभिर्भवति या पृथिव्यां व्वात्कामेव तज्जयन्ति। देखिये सायणभाष्य–"आग्नीध्रीयस्य पश्चादर्द्धमन्तर्वेद्यर्द्धं बहिर्वेदि भूमाववटं खात्वा सवनीयस्य वृषभचर्म्मणापिदधाति स भूमिदुन्दुभिर्भवति तां "वादयन्ती"ति शेषः स्पष्टमन्यत्।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कर दिया यथा—दुन्दुभि, वीणा, भेरी एवं वेणु।[1] काष्ठनिर्मित अन्य वाद्यों में वीणा में तंत्रियों की, दुन्दुभि में चर्म एवं भूमिदुन्दुभि में भूमिवट को विशेषता रहती है। "वेणु" स्वयं ही "बांस" का संकेतक है। आज तो काष्ठ के स्थान पर धातु प्रयोग भी प्रचलित हो गया है। भूमि दुन्दुभि की रचना दुन्दुभि पर भी स्वतः प्रकाश डालती है। भूमि-दुन्दुभि का वादन बैल की पूंछ द्वारा ही होता था। यह पूंछ उस पर मढ़े चमड़े के साथ ही रहती थी। दुन्दुभि का वादन दण्ड से किया जाता था। यह दण्ड "आहनन" कहलाता था।[2]

दुन्दुभि एवं भूमि-दुन्दुभि का वैदिक काल में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था। वीरों को उत्साहित करने के लिये दुन्दुभि का प्रयोग होता था।[3] इतना ही नहीं विजय प्राप्ति के हेतु स्वयं दुन्दुभि की भी स्तुति की गई है। इसे शक्ति का प्रतीक माना गया था। यथा—ऐ दुन्दुभि! तू कल्याणकारी संग्राम विजित करनेवाली है, तू शत्रुधन को अपने अधीन करके नाच, तू बलवान प्राणियों के समान आचरण कर, तू वनस्पतियों से निर्मित है, एवं तीव्र ध्वनि करनेवाली है, तू चारों ओर ऐसा शब्द करती हुई शत्रु का दमन कर और सिंह के समान जीतने की इच्छा करके चारों ओर से गरजती रह।[4]

दुन्दुभि न केवल रणवाद्य थी, वरन् उसका यज्ञ जैसे धार्मिक कृत्यों में भी उपयोग अभिप्रेत था। सामगायन के साथ दुन्दुभि का वादन होता था। यज्ञवेदी के चारों कोनों पर कभी कभी दिशाविशेष में भी इसे प्रस्थापित किया जाता था। वाजपेय यज्ञ में जब साम का तीन बार ब्राह्मण गायन करता था तो वेदी के समीप बंधी १७

१—पं० वि० ब्रा० ६. ५.१३ ता ब्वँनस्पतयश्चतुर्द्धा व्वाचव्विन्यदधुर्दुन्दुभौ…।

२—वाज० सं० १६.३५ नमो बिल्मिने च कवचिने च नमो वर्मिणे च वरूथिने च नमः श्रुताय च श्रुतसेनाय च नमो दुन्दुभ्याय चाहनन्याय च।

३—ऋ० वे० ६. ४७. २९-३०-३१, वाज० सं० २९ ५५-६-७
आमूरज प्रत्यावर्त्तयेमाः केतुमद्दुन्दुभिर्वावदीति।
समश्वपर्णाश्चरन्ति नो नरोऽस्माकमिन्द्र रथिनो जयन्तु ॥३१॥

४—अथ० सं० ५. २०. १० (१-१० तक), ५. २१ १--१०,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दुन्दुभियाँ बजाई जाती थीं।[1] महाव्रत यज्ञ के अवसर पर भी भूमि दुन्दुभि का वादन होता था।[2] इस प्रकार दुन्दुभि या नगाड़े का वैदिक साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान था।

इस वर्ग के कुछ अन्य वाद्यों का भी वैदिक साहित्य में उल्लेख मिलता है यथा-पणव। यह भी चर्म से मढ़कर बनाया जाता है। इसको सायण मृदंग का एक प्रकार मानते हैं।[3] इस वाद्य को भरत ने पुष्कर वाद्यों का प्रमुख अंग माना है।[4] "पणव" का बौद्ध एवं परवर्त्ती ब्राह्मण साहित्य में बहुतायत से उल्लेख किया गया है।[5]

सुषिर वाद्य—सुषिर वाद्यों के अन्तर्गत वेणु, का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पूर्व वैदिक काल में "वेणु," बहुधा बांस के लिये प्रयुक्त किया गया था, किन्तु जैसा सर्वविदित ही है, "वंशी" वेणु द्वारा ही निर्मित होती है, आगे चलकर वंशी का तादात्म्य वेणु से हो गया। वैदिक साहित्य में वंशी वाद्य के लिये बहुधा "तूणव"[6] संज्ञा बहुतायत से प्रयुक्त की गई है। "नाड़ी" भी इसी "वंशी" वाद्य का पर्याय था जिसका अर्थ नरकट की बनी वेणु से था। यमराज को प्रसन्न करने के लिये "नाली"[7] की वादन किया गया था। सायण ने व्याख्या में

१—तै० ब्रा० १. ३–६ १–२, श० ब्रा० ५. १ ४–५–६–७ त्रिः सामभिगायति······अथ सप्तदशदुन्दुभीननुवेद्यन्त सामिन्वति। प्रतीच आग्नीध्रात्प्रजापतिर्वा एष उज्जयति यो वाजपेयेन यजते वाग्वै प्रजापतिरेषा वै परमा वाग्या सप्तदशानां दुन्दुभीनां परमामेवैतद्वाचं परमं प्रजापतिमज्जयति सप्तदश भवन्ति सप्तदशो वै प्रजापतिस्तृत्प्रजापतिमज्जयति···॥

२—काठ० सं० ३४-५।

३—तै० आ० १. ११. ६।

४—भरत का अनवद्धवाद्य संबंधी विवरण संबंधी (चतुर्थाध्याय देखिये)।

५—जातक, रामायण, महाभारत के अनवद्ध वाद्यों के उल्लेख देखिये।

६—काठ० सं० ३४. ५, २३. ४ यदात्यरिच्यत तद्वनस्पतीन्प्राविशत्सैषा वनस्पतिषु वाग्वदति या दुन्दुभौ या नाड्या या तूणवे या दण्डो भवति। वाज० सं० ३० १९–२०, तै० सं० ६. १, ४. २५।

७—ऋ० वे० १०. १३५. ७ इदं यमस्य सादनं देवमानं यदुच्यते। इयमस्य धम्यते नालीरयं गीर्भिः परिष्कृतः।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्पष्ट कहा है "अस्य यमस्य प्रीणनाय इयं नाली वाद्यविशेषो वेणुर्धम्यते वाद्यते। यद्वा नालीति वांगनाम।"[१] मैकडानल एवं कीथ ने भी "तूणव" से वंशी वाद्य का तात्पर्य लिया है। एवं यही अर्थ समुचित भी प्रतीत होता है।[२]

जिस प्रकार वीणावादकों और गायकों का एक वर्ग बन गया था, वंशीवादकों का भी एक वर्ग था। इन्हें भी पुरुषमेध के बलि प्राणियों की तालिका में रखा गया है।[३] यज्ञ के अवसर पर अन्य वाद्यों के साथ तूणव वाद्य का भी वादन अपेक्षित था।[४]

घनवाद्य—घनवाद्यों के अन्तर्गत लय संबंधी वाद्य यथा—करताल, मजीरा आदि आते हैं। इस वर्ग का वाद्य भी वैदिक काल में प्रचलित था।[५] इस वर्ग के अन्तर्गत "आघाट" या "आघाटि" नामक वाद्य का उल्लेख मिलता है। सायण ने इसे तंत्री वाद्य वीणा का ही एक प्रकार माना है।[६] किन्तु कीथ एवं मैकडानल तथा विलियम विट्ने इसके विपरीत इसकी व्याख्या मजीरा या करताल के रूप में करते हैं।[७] यही व्याख्या अधिक समुचित मालूम होती है। विलियम विट्ने द्वारा उद्धृत अथर्ववेद के अंश में नृत्य का प्रसंग है एवं संगत में वीणा का उल्लेख भी साथ ही है। अतः आघाट से मजीरे का अर्थ

१—वही० देखिये सायणभाष्य।

२—वैदिक इण्डेक्स आफ नेम्स एण्ड सब्जेक्ट्स।

३—वाज० सं० ३०. १९–२० तूणवध्मवरस्पराय...। तै० ब्रा० ३. ४. १५. ३. ४ १३।

४—तै० सं० ६. १. ४. २५।

५—अथ० सं० ४. ३७. ५, ऋ० वे० १०. १४६. २।

६—ऋ० वे० १०. १४६. २ सायणभाष्य देखिये।

७—वैदिक इण्डेक्स...। तथा अथर्ववेद का विलियम विट्ने का अनुवाद पृ० २१२, ग्रिफिथ ने भी यही अर्थ पृ० १८१। (Where the cymbals and lutes sound together—Whitney), (..................And lutes and cymbals sound in tune).

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

ही संगत प्रतीत होता है क्योंकि नृत्य की संगत में यह लय का कार्य करता है।[१]

वैदिक काल के संगीतज्ञ हाथ से ताल देने की पद्धति से भी पूर्णतः परिचित थे। हाथ से ताल देने वालों का भी एक वर्ग था। इन्हें भी बलि-प्राणियों की तालिका में रखा गया था।[२] ये "पाणिघ्न" के रूप में ज्ञात थे। पाणिसंघात संज्ञा भी मिलती है अर्थात् दोनों हाथों से ताल देना। इस विधि का ज्ञान स्वतः ही घन वाद्यों से भी परिचय की पुष्टि कर देता है। सायण ने "पाणिसंघात" की व्याख्या में यह बात स्पष्ट कर दी है कि ताल देने का कार्य दोनों हाथों के संयोग से होता है।[३]

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वैदिक काल के संगीतज्ञ न केवल चतुर्विध वाद्यों व उनके प्रकारों से वरन् हस्तताल प्रक्रिया से भी परिचित थे।

संगीत का तृतीय तत्त्व नृत्य—नृत्य को भी संगीत का ही एक अंग माना गया है। यद्यपि इसमें हावभाव एवं अंग संचालन पर जोर इसे अभिनय के अधिक निकट पहुँचाता है, तथापि संगीत से भी यह घनिष्ठ रूप से संबंधित है। इसमें निहित लय, ताल एवं गायन वादन की संगति इसे संगीत का ही एक अभिन्न तत्त्व बना देती है। बिना किसी वाद्य या गायन संगति के नृत्य नीरस हो जाता है एवं तब वह मात्र अंग-संचालन एवं हावभाव प्रदर्शन ही कहलायेगा। अतः गायन वादन से युक्त नृत्य ही संगीत का तत्त्व कहलाता है। वैदिक साहित्य में नृत्य के भी अनेक स्थलों पर उल्लेख प्राप्त होते हैं।

उषा की तुलना नर्त्तकी से की गई है जो नृत्य के मध्य वेष भूषाएं

१—अथ० सं० ४.३७.५ यत्र व प्रेंखा हरिता अर्जुना उत यत्राघाटाः कर्कर्यः संवदन्ति तत्परेप्सरसः प्रतिबुद्धा आरतन।

२—वाज० सं० ३०.२०।

३—तै० ब्रा० ३-४-१५ ग्रामण्यं पाणिसंघातं नृत्ताय। देखिये तत्संबंधी सायण का भाष्य—"पाणिसंघातं पाणिद्वयसंयोगनिर्वर्तितं तालकृत्यम्।"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बदलकर अनेक रूप धारण करती है।[1] नृत्य के अनेक अन्य उल्लेख भी देखे जा सकते हैं।[2] नृत्य में वेष भूषा आभूषणादि का भी उपयोग किया जाता था। इसका भी संकेत उक्त उल्लेखों से मिल जाता है।

नर्तकों का भी स्वतंत्र वर्ग था जिन्हें बलि प्राणियों की तालिका में समाविष्ट किया गया था।[3] इनके लिये "शैलूष" संज्ञा भी प्राप्त होती है।[4] वाज० सं० में "सूत" संज्ञा इनके लिये मिलती है, परन्तु ब्राह्मण एवं परवर्त्ती साहित्यों में "शैलूष" ही प्राप्त होती है।[5]

गायन, वादन एवं नर्तन समाज में एक व्यवसाय भी बन गया था।[6] व्यवसाय के रूप में "वंशनर्त्तिन" का उल्लेख आया है अर्थात् बाँस पर नृत्य करने वाला।[7] इसके अवशेष अब भी नटों में मिल सकते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह ज्ञात होता है कि वैदिक काल में संगीत के तीनों तत्त्वों गीत, वाद्य, नृत्य का यथेष्ट प्रचार था। संगीत कला को "शिल्प" के रूप में भी उल्लिखित किया गया है।[8]

संगीत के व्यावहारिक पक्ष पर तो वैदिक साहित्य की सामग्री कुछ क्षीण प्रकाश डालती भी है किन्तु शास्त्रीय अथवा सैद्धान्तिक पक्ष लगभग अछूता ही रह गया है। एकाध कहीं अत्यल्प उल्लेख शास्त्रीय तत्त्व की सत्ता का संकेत मात्र प्रदान कर देता है। इन्ही के आधार

१—ऋ० वे० १. ९२. ४, ६. २९, ३ अधि पेशांसि वपते नृतूरिवापोर्णुते वक्ष उस्रेव वर्जहम्। ज्योतिर्विश्वस्मै भुवनाय कृण्वती गावो न, व्रजं व्युषा आवर्त्तम् ॥ ४ ॥

२—ऋ० वे० ५. ३३, ६ : १०-८-३, ८, २०, २२ : अथ० सं० ५, २०, १०, ४, ३७-७, ४, ४९, ३ यजु० सं० ३०।२१।

३—वाज० सं० ३०, २० तान्नृत्तायानन्दाय तलवं। तै० ब्रा० ३, ४, १५।

४—तै० ब्रा० ३, ४, २१ गीताय सूतं नृत्ताय शैलूषं···।

५—वाज० सं० ३०, ६।

६—यजु० सं० ३०, ६–७–११–१७–२०।

७—यजु० सं० ३०, २१ अग्नये पीवानं पृथिव्यै पीठसर्पिणं वायवे चाण्डालमन्तरिक्षाय वंशनर्तिनं दिवे खलतिं सूर्याय हर्यक्षं नक्षत्रेभ्यः किर्मिरं चन्द्रमसे किलासमह्ने शुक्लं पिंगाक्षं रात्र्यै कृष्णं पिंगाक्षम्।

८—कौषीतकि ब्रा० २९. ५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पर हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि उस काल में संगीत के शास्त्रीय पक्ष की क्या स्थिति थी ? "शास्त्रीय" से तात्पर्य संगीत के पारिभाषिक शब्दों से स्थूलमान से लिया जाना चाहिये। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक संज्ञा सप्त स्वरों की है जिसके विषय में प्रायः मतभेद है कि इसका ज्ञान वैदिक गायकों को था अथवा नहीं।

संगीत के सप्त स्वर—वैदिक काल के संगीतज्ञ (गायक वादक) संगीत के सप्त स्वरों से पूर्णतः परिचित प्रतीत होते हैं। संगीत संबंधी ग्रन्थ न होने के कारण यद्यपि सप्त स्वरों के स्पष्ट नाम नहीं प्राप्त होते, तथापि "सप्तधातु"[1] संज्ञा उसके स्थान पर मिलती है। व्याख्या को देखते हुए यह निष्कर्ष उचित ही निकाला जा सकता है कि "सप्तधातु" सप्त स्वरों के लिये प्रयुक्त किया गया है।[2] इस निष्कर्ष की पुष्टि भी कुछ प्रमाणों के आधार पर की जा सकती है। इस व्याख्या की असंदिग्धता के प्रमाण स्वरूप इसी अंश में आये "बाण" नामक वाद्य को लिया जा सकता है जिसकी व्याख्या सायण एवं अन्य विद्वानों ने शततंत्री वीणा के रूप में की है। वाद्य के संदर्भ में सात धातु का प्रयोग, संगीत की "सप्तधातु" मानने को ही बाध्य करता है और यह उचित भी प्रतीत होता है। सप्त धातु का तात्पर्य यदि छन्दों से लिया जाये तो भ्रामक होगा क्योंकि यदि छन्द के अर्थ में यहाँ अभिप्रेत होता तो सायण कभी भी स्वरों के रूप में व्याख्या नहीं करते, जब कि इससे पूर्व मण्डल एक में सप्तवाणी की व्याख्या छन्दों की वाणी के रूप में की ही है। सायण के अतिरिक्त मैकडानल व कीथ तथा सेन्ट पीटर्सवर्ग के कोष में भी इसे संगीत के सप्त स्वरों का ही द्योतक माना गया है।

शतपथ ब्राह्मण की त्रयोदश कण्डिका में "वीणागणगिन" संज्ञा आयी है जिसकी व्याख्या सायण ने इस प्रकार की है:—

१—ऋ० वे० १० ३२ ४ तदित्सधस्थमभिचारु दीधय गावो यच्छासन्वहतुं न धेनवः। माता यन्मन्तुर्यूथस्य पूर्व्याभि बाणस्य सप्तधातुरिज्जनः।

२—देखिये सायणभाष्य "बाणस्य वाद्यस्य सप्तधातुर्निषादादिसप्तस्वरोपेतो जनोऽभिगच्छति······। पृ० ३८६

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

"वीणानाम् अलाबु वीणा त्रितंतिः सप्ततन्तिशततन्तिरित्यादीनां गणः वीणागणः—तेन वीणागणसंघातेन ये गायन्ति शब्दयन्ति ते वीणागणगाः। ते शिष्यभूता येषां गायनाचार्यादीनां सन्ति ते वीणागणगिनः।"[1]

अर्थात् तीन, सात एवं सौ तारों से युक्त वीणा का वादन जो गुरु सिखाता है, वह वीणागणगिन कहलाता है। परवर्त्ती साहित्य[2] में सप्ततंत्री वीणा के उल्लेख मिलते हैं जिनका पूर्व प्रचार भी सप्त स्वरों के ज्ञान का आभास कराता है।

पुनः शतपथ ब्राह्मण की तृतीय कण्डिका में एक अन्य उल्लेख भी आता है जिसमें "निषेदुरिति" संज्ञा प्रयुक्त की गई है, जिसकी सायणाचार्य ने निषादादि स्वरों के रूप में व्याख्या की है। यह भी सप्त स्वरों के ज्ञात होने का प्रमाण समझा जा सकता है।

इन प्रमाणों के अतिरिक्त सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रमाण त्रयोदश कण्डिका में निहित है जहाँ "उत्तरमन्द्रा" संज्ञा वीणा एवं वीणावादकों से संबंधित रूप में प्राप्त होती है। "उत्तर मन्द्रा" संगीत का शास्त्रीय एवं पारिभाषिक शब्द है। परवर्त्ती संगीत के ग्रन्थों में "उत्तर मन्द्रा" षड्जग्राम की प्रथम मूर्च्छना के रूप में उल्लिखित है।[3] सप्तस्वरों के बिना मूर्च्छना के अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अतः यह संज्ञा सप्तस्वरों का स्पष्ट संकेत करती है। एगेलिंग नामक विद्वान् ने इसकी व्याख्या उत्तरमंद्रा प्रकार की वीणा रूप में की है। यदि यह व्याख्या भी मान लें तो भी स्पष्ट ही सप्त स्वरों का संकेत मानी जा सकती है क्योंकि वीणा का उक्त प्रकार वही होगा जिससे उत्तरमंद्रा मूर्च्छना का वादन, गायन किया जाये अथवा उत्तरमंद्रा के स्वर उसमें निहित हों।

उपर्युक्त उल्लेखों के आधार पर यह मानना उचित है कि वैदिक गायक, वादक संगीत के सप्त स्वरों से भली प्रकार परिचित थे। यद्यपि ऐसे उल्लेख अत्यल्प हैं, तथापि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। ये उल्लेख

१—श० ब्रा० १३. ४. ३. ३.।

२—बौद्ध जातक, रामायण, एवं नाट्यशास्त्रादि।

३—द्रष्टव्य भरत नाट्यशास्त्र तथा मतंग संबंधी अध्याय पृ०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रसंगवश ही किये गये हैं। अतः उनकी समुचित व्याख्या परवर्ती संगीत के ग्रन्थाधार पर ही संभव है।

राग के विषय में कोई संकेत वैदिक साहित्य नहीं प्रदान करता, तथापि "उत्तरमंद्रा" का उल्लेख यह अस्पष्ट सा आभास देता है कि सप्तस्वरों का ही बारी-बारी से स्वरित मानकर गायन वादन की परम्परा का कुछ ज्ञान अवश्य था जिससे परस्पर भिन्न-भिन्न स्वरावलियां प्राप्त होती हैं। राग का विकास तो पर्याप्त परवर्त्ती है। संभवतः इसी मूर्च्छना पद्धति से ही राग का विकसित रूप आज हमारे सामने मिलता है।

संगीत एवं स्त्री वर्ग—संगीत के सामाजिक पक्ष के अन्तर्गत यह प्रश्न हो सकता है कि स्त्रियों के साथ संगीत का कैसा संबंध था। गायन वादन एवं नृत्य में स्त्रियां भाग लेती थीं या नहीं, उन्हें सम्मान दिया गया अथवा नहीं ? यह पहले भी उल्लेख किया जा चुका है कि गायन वादन जब यज्ञ के अवसर पर होता था, यजमानों की स्त्रियां भी समान रूप से भाग लेती थीं। नृत्य का भी उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में ऊषा एवं अथर्ववेद[1] में अप्सराओं के नृत्य का उल्लेख देखा ही जा चुका है।

संगीत में स्त्रियों की अधिक रुचि होती है, यह बात आज भी देखी जा सकती है एवं स्त्रियों में गायन योग्यता भी अधिक मानी गई थी।[2] इस रुचि का संकेत वैदिक साहित्य के उद्धरण से भी प्राप्त होता है जहां वाणी को गंधर्वों के पास देवों ने सोम लाने को भेजा था। गंधर्वों ने वाणी को अपने पास रखना चाहा। वहां से देवताओं को वाणी को पुनः बुलाने के लिये वीणा की सृष्टि करनी पड़ी एवं वाणी को नृत्य गीत सिखाना पड़ा।[3] आगे चलकर वाणी (सरस्वती) का वीणा के साथ घनिष्ठ संबंध भी बन गया। इस प्रकार यह निर्बाध सत्य है कि पुरुष गायक वादकों के अतिरिक्त स्त्रियों का संगीत में, स्वाभाविक रुचि एवं योग्यता के कारण पर्याप्त सहयोग था।

१—अथ० सं० ४. ३७, ५–६–७।

२—भरत का ध्रुवा संबंधी अध्याय देखिये।

३—श० ब्रा० ३, २, ४, ६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संगीतज्ञों का समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान था। यज्ञ सदृश धार्मिक अवसरों पर गायक वादकों की उपस्थिति व सहयोग प्रमुख अंग था। इसके अतिरिक्त संगीतज्ञों के विभिन्न वर्गों को यज्ञ के बलि प्राणियों की तालिका में भी देखा जा चुका है। समाज में अन्य वर्गों की भाँति एक वर्ग इनका भी निर्मित हो रहा था। संगीत व्यवसाय को वैदिक साहित्य में संभवतः हेय नहीं समझा गया था।

इस प्रकार वैदिक साहित्य में संगीत के तीनों तत्त्वों का उल्लेख मिल जाता है। एक बात अवश्य है कि लौकिक संगीत का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। प्रत्येक उल्लेख का संदर्भ धार्मिक ही मिलता है।

प्रथम अध्याय समाप्त ॥

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

द्वितीय अध्याय

(आठवीं सदी ई० पू० से चौथी सदी ई० पू० तक का संगीत)

इस काल के संगीत पर प्रकाश डालनेवाली प्रमुख सामग्री सूत्र एवं जातक साहित्य है, यद्यपि ये दोनों परस्पर नितान्त विपरीत विचारधारा से संबद्ध हैं। सूत्र साहित्य ब्राह्मण एवं जातक साहित्य बौद्ध परंपरा का प्रतिनिधित्व करता है। ब्राह्मण साहित्य धार्मिक साहित्य है, अतः संगीत संबंधी उल्लेख धर्म से प्रभावित हैं। बौद्ध साहित्य जातकों में तत्कालीन समाज का चित्रण मिलता है, इससे समाज के सभी वर्गों पर प्रकाश पड़ता है। सूत्र साहित्य में संगीत का धार्मिक अधिष्ठानों से ही संबंधित रूप में उल्लेख आता है, जब कि जातक साहित्य संगीत का उल्लेख समाज के सभी अंगों से संबंधित रूप में करता है। उक्त तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए इस काल के संगीतका स्वरूप-निर्धारण किया जा सकता है। इस काल के संगीत को जानने के लिये हमारे पास प्रमुख मुख्य उत्स जातकों और सूत्रों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के ग्रन्थ भी हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी जो व्याकरण का ग्रन्थ है, उसमें भी संगीत संबंधी कुछ उल्लेख मिलते हैं तथा शिक्षा एवं प्रातिशाख्यों में भी तत्संबंधी कुछ उल्लेख मिलता है। इन दो प्रकार की सामग्रियों में सामाजिक या सांस्कृतिक पृष्ठभूमि नहीं है। अतः इनसे प्राप्त निष्कर्षों का विवेचन स्वतंत्र रूप से किया गया है। साथ ही उनका क्या महत्त्व है तथा वे संगीत के किस पक्ष पर प्रकाश डालते हैं, यह भी वहीं पर बताया गया है।

संगीत को सामाजिक एवं व्यक्तिगत मनोरंजन के एक प्रमुख तत्त्व के रूप में तथा धार्मिक अधिष्ठानों के आवश्यक अंग के रूप में, इस काल में देखा जा सकता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय इत्यादि उच्च वर्गों में भी संगीत का प्रचार था तथा समाज के अन्य वर्गों में भी संगीत का प्रचार था। संगीत के लिये वैदिक काल की भांति इस काल में भी "शिल्प" संज्ञा प्राप्त होती है।[1] संगीत की जैसी परिभाषा देखी जा

१—गुत्तिल जातक—२. १७२; ५–४५७, ५३७

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चुकी है उसी रूप में यहाँ भी प्राप्त होती है, अर्थात् गायन, वादन एवं नृत्य संगीत के प्रमुख तत्त्व थे।[१] जातकों में संगीत के अन्तर्गत नाट्य का भी उल्लेख आता है।[२] परन्तु जैसा परवर्ती साहित्य से स्पष्ट है, नाट्य स्वयं इतना विस्तृत है कि संगीत को उसका एक अंग मान लिया गया जिसका स्पष्ट प्रमाण भरतकृत नाट्यशास्त्र के रूप में देखा जा सकता है।

इस काल के संगीत के उल्लेखों को देखते हुए यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इस काल में संगीत की तीन धाराएं प्रचार में थीं। प्रथम संपूर्ण धार्मिक संगीत साम संगीत–, द्वितीय धार्मिक-लौकिक संगीत जिसके अन्तर्गत यज्ञ के अवसर पर होने वाले सामेतर संगीत यथा–गाथा, नाराशंसी एवं आख्यानादि को रखा जा सकता है। तृतीय वह संगीत जो कि पूर्णतः लौकिक संगीत था एवं समाज के विभिन्न वर्गों में अनेक अवसरों पर होता था। सूत्र साहित्य में प्रथम दो प्रकार की धाराएं प्राप्त होती हैं, जब कि जातक साहित्य तृतीय प्रकार के संगीत की सूचना प्रदान करता है।

सूत्र साहित्य में उल्लिखित साम गायन––

साम गायन के विषय में सूत्र साहित्य यथेष्ट प्रकाश डालता है। साम-गायन यज्ञ के अवसर पर तथा अन्य सामाजिक अवसरों पर

१—१–३६२; ३६३; १–४७० नाटकित्थियोनच्चगीतवादितकुसला ३–४० गीतवादितनच्चे सुचेका नाटकित्थियो। ३. ४३१, ३–४१०; ४–२५२; ४–२५५–४–२८४ ४–४६९ कुसला नच्चगीतस्स वादिते——॥ ५–१२२; ५–२६१; ५–५०७;–६–२९९; ६–२७६; तथा निमि जातक भाग–६। पारस्कर गृ० सू० २–९–१; २–७–३ नृत्यगीतव्वादित्राणि——। कात्या० श्रौ० सू० २१. ३. ११ नृत्यगीतवादित्रश्च। गोभिल गृ० सू०–९.१९. गीतवादितरुदिता० शांखा गृ० सू० १. ११. १२७ वारा० गृ० सू० ९. १९. काठ गृ० सू० ३. १७; वारा श्रौ. ६-२३-६-२२ सू–२३ नृत्यगीतवादित्र; आप० गृ० सू० २. २५. १४ नृत्यगीतवादित्र; आश्व० श्रौ.सू० १२. ८. १८; बौधा० ध० सू० १. २. ३. २४; १. ११. २१. ५; २–१–२–१३।

२—जातक भाग—१. ४७०–२.४३१; ३. ४०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भी होता था। महाव्रत यज्ञ में रथन्तर नामक साम का गायन प्रारंभ में ही होता था।[1] विवाह के अवसर पर भी वर के वधू सहित गृह प्रवेश करते समय वामदेव्य नामक साम के गायन का उल्लेख आता है।[2] इसके अतिरिक्त अभिनिष्क्रमण एवं नामकरण विधि के समय भी पिता द्वारा वामदेव्य नामक साम के गायन का उल्लेख प्राप्त होता है।[3]

साम गायन में वाद्यों का सहयोग या संगति भी रहती थी। साम गायकों की पत्नियाँ' जो सत्र में भाग लेती थीं वे अनेक प्रकार के वाद्यों पर साम के स्वरों का वादन करती थीं एवं गायन करती थीं।[4]

साम गायन के कई प्रकार भी इस काल में प्रचलित थे यथा–बृहत, वैरूप, वैराज, शाक्वर, रथंतर, ज्येष्ठ, रैवत, व्याहृति, भारुण्ड, गायत्र, देवव्रत, अग्नेर्व्रत, वामदेव्य साम इत्यादि अनेक भेद प्रचार में थे। इनके स्वरूप पर सूत्र साहित्य प्रकाश नहीं डालते, अतः इस विषय में निश्चित कुछ नहीं कहा जा सकता।[5] सूत्र काल में साम का विशद प्रचार था क्योंकि यज्ञ, कर्मकाण्डों का यह युग था जिसमें सामगायन एक प्रमुख अंग था।

सूत्र साहित्य में उल्लिखित सामेतर संगीत–

इस काल में प्रचलित साम संगीत से भिन्न यह द्वितीय धारा है जिसे धार्मिक लौकिक संगीत कहना अनुचित न होगा। इस संगीत के अन्तर्गत गाथाओं को रखा जा सकता है, जो कि धार्मिक अवसरों पर गायी जाती थीं। यज्ञ के अवसर पर गाथा गायक यज्ञकर्त्ता

१—बौधा० श्रौ० सू० १६-२० रथन्तरसामानं समानं कर्मा माहेन्द्राद् ग्रहात्माहेन्द्र-ग्रह—। आप० श्रौ० सू०—२१-१७ भद्रं साम पत्नय उपगायन्ति; शांखा० श्रौ० सू० १७- १।

२—गोभिल० गृ० सू० २-४-४ वामदेव्यङ्गोत्रत्वाऽऽरोहेत्। प्राप्तेषु वामदेव्यम्॥

३—वही० २. ८–५–१७–१८।

४—हिरण्य० श्रौ० सू० १६–६–२१ तत्संबंधी चंद्रिका व्याख्या भी देखिये।

५—हिर० श्रौ० सू० १६-५-१८ रथन्तरसामा—बृहत्सामा १६-३–११-१४–१७ २०–२८–३१ गोभिल० गृ० सू० ३. ३ वसि० ध० सू० ३–१६, २८–१२, १३, १४, १५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की प्रशस्ति का गायन करता था। ब्राह्मण गाथा गायक इस अवसर पर यजमान की दान-संबंधी प्रशस्ति तथा क्षत्रिय गायक यज्ञकर्त्ता की विजय संबंधी प्रशस्ति का गायन करता था। इससे यह स्पष्ट है कि गाथा गायक ब्राह्मण, क्षत्रिय दोनों ही होते थे, किन्तु उनकी प्रशस्तियों की विषयवस्तु परस्पर भिन्न-भिन्न होती थी।[१] गाथाओं के साथ वीणावादन भी होता था। यही कारण है कि वीणागाथी संज्ञा का बहुतायत से उल्लेख आता है।[२]

सामेतर गायन विवाहादि अवसर पर भी नृत्य के साथ होता था। कन्या की सखियां तथा कुशल संगीतज्ञ नृत्य गायन वादन प्रस्तुत करते थे।[3] यज्ञ के अवसर पर गाये जाने वाले गायन के कई प्रकारों का भी उल्लेख सूत्र साहित्य करता है। यज्ञ समाप्ति पर आठ दस कुमारियाँ नृत्य के साथ वाग्वेद, भिल्लुका, सेना तथा संवत्सर गाथा का गायन करती थीं। इनमें से दो वाग्वेद हिम्बिनी, दो भिल्लुका, दो संवत्सर गाथा तथा दो वाग्वेद हस्तावारा नामक गायन करती थीं।[४] उक्त गायन प्रकारों की व्याख्या अथवा स्पष्टीकरण के अभाव में यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यह भी यजमान की प्रशस्ति से ही

१—कात्या० श्रौ० सू० २०-२-७-प्रयाजेषु दक्षिणतो ब्राह्मणो यजमानस्य यज्ञदानयुक्ता स्वयङ्गकृतास्तिस्रो गाथा गायत्युत्तरमंद्रायाम्। हिर० श्रौ० सू० १४-२-६-तस्या सा स्थितायामित्यददा इत्ययजथा इत्यपच इत्यदः साध्वकरोदिति ब्राह्मणो वीणागाथिनौ गायतः। हिर० श्रौ० सू० १४-२-१७-१८ सायंधृतिषु हूयमानासु इत्याजिना इत्ययुध्यता इत्यमुं संग्राममहन्नित्यदौ वीर्यंकरोदिति राजन्यो वीणागाथिनौ गायति ॥

वीणागणकिनौ ब्राह्मणराजन्यविष्टी नामापवर्गाद्गायतोऽप्रवृत्तास्विष्टिषु ताभ्यां शतमनो युक्तं च ददानिशते चानोयुक्ते चेत्येकेषाम्।

२—वही० आप० गृ० सू० १४-६-४ गायतामिति वीणागाथिनौ सँशास्ति ॥ शांखा० गृ० सू० १-२२-११-२५५; काठ० गृ० सू० २२-१वीणागाथिभिः ॥ पार० गृ० १-७-१२ कौषी० गृ० सू० १-१४-६ वीणागाथिनः शांखा० श्रौ० सू० १६-१-२५

३—काठ० गृ० सू० १७-२-३।

४—हिर० श्रौ० सू० १६-६-३९–४०–४१।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संबंधित गायन प्रतीत होता है। उक्त अंश इस काल में समूह गान का भी संकेत करता है।[१]

जातकों में उल्लिखित लौकिक संगीत (गायन)

इस प्रकार का संगीत समाज के प्रत्येक वर्ग में तथा प्रत्येक क्षेत्र में प्रचलित था। जातक साहित्य से इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है। अमरावती नगरी की विशेषता का उल्लेख जिस स्थल पर आता है, वहीं यह भी कहा गया है कि यह सदा वस्तुओं तथा तत्त्वों से युक्त होने के साथ ही "गीत" शब्द से युक्त भी रहती थी।[२] इसी स्थान पर सिद्धार्थ के गृहत्याग के संदर्भ में यह भी कहा गया है कि गृहत्याग से पूर्व उसी दिन सिद्धार्थ ने गीत एवं सूत मागधों की मंगल स्तुति को सुना था।[३] जनपद कल्याणी स्त्री का भी गायन के साथ उल्लेख आता है। वह उत्तम रीति से नृत्य एवं गायन करती थी।[४] राज्याभिषेक के अवसर पर संगीतकी आयोजना होती थी।[५] संगीत में ही दिनरात मग्न रहनेवाले को सम्मानित नहीं समझा जाता था, जैसा भद्रघट जातक की कथा से स्पष्ट है। सुरा, गायन, वादन, नृत्यादि में सदा मग्न रहनेवाले सेठ के पुत्र को धूर्त कहा गया है।[६] इस प्रकार जातक साहित्य में गायन के अनेक उल्लेख बिखरे पड़े हैं। कहीं वादन तथा कहीं नृत्य तथा बहुधा तीनों का साथ ही उल्लेख आता है।[७]

इस काल के साहित्य में संगीत संबंधी विपुल उल्लेख होने पर भी दुर्भाग्य से संगीत की साधारण प्रशंसा के अतिरिक्त उसके किसी शास्त्रीय

१—वही।

२—जातक० १-३ (निदानकथा)।

३—वही० निदान कथा जातक प्रथम भाग

४—जातक० १–३९३।

५—जातक० १–४७०।

६—जातक० २–४३१।

७—जातक० ३–४०, ३-६१, ३-६५, ३–१८८, ३–४१०, ३–५०७ १–३६२; ५–२९०; ४–२३१; २–३२९; ४–१६०; ५०७, २५२, २५५, २८४, ४६९; ५–२५७–२६१ ५–महासुतसोमजातक, कलिंगबोधजातक; ५–२४९ तथा महाजनक जातक १–३६२;

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पक्ष पर प्रकाश नहीं पड़ता। इसका केवल कुछ उल्लेखों के आधार पर अनुमान ही लगाया जा सकता है कि संगीत संबंधी वाद्यों के स्वरानुकूल गायन के लिये अवश्य ही कुछ नियमों का प्रचलन होगा।

मूर्च्छना का उल्लेख सूत्र साहित्य में आता है[1]। जिसकी व्याख्या पिछले अध्याय में की गई है। जातक साहित्य में भी मूर्च्छना का स्पष्ट उल्लेख है। इसमें तो यह साफ कहा गया है कि तन्त्री-स्वर एवं गीत के स्वर में संतुलन होना चाहिये, एकरूपता होनी चाहिये अन्यथा यह संगीत की श्रेणी में नहीं आयेगा।[2] इससे यह अनुमित है कि मूर्च्छना गायन का प्रचार रहा होगा।

गायन के दोष पर भी जातक साहित्य प्रकाश डालता है। मुख-फाड़कर गाना गायक का दोष माना गया है। यह भी कहा गया है कि चित्त की स्थिरता से युक्त एवं शीलपूर्ण गायन होना चाहिये।[3] महाउम्मग जातक से ज्ञात होता है कि राजा कवियों से गीत रचना करवाता था तथा उसे जनता के सम्मुख नटों द्वारा गवाता एवं प्रदर्शित करवाता था। नट स्वयं भी अपने विषय में गायन करवाते थे। श्यामा नटी अपने विषय में गीत रचना करवाकर नटों से गवाती है जिससे लोग उसके बारे में जान सकें।[4]

वादन—इसके अन्तर्गत वाद्यों की गणना एवं वादनविधि का उल्लेख आता है। वाद्य चार प्रकार के होते हैं। तत, आनद्ध, सुषिर एवं घन। सूत्र एवं जातक साहित्य इनके अनेक प्रकारों का उल्लेख करते हैं।

सूत्रसाहित्य में उल्लिखित वाद्य--

तत वाद्य--तंत्री वाद्यों के अन्तर्गत वीणा का महत्त्वपूर्ण स्थान था, जैसा इसके अनेक प्रकारों के उल्लेख से स्पष्ट है। सबसे महत्त्वपूर्ण

१—कात्या० श्रौ० सू० २०-२-७ तथा पिछला अध्याय 'उत्तरमंद्रा' मूर्च्छना की व्याख्या देखिये।

२—जातक० ३–१८८ वीणाममुच्छेत्वा तन्तिस्सरेन गीतस्सरं अनतिक्कमन्तो।
२–३२९ तन्तिस्सरेन गीतस्सरं गीतस्सरं तंतिस्सरं न॥

३—जातक अनुवाद कॉविल पृ० ५१४ भाग ५ तुलनीय नाट्यशास्त्र।

४—देखिये कणवेण जातक श्यामा नटी की कथा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एवं प्रचलित वीणा शततंत्री वीणा थी जिसका उल्लेख वैदिक-काल में भी देखा जा चुका है। यह वीणा बाण के नाम से प्रचलित थी। इस वीणा का वादन यज्ञ आदि के अवसर पर होता था। इस वाद्य का प्रचार वैदिक काल से लेकर इस काल तक अक्षुण्ण रूप से चला आ रहा था। इस वीणा का सूत्र साहित्य में विशद विवेचन प्राप्त होता है। संभवतः इसके महत्त्व के ही कारण इसे महती वीणा अथवा महावीणा भी कहा गया था। सूत्र साहित्य इस वीणा की रचनाविधि एवं वादनविधि पर स्पष्ट रूप से प्रकाश डालता है। इस वीणा का दण्ड उदुम्बर अथवा पलाश की लकड़ी से बनाया जाता था एवं इसका दूसरा भाग वृषभ के रोमयुक्त चर्म से मढ़ दिया जाता था। इसके दण्ड में दस छिद्र किये जाते थे एवं प्रत्येक छिद्र में दस-दस तारों को बाँधा जाता था। तार के लिये मूंज अथवा दार्भ्य नामक घास का प्रयोग विहित था। इस वीणा की आकृति पर उक्त उल्लेख से कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। चर्म से मढ़ने का विधान खोखलेपन का संकेत करता है। यह वाद्य आधुनिक काश्मीरी वाद्य शन्तूर से कुछ साम्य रखता होगा। आकृतिविषयक स्पष्ट प्रमाण के उल्लेखाभाव में आकृति पर निश्चित कुछ नहीं कहा जा सकता।[1] सौ तारों वाला वाद्य कलकत्ता संग्रहालय में कात्यायनी वीणा के नाम से रखा गया है। संभव है इसी प्रकार के वाद्य का यह विकसित रूप हो।[2]

१—हिर० श्रौ० सू० १६-६-५-६-७-८-६-१५ आप० श्रौ० सू० २०-१-१६ औदुम्बरस्य वीणादण्डस्य दशातिमथितानि एकैकस्मिन्नतिमथिते दश दश मौञ्जास्तन्तून् प्रवयन्ति स बाणः शततन्तुः।

शांखा० श्रौ० सू० १७-३ १-१७ तस्याः पलाशी सूना भवति। औदुम्बरो दण्डः। अपि औदुन्बरी सूना पालाशो दण्डः। तमानडुहेन सर्वरोहितेन चर्मणा बाह्यतो लोम्नाभिषीव्यन्ति। तस्यै मूले दण्डं दशधातिविध्यन्ति। तद्दश दश रज्जूः प्रवयन्ति। ता अग्रे नाना बध्नन्ति। दण्डसमासा वीणा शततन्त्री भवति। वेतसशाखा सपलाशा वादिन्युपक्लृप्ता भवति स्वयं नता वा शरेषीका। बौधा० श्रौ० सू० १६-२० लाट्या० श्रौ० सू० ४-१-१ २ तन्त्र्यौ मौञ्ज्यौ दार्भ्यौ वा।

२—देखिये फलक चित्र

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उपर्युक्त अंश में ही "बाण" नाम की वीणा की रचना की दूसरी विधि का भी उल्लेख आया है। इस विधि के अनुसार केवल तीन ही छिद्र किये जाते हैं तथा मध्य के छिद्र में चौंतीस और अन्य दो छिद्रों में तैंतीस-तैंतीस तन्तुओं को बाँधा जाता है। इस वीणा का वादन वेतस अथवा पलाश की पत्तियों से युक्त शाखा से होता था। आधुनिक शन्तूर वाद्य भी टहनियों द्वारा ही बजाया जाता है।[1]

उक्त बाण नामक वीणा का वादन साम गायन तथा सामेतर गायन और गाथाओं के साथ भी होता था, जैसा इसके उल्लेखों के संदर्भों से प्रगट होता है।

"बाण" नामक शततंत्री वीणा के अतिरिक्त सूत्र साहित्य में अन्य वीणाओंके उल्लेख भी आते हैं।

वीणा के अन्य प्रकार—इनकी सूचना मात्र इनके नामों के उल्लेख द्वारा ही प्राप्त होनी है। बाण की रचना विधि का जिस प्रकार संकेत मिलता है उस प्रकार वीणा के अन्य प्रकारों का नहीं। भाष्यकारों ने भी स्पष्ट रूप से व्याख्या नहीं की है। भाष्यकार अग्निस्वामी इनके लिये केवल इतना ही कहते हैं कि ये वीणाएँ वीणा के ही अन्य विकार हैं:—अलाबु वीणा वक्रा कपिशीर्ष्णि चेति वीणाविकाराः।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि वीणा के अन्य प्रकारभेद आकृति, तंत्रीसंख्या, विभिन्न उपकरण इत्यादि तत्त्वों पर आधारित होंगे, जैसा वीणाओं के नाम एवं उनकी व्याख्या से स्पष्ट है। इसी आधार पर निम्नोक्त सूत्र साहित्य में उल्लिखित वीणाओं की व्याख्या की जा सकती है।

अलाबु वीणा[3] संभवतः यह लौकी के तूम्बे से निर्मित वीणा थी। कर्करी वीणा[4] भी। कर्करी एक ऐसा फल है जिसकी पेंदी में छेद होता

१—लाट्या० श्रौ० सू० ४-१-३–४ त्रिष्विति शाण्डिल्यश्चतुस्त्रिंशन्मध्यमे त्रतस्त्रिशतावमित इति ॥ पुरस्तादेकैकशस्तास्त्रंधं विभज्य भूर्भुवः स्वरित्येताभिः पृथगुत्तरोत्तरोद्वहेत् ॥

सम्मिलित अग्निस्वामी भाष्य भी देखिये ॥

२—लाट्या० श्रौ० सू० भाष्य ४-२-१।

३—वही ४-२-१–२

४—लाट्या० श्रौ० सू० ४-२-५–६–७ शाखा श्रौ० सू० १७-३-१–१७ बौधा० श्रौ० सू० १६–२०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है इसी से बनी वीणा कर्करी वीणा कहलाती है। कर्करी से बनी वीणा अथवा उसके आकार की वीणा थी।

काण्डवीणा[1]—शरों (सरकंडों) द्वारा निर्मित वीणा थी।

तंबल वीणा[2]—जैसा नाम से स्पष्ट है, तंबल नामक वृक्ष की लकड़ी से बनाई जाती थी।

गोधावीणा[3]—गोचर्म से मढ़ी हुई वीणा थी। भाष्यकार इसे छोटी अथवा लघु आकार की वीणा के रूप में व्याख्या करता है।

पिशील वीणा[4] लकड़ी की तश्तरी की आकृति से युक्त वीणा प्रतीत होती है। कपिशीर्ष्णि वीणा[5] स्पष्ट ही बन्दर के सिर की आकृति वाली वीणा थी। इस वीणा का एक सिरा उक्त आकृति का होता था। आज भी इस प्रकार के भेद देखे जा सकते हैं जिनके सिरे भिन्न-भिन्न जानवरों की आकृति के होते हैं।[6] इन वीणाओं के अतिरिक्त अपघाटिला, वक्रा, तालुक, कश्यपी वीणाओं के भी नामाल्लेख प्राप्त होते हैं।[7]

जातक साहित्य में उल्लिखित तंत्री वाद्य--

जैसा अभी देखा जा चुका है कि वीणा के अनेक प्रकार प्रचलित थे, उसकी पुष्टि जातक साहित्य में उल्लिखित "सब्बवीणा"[8] संज्ञा से हो जाती है। सब्ब वीणा का अर्थ सब प्रकार की वीणा से लिया जाता है। वीणाओं के प्रकार भेद का आधार तंत्री-भेद भी था क्योंकि सप्ततंत्री वीणा का अत्यंत ही स्पष्ट विवरण एवं उल्लेख जातक साहित्य

१-२ आप० श्रौ० सू० २०-१-१९ लाट्या० श्रौ० सू० ४-२-५ कात्या० श्रौ० सू० १३ ३-२१-२२-२३।

३—कात्या० श्रौ० सू० १३ ३ २१ २२ २३।

४—लाट्या० श्रौ० सू० ४ २ ३-४

५—लाट्या० श्रौ० सू० ४ २ १-२

६—मायूरी वीणा मयूर के मुख की तरह होती थी। कलकत्ता संग्रहालय में इसका एक अवशेष मिलता है। कैटेलॉग ऑफ म्यूजिकल इन्स्ट्रूमेन्ट इन कैलकटा म्यूजियम फलक ५ चित्र संख्या ६०

७—लाट्या० श्रौ० सू० ४-२-१ ७।

८—महाउम्मग एवं महावेस्सन्तर जातक; ६–५८० आह अन्तु 'सब्ब वीणा, भेरियो

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में किया गया है।[1] जातक साहित्य सप्ततंत्री वीणा के विभिन्न वर्गों पर भी यत्र तत्र प्रकाश डालता है। यह वीणा चर्म से मढ़ी होती थी।[2] इस वीणा का दण्ड पीछे की ओर चौड़ा और गोलाई लिये हुए एवं सामने की ओर क्रमशः पतला अथवा संकुचित सा हो जाता है।[3] इस वीणा का आकार संभवतः भरहुत की मूर्तिकला में अंकित वीणा का सा ही प्रतीत होता है।[4] यह सात तारों से युक्त होती थी।[5] प्रथम तार को "भ्रमर तंत्री" कहा जाता था।[6] संभवतः सप्त तंत्रियां सप्त स्वरों की होती थीं। मूर्तिकला में अंकित वीणा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये तंत्रियाँ लम्बाई में क्रमशः बड़ी से छोटी होती थीं एवं लम्बाई में सबसे बड़ा तार निम्न स्वर का द्योतक था। क्रमशः छोटे तार ऊँचे स्वरों के द्योतक थे। गुत्तिल जातक इस वीणा की विशेष वादन विधि पर भी प्रकाश डालता है। गुत्तिल नामक वीणावादक बारी बारी से क्रमशः सातो तारों को तोड़ देता है फिर भी वैसे ही स्वर निकालता है। ऐसा प्रतीत होता है कि तार को दबाकर स्वर निकालने एवं तदनुसार वादन करने की विधि इस काल में पूर्णतया ज्ञात थी, अन्यथा एक भी तार के टूट जाने से पूर्ववत स्वर नहीं निकाले जा सकते।[7] यह आज भी सरोद या बट्टा-बीन (विचित्रवीणा) जैसे वाद्यों में प्रचलित है, जिनमें पर्दे नहीं होते। यह पद्धति वीणा वादन की उन्नत विधि की द्योतक है। वीणा के तारों को उसके दण्ड में बने छिद्रों में बाँधा जाता था।[8] इस वीणा का

१—२-२४८-२५७ देखिये संपूर्ण गुत्तिल जातक।

२—६-५८० चम्मपोक्खर।

३—२-२५ वीणाथूण जातक सो यं संकुटितो सेति छिन्नतन्ति।

४—भरहुत—बरुआ भाग—३। ज० अ० ओ० सो० १९३० पृ० २५३—४ तथा ए० भ० इ० भाग—१२ पृ० २६२—७१।

५—६—५१ कदाहं वीणं विरुजको सत्ततन्ति मनोरमं तथा गुत्तिल जातक।

६—२—२५३ गुत्तिल जातक।

७—वही।

८—३—४३२ अट्टसद्द जातक वीणा छिद्दे हि उदकं पाविसि। ३-५०७ पदकुसल माणव जातक।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

स्वरूप भरहुत-कला में अंकित वीणा से भली भाँति स्पष्ट हो जाता है जिसका विस्तृत विवरण अगले अध्याय में दिया जायगा।

वीणा का वादन दायें हाथ के नखों द्वारा किया जाता था।[1] गुत्तिल जातक इसके वादन की विकसित पद्धति के अतिरिक्त वीणा के स्वर मिलाने की विधि पर भी प्रकाश डालता है। तारों को ऊँचे स्वर में मिलाने के लिये उसे कसा जाता है तथा नीचे स्वर के लिये ढीला किया जाता है। मूसिल नामक वीणा वादक इसी विधि का उपयोग प्रतियोगिता के अवसर पर करता है। प्रथम वह तारों को उच्च तारता में द्वितीय मध्य एवं अन्त में उसे निम्न तारता या नीचे (पिच) में मिलाता है। इस स्थान पर मूर्च्छना संज्ञा का प्रयोग महत्त्वपूर्ण है इसका स्थान के अर्थ में प्रयोग किया गया है।[2] मूर्च्छना का केवल "स्थान" से ही तात्पर्य नहीं लेना चाहिये किन्तु सप्त स्वरों के क्रमिक आरोहावरोह से भी लेना चाहिये। जैसा कि परवर्त्ती व्याख्याओं से स्पष्ट है, प्रत्येक "स्थान" में सात मूर्च्छनाएँ होती हैं उनमें से सात शुद्ध स्वरों की मूर्च्छना भी होती है, जिसे जाति के रूप में भी जाना जाता था। यह भी परवर्त्ती व्याख्याओं से स्पष्ट है कि जाति राग का पूर्व रूप या अविकसित रूप है। "जाति वीणा"[3] का उल्लेख भी जातक में प्राप्त होता है जो इस दृष्टि से पर्याप्त महत्त्व-पूर्ण है। कुमार स्वामी[4] के अनुसार यह वीणा सुन्दर वीणा नहीं, अपितु वह वीणा है जो जाति वादन के लिये प्रयुक्त होती थी। यही व्याख्या तथ्यों के प्रकाश में अधिक समुचित प्रतीत होती है। इस प्रकार जातक साहित्य भी मूर्च्छना एवं जाति के प्रयोग से भली भाँति परिचित प्रतीत होता है। वीणा के एक अन्य रोचक प्रकार का भी उल्लेख प्राप्त होता है। इसे हस्तिकान्त वीणा कहा जाता था। इसके तारों में ऐसा चमत्कार था जिसके द्वारा हाथियों को वश में किया जाता था।[5]

१—४-४७०—अगनखेहि——४-४६६ महापलोभन जातक।

२—गुत्तिल जातक संपूर्ण २-२४६।

३—४ रतिलाल मेहता प्री बुधिस्ट इन्डिया।

५—६-२५५-६२ हत्थिकन्तवीणा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वीणा वादन एकाकी[1] एवं गायन और नृत्य के साथ भी होता था। वीणा के साथ गायन का अनेक स्थलों पर भी उल्लेख मिलता है। साथ ही यह भी कहा गया है कि वीणा की तंत्रियों के स्वर एवं गीत के स्वरों में सन्तुलन या एकरूपता होनी चाहिये, अन्यथा गायन-वादन बेसुर प्रतीत होगा।[2] वीणा वादन के साथ नृत्य भी होता था। आज भी भरतनाट्यम् नामक नृत्य में इसकी संगत को देखा जा सकता है। जातक में भी एक स्थल पर माणविका के नृत्य के साथ वीणा-वादन का उल्लेख आता है। अपने पति से वह अनुरोध करती है कि वह तभी नृत्य करेगी जब वह वीणावादन साथ में करेगा।[3] इस प्रकार वीणा का इस काल में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था। संभवतः "महा-वीणा" संज्ञा भी इसीलिये प्रयुक्त की गयी है।[4]

इस प्रकार तंत्री वाद्यों के उल्लेखों को दृष्टि में रखते हुये यह कहा जा सकता है कि आठवीं सदी से चौथी सदी ई० पू० के काल में वीणाओं के अनेक प्रकार ज्ञात एवं प्रचलित थे। शततंत्री एवं सप्त तंत्री वीणा अधिक महत्त्वपूर्ण वीणाएँ प्रतीत होती हैं। इसके अतिरिक्त भी वाद्यों के समूह वादन में अनेक प्रकार की वीणाएँ बजाई जाती थीं। सब प्रकार की वीणाओं का वादन करने वाला आचार्य ही सभवतः "वीणागणगिन" के नाम से सूत्र साहित्य में ज्ञात था।

सूत्र साहित्य में उल्लिखित सुषिर वाद्य—

इस वर्ग के निम्नोक्त वाद्यों का सूत्र साहित्य में उल्लेख आया है. यथा-नाडी[5] तूणव[6] गोमुख[7] एवं पिच्छोला[8] इत्यादि। सूत्र साहित्य इनकी

१—देखिये गुत्तिल जातक।

२—३-३-१८८, ३-५०७; ४-४७०; २-३२९; ५-२९०।

३—१-२९२ अण्डभूत जातक-अहं अय्य तुम्हेसु वीणं वादेन्तेसु नच्चितं इच्छा-मिति साधुभद्दे नच्चसूति वीणं वादेसि तुम्हे सु ओलोकेन्तेसु अज्जामि सुमुखं पनवों साटकेन बन्धित्वा नच्चिस्सामीति।

४—३-५०७ अजानन्ती महावीणं गीवाय बन्धित्वा।

५-६ आप० श्रौ० सू० ११-१७-१६ नालीस्तूणवनिति।

काठ० गृ० सू० १७-२-३ नाडी तूणवं सर्वाणि च वादित्राणि।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

रचना-विधि पर विशेष प्रकाश नहीं डालता, किन्तु भाष्यों के आधार पर इनका स्वरूप निर्धारण किया जा सकता है। नाडी एवं तूणव मुख से फूंक कर बजाये जाने वाले वाद्य हैं ये वंशी के वर्ग के वाद्य हैं अथवा एक प्रकार की वंशी ही माना जा सकता है। इसके वादक को नालवक कहा गया है।[१] पिच्छोला की व्याख्या पर मतभेद है। प्रो० कैलेण्ड इसकी व्याख्या मुख से फूंक कर बजाई जाने वाली वीणा के रूप में करते हैं। यदि इस व्याख्या को मान भी लें तो भी यह फूंककर बजाने के कारण सुषिर वाद्य के ही अन्तर्गत आएगी। तंत्री युक्त होने का उल्लेख न होने से इसे सुषिर वर्ग में ही रखना समुचित प्रतीत होगा।[२] गोमुख[३], जैसा नाम से स्पष्ट है, गाय की मुखाकृति का वाद्य था। इसका आज भी आदिमवासियों में प्रचार है। इसकी तुलना आधुनिक सिंगा आदि वाद्यों से की जा सकती है। मध्यप्रदेश भ्रमण के समय संयोग से ऐसे ही एक वाद्य को देखने और सुनने का अवसर मिला था।

जातक साहित्य में सुषिर वाद्य--

जातक साहित्य इस वर्ग के तीन वाद्यों का उल्लेख बहुधा करता है यथा—वेणु, शंख एवं खरमुख।

वेणु वादन के साथ गायन भी होता था। वेणु वादन के साथ किन्नरी के गायन एवं नृत्य दोनों का उल्लेख यह संकेत करता है कि

६—काठ० गृ० सू० १७-२-३ गोमुखं प्रकीडयन्तु कन्याः।
वारा० गृ० सू० शुभं वद दुन्दुभे सुप्रजास्त्वाय गोमुख ॥ १३-४

७—शांखा० श्रौ० सू० १७-३-१-१७ आप० श्रौ० सू० ११-१७-१६।
लाट्या० श्रौ० सू० ४-२-५ हिरण्य० श्रौ० सू० १६-६-२१

१—काठ० गृ० सू० वही भाष्यनाडी वंशः तूणवस्तत्प्रकारः मुखवायुपूरणः नालवक इति प्रसिद्धा।

२—पिच्छोला संबंधी उल्लेखों के भाष्य—शांखा० श्रौ० सू०।

३—काठ० गृ० सू० १७-२-३ भाष्य देखिये।
वाराह गृ० सू० १३-४।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

वेणु का प्रयोग वाद्यों के समूह वादन के अतिरिक्त बहुधा नृत्य एवं गायन की संगत के लिये भी होता था।[१]

इसी वर्ग का वाद्य खरमुख[२] भी था, किन्तु स्पष्ट स्वरूप का संकेत प्राप्त न होने से कुछ कहना भ्रामक होगा। यों आज के प्रचार में आदिवासियों के वाद्यों में "खरमुही" नाम का जो वाद्य फूंककर बजाया जाता है, संभवत: "खरमुख" इसी प्रकार का कोई वाद्य रहा होगा।

शंख नामक वाद्य भी सुषिर वर्ग का महत्वपूर्ण वाद्य है। इसका बहुधा अनेक वाद्यों के साथ ही उल्लेख देखा जा सकता है। सेना में अथवा उत्सव, प्रयाण आदि में शंख वादक भी सहयोग देते थे। कभी कभी शंख लंबे-लंबे वेणु सदृश वाद्य के एक सिरे पर जोड़ कर लंबे भी बनाये जाते थे[3] ऐसा अमरावती की मूर्त्तिकला में देखा जा सकता है। आज यह संगीत के प्रमुख वाद्यों में नहीं गिना जाता, किन्तु उड़ीसा में अभी भी कुछ शंख वादक हैं जो उसमें छिद्रों के द्वारा भिन्न भिन्न स्वरों का वादन भी करते हैं। यह कहना प्रामाणिक तो नहीं कि ऐसा उस समय भी होगा ही किन्तु एक अनुमान किया जा सकता है। दक्षिण भारतीय शंख वादक कोहालही में सुनने का सौभाग्य मिला था।

सूत्र साहित्य में उल्लिखित आनद्ध वाद्य—

भेरी, दुन्दुभि, भूमिदुन्दुभि,[४] नन्दीरति,[५] मृदंग[६] एवं पणव[७] इस वर्ग के प्रमुख वाद्य हैं। जिनका सूत्र साहित्य में उल्लेख आया है। सूत्रों में

१—४-४८५ ततो चन्द किन्नरो वेणु वादेन्तो मधुर सद्देन गायि चन्द किन्नरी मुदुके हत्थे नामेत्वा सस्सा विदूरे ठिता नच्च एव गायि चा सो राजा। ५-३२२, देखिये भाग-५ तथा ६ का क्रमशः महासुत, सोम जातक और मूगपक्ख जातक।

२-२१७, ६-५८०।

३—६-५८०।

४—देखिये भेरी मुतंग संबंधी उल्लेख तथा फलक (५) चित्र संख्या। (८)।

५—लाट्या० श्रौ० सू० १-११-१-२-३।

हिर० श्रौ० सू० १६-६-२७।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

भूमिदुन्दुभि की रचना पर प्रकाश डाला गया है, इसके आधार पर दुन्दुभि के स्वरूप का भी अनुमान किया जा सकता है। भूमि में एक वट अथवा गड्ढ़ा खोद दिया जाता था। उस पर आर्द्र रोम युक्त वृषभ चर्म को मढ़ा जाता था एवं उसी के पूँछ वाले भाग से उसका वादन भी करते थे। दुन्दुभि इसके विपरीत गढ़ा खोदकर नहीं, अपितु काष्ठ अथवा मिट्टी के खोखले बर्त्तन पर चर्म को मढ़कर बनाई जाती थी। इसका वादन, जैसा वैदिक काल में देखा जा चुका है, दण्ड द्वारा पीटकर होता था। नन्दीरति भी एक प्रकार का ढोल ही प्रतीत होता है। परवर्त्ती साहित्य में नन्दी पटह नामक वाद्य का उल्लेख प्राप्त होता है। इस आधार पर इसे ढोल ही मानना उचित प्रतीत होता है। इसका उपयोग नगर घोषणा, समय सूचना इत्यादि के लिये होता था। इससे यह अनुमान भी किया जाता है कि यह एक विशाल ढोल रहा होगा। सूत्र साहित्य में इसका मात्र एक स्थल पर उल्लेख आता है। मृदंग पर्याप्त प्रचलित-प्रकार का ढोल था। इसका भरत के नाट्यशास्त्र में विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। यह वाद्य आज भी प्रचार में है।[1] पणव एक प्रकार का छोटा ढोल था जिसे "केटल ड्रम" कहा जा सकता है। इसका उल्लेख बौद्ध साहित्य में बहुतायत से प्राप्त होता है।[2]

भेरी[3] इस वर्ग का एक महत्त्वपूर्ण वाद्य था। भेरी वाद्य पर एक संपूर्ण जातक लिखा गया है जो "भेरिवाद" जातक के नाम से मिलता

आप० श्रौ० सू० २१-१८-१–१२।

कात्या० श्रौ० सू० १३-३-१६–२०।

शांखा० श्रौ० सू० १७-१४-७–१२ जानुदघ्नमावट खात्वाऽऽर्द्रेण चर्मणाऽभि वितत्यशंकुभिः परिणिहत्य भूमिदुन्दुभिः पुच्छकाण्डेन भूमिदुन्दुभिमाघ्नन्ति।

६—मान० गृ० सू० १-९-२९ अविधवा नन्दीरतिरुपवादयन्ति। नन्दी अर्थात् वृषभ की आकृति का ढोल नन्दीरति कहलाता था।

७—काठ० गृ० सू० १७-२-३ मृदंग पणव सर्वाणि च वादित्राणि।

१—भरत संबंधी अध्याय देखिये।

२—जातक साहित्य के आनद्ध वाद्यों को देखिये।।

३—१–२९३; ४- ४६४ भेरि मुत्तंगा पणवा च शंखा आवज्जयिंसु उग्गसेनस्स रञ्ञो।। २-३४४,।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है। भेरीवादकों का संभवतः कोई कुल भी था जो इसी से अपनी जीविका चलाता था। आज भी शहनाई वादकों को इस रूप में देखा जा सकता है।

भेरी की ध्वनि तीव्र होती है। यही कारण था कि यह रणवाद्यों के अन्तर्गत रखी जाती थी। राजा के प्रयाण इत्यादि के अवसर पर इसका अन्य वाद्यों के साथ वादन होता था। ध्वनि की तीव्रता का संकेत इस तत्त्व से भी मिलता है कि उक्त जातक में भेरी वादक इसके वादन से चोरों को भगाने का कार्य करता था। यह वादन दण्ड के द्वारा किया जाता था।

संगीत का सामाजिक स्तर—

सूत्र साहित्य के उल्लेखों को देखते हुए यह अनुमान लगाया जा सकता है कि जहाँ तक धार्मिक अवसर का संबंध था, ब्राह्मण एवं क्षत्रिय दोनों वर्ग अपने जातिगत धर्म के अनुसार यज्ञादि में भाग लेते थे। सूत्र साहित्य में आये संगीतोल्लेख सदा धार्मिक अवसर से संबंधित है। यज्ञ में यजमानों की पत्नियों से, एवं धार्मिक संस्कारों पर कन्या, पिता, वर सभी का संगीत से संबंध प्राप्त होता है।

संगीत कुछ अवसरों पर वर्ज्य भी समझा गया था। जैसे विद्याध्ययन काल एवं व्रतादि के काल में। विद्यार्थी अथवा स्नातक को संगीत सुनना एवं स्वयं उसमें भाग लेना वर्ज्य था। इसके विपरीत उचित अवसरों पर—देवोत्सव, महाव्रत आदि के समय यह वर्जन नहीं था।

समाज में संगीत के ज्ञाता आचार्य भी होते थे जो संगीत की शिक्षा देते थे। वीणागणगिन संज्ञा इसी तथ्य की पुष्टि करती है। संगीत में गुरुशिष्य परंपरा का संकेत बौधायन धर्मसूत्र का एक अंश भी करता है।

संगीत का समाज के विभिन्न वर्गों में इतना अधिक प्रचार था जैसा जातक के उल्लेख स्पष्ट करते हैं कि यह मानना असंभव नही कि संगीत के बड़े-बड़े विद्वान् कलाकार भी अवश्य रहे होंगे। सूत्रों का "वीणागणगिन" तथा जातकों के गुत्तिल, मुसिल, सग्ग, कलाकार इत्यादि इसके स्पष्ट प्रमाण हैं। गुत्तिल व मूसिल में गुरु शिष्य का ही संबंध था।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

संगीत की प्रतियोगिताओं का संकेत भी जातक साहित्य करता है जिसमें समाज अपना सहयोग प्रदान करता था। एक तथ्य पर और भी प्रकाश पड़ता है कि उस काल में भी गुरु शिष्य के मध्य प्रतियोगिता को उचित नहीं समझा जाता था।[१]

संगीत के सार्वजनिक आयोजन भी हुआ करते थे। जो समज्ज एवं महासमज्ज के रूप में जातकों में प्राप्त होते हैं। इस सामाजिक उत्सव पर अन्य मनोरंजन के साथ२ गायन वादन एवं नृत्य नाट्यादि भी होते थे।[२] इन समज्जों का उल्लेख मौर्य सम्राट् अशोक के अभिलेखों में भी प्राप्त होता है। कभी कभी उनमें अतिशय अभद्रता भी हो जाती थी इसी से संभवत: अशोक ने उसका निषेध कराया था।[३]

उपर्युक्त उल्लेखों को दृष्टि में रखते हुए यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आठवीं से चौथी सदी ई० पू० के काल में संगीत कला का पर्याप्त प्रचार था। संगीत का धार्मिक एवं सामाजिक दोनों ही पक्षों में महत्त्वपूर्ण स्थान था। जैसा इस काल की प्रमुख साहित्यिक सामग्री से स्पष्ट है, ये सामग्रियां स्वयं ही संगीत के दो पक्षों का द्योतक है। सूत्र संगीत के धार्मिक पक्ष का तो जातक सामाजिक पक्ष का दिग्दर्शन कराते हैं।

जातक साहित्य में उल्लिखित आनद्ध वाद्य—

जातक इस वर्ग के अनेक वाद्यों का उल्लेख करता है यथा—मृदंग,[४] आनक,[५] आलंबर,[६] पणव,[७] मुरज,[८] पटह,[९] डिण्डिम,[१०] कुम्भथूण,[११]

१—देखिये संपूर्ण गुत्तिल जातक २-१८८ (सग्ग का उल्लेख)।

२—३ ५०७ समज्जं कत्वा समज्ज मण्डले पठमम् एव इमं गीतं गायेय्याथाति नटे सिक्खापेन्ति पठमं गाथं वत्वा तुम्हेहि इमास्मि गीतके गीते सचे अय्यपुत्तो तस्मि।

महानारदकश्यप जा० देखिये सुनाम अलाट से कहता है कि आज उत्सव का उत्तम दिन है अत: नृत्यादि का आनंद ले।

३—अशोक का शिलालेख प्रथम।

४—१-३; २-३४४; ४-४६४; ५-३६०; ५-३२२ निमिजातक ६-२१७-२७६,

५—२-३४४।

६—२-३४४; ५-३६० तथा देखिये निमि जातक।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दुन्दुभि,[1] मड्डुक[2] एवं आलिंग्य[3]। उपर्युक्त वाद्यों के स्वरूप पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता, किन्तु व्याख्याओं एवं प्रचार के आधार पर इनका स्वरूप निर्धारण किया जा सकता है। जैसा वीणा के प्रकारों के विषय में देखा जा चुका है, ये वाद्य भी परस्पर आकार भेद द्वारा एवं वादन विधि के भेदों द्वारा एक दूसरे से भिन्न होंगे। फलकों के आनद्ध वाद्यों की आकृतियाँ द्रष्टव्य। उदाहरण स्वरूप डिण्डिम आधुनिक डमरू की भाँति छोटा सा आनद्ध वाद्य प्रतीत होता है। इसी प्रकार कुम्भथूण संभवत: मिट्टी का बना वाद्य प्रतीत होता है। यह आज भी प्रचार में है। मिट्टी के तबले भी इसी के विकसित स्वरूप को दिखाते हैं। आलिंग्य मृदंग का ही वह प्रकार है जिसे आलिंगन की सी स्थिति में रखकर वादन करते हैं। इसका भी विस्तृत विवेचन नाट्य शास्त्र में किया गया है।[4] जातक साहित्य एक अन्य वाद्य घट दुद्दुर[5] का भी उल्लेख करता है। यह भी संभवतः कुम्भथूण का सा वाद्य ही था। दक्षिण भारत में आज घड़े के वादन का प्रचार है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस काल में भी यह विधि प्रचलित थी।

घन वाद्य—घन वाद्यों का उपयोग ताल एवं लय के लिये किया जाता है। सूत्र साहित्य में इस वर्ग के वाद्य का कोई उल्लेख न मिलने से यह तात्पर्य नहीं लेना चाहिये कि सूत्र साहित्य इस वर्ग के वाद्यों से अनभिज्ञ था, क्योंकि सूत्र साहित्य से पूर्व काल के वैदिक काल में

७—४-४६४, ५-३२२, ६-२१७, ६-२७६, ६-५८० तथा भाग ६ का मूगपक्ख जातक।

८—५-३६०।

९—५-३२२, ६-२७०।

१०—५-३२२ ६-२१७, ६-२७६; ६-५८०।

११—देखिये महासुतसोम जातक ५०६-५०७; ६-२७६; ६-५८०।

१—भाग ६ मूगपक्ख जातक देखिये।

२—६-५८०।

३—१-३६४ संखधमत्वम् अलिगम् वादेंहीति।

४—देखिये भरत कृत नाट्यशास्त्र संबंधी अध्याय।

५—६-२७६ कुंभ······ति घटदुद्दुर वादके।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इनका स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है। तथा इस काल में भी जातक साहित्य में इस वर्ग के वाद्यों का पुनः उल्लेख मिलता है। लय एवं ताल का कार्य आनद्ध वाद्यों से भी लिया जाता था, जैसा आज भी लिया जाता है। जातक साहित्य में इस वर्ग का झाझंर्झयिका[१] अथवा झझर वाद्य प्राप्त होता है। झर्झर वाद्य झांझ का प्रतीक है। इसे कुछ लोग मजीरे के रूप में भी व्याख्या करते हैं। ताल हाथ के द्वारा भी दिया जाता है। हाथ से ताल देकर गायन करने वालों का एक समूह था जिसका सामूहिक संगीत में सहयोग होता था। इसके लिये "पाणिस्सर"[२] संज्ञा प्रयुक्त होती है तथा शम्या एवं ताल हाथ से अथवा ताल संबंधी वाद्यों की सशब्द क्रिया के द्योतक हैं। ताल का गायन वादन एवं नर्तन तीनों के साथ घनिष्ठ संबंध होता है।[३] जातकों में जहां भी इसका उल्लेख आया है, सदा गायन, वादन एवं नृत्य ही के संदर्भ में आया है।[४]

जातक एवं सूत्र साहित्य के वाद्य संबंधी उल्लेखों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि आठवीं से चौथी सदी ई० पू० के काल में वाद्यों के चारों प्रकार पूर्ण रूप से प्रचलित एवं ज्ञात थे। वाद्यों का उपयोग अनेक अवसरों पर होता था। धार्मिक, सामाजिक सभी अवसरों पर गायन एवं नृत्य के साथ तथा रणप्रयाण एवं राज्य की अन्य सूचनाओं इत्यादि सभी अवसरों पर वादन होता था। वादन अकेले एवं सामूहिक दोनों प्रकार से होता था, "जैसा उपर्युक्त उल्लेखों में देखा जा चुका है।

तूर्य—"तूर्य" शब्द के लिये जातक साहित्य में "तुरिय" संज्ञा प्राप्त होती है। बौद्ध साहित्य में यह संज्ञा संदर्भ के अनुकूल कई अर्थों में

१—६–५८०; ५–५०–७; ५–३६० महासुतसोम जातक देखिये।

२—६–५८०; ६–२७६।

३—ना० शा० ३१।३१ ३८ इसमें एक बार दायें और एक बार बायें हाथ से घनवाद्य बजाना या ताल देना निहित है।

४—महा जनक जातक देखिये गीयमानेसु वज्जमानेसु वग्गुसु तुरिय तालित संघुट्ठे सम्पताल समाहिते।

निदान कथा १–३।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

प्रयुक्त की गई प्रतीत होती है। जातक साहित्य में यह संज्ञा सामान्य रूप से वाद्य मात्र के लिये आई है।[१] इसके अतिरिक्त गायन एवं नृत्य सहित एवं रहित वादन के अर्थ में भी तूर्य संज्ञा का उल्लेख आया है।[२] एक अन्य अर्थ में भी जातक साहित्य में "तूर्य" का प्रयोग होता है, जहाँ वह संज्ञा किसी भी वाद्य विशेष के लिये प्रयुक्त होती है यथा—"वीणादीनि तुरियानि गहित्वा"।[३] तूर्य संज्ञा वाद्यों के लिये प्रयुक्त होती थी इसका स्पष्ट संकेत निदान कथा में उल्लिखित पंचागिक तूर्य से हो जाता है। ये पाँच अंग संभवतः तत, वितत,[४] आनद्ध, घन, सुषिर वाद्यों से संबद्ध होंगे। वाद्यों के ही अर्थ में यह संज्ञा निदान कथा में और अन्य अनेक स्थलों पर प्राप्त होती है।

सूत्र साहित्य में नृत्य--सूत्र साहित्य में नृत्य के भी यत्र तत्र स्फुट उल्लेख मिलते हैं। नृत्य के साथ गायन भी होता था। एक तत्कालीन प्रचलित नृत्य के प्रकार पर सूत्र साहित्य प्रकाश डालता है। जिसमें यज्ञ के अवसर पर स्त्रियाँ जल से भरे घड़े को सिर पर रखकर

१—५–२६१ एवञ्च पन वत्वा सब्बे तुरियाणि पग्गण्हिंसु नानापकराणि नच्च-गीतानि वत्तयिसु। देखिये महासुत सोम जातक ५-५०६ पाणिस्सरं कुंभथूणं निसीथे अथोपि वे निप्पुरिसं हि तुरियं बहु संगीतं च सुवादितं च हित्वा कथेको समशी अरत्रे।

२—४ २८६।

३—१–३२, ५,२६१ सब्बे तुरियाणि॥ ३–२३६ अनेकसतेहि तुरिये हि वज्ज मानेहि महासुत सोम जातक—तुरियतालित संघुट्टे सम्पताल समाहिते ६–२६६ नानातुरियाणि गहेत्वा पुञ्जकस्स परिचरियाय नक्चादीनि वट्ठपेसुभतत्थ नच्चन्ति गायन्ति अह्वायन्ति।

४—वितत संभवतः कोण से बजने वाले तंत्री वाद्यों का द्योतक हैं। यह संज्ञा भरत, शारंगदेव किसी ने भी प्रयुक्त नहीं की है। परवर्त्ती हिन्दी साहित्य में आकर ध्रुपद आदि गीतों में नत, वितत, घन, सुषिर संज्ञा प्राप्त होती है किन्तु यहां "वितत" संभवतः आनद्ध वर्ग के स्थान पर मिलती है। जातकों का 'पञ्चांगिक तूर्यं संभवतः चार वर्ग के वाद्यो एवं इस वितत अथवा उपवर्ग का द्योतक है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यज्ञ स्थल के मार्जालीय चारो ओर घूमकर नृत्य करती थीं। इसे "उद्कुंभ शोषे" नृत्य कहा गया था। उसके अवशेष आज भी भारत के लोक नृत्यों में देखे जा सकते हैं। नृत्य पुरुष एवं स्त्रियाँ दोनों ही करती थीं तथा नृत्य में कुशलता पर पर्याप्त ध्यान दिया जाता था। नृत्य कुशल नर्त्तक या नर्त्तकी को ही प्रतिष्ठा दी जाती थी।[1] नृत्य का गायन वादन के साथ उल्लेख अनेक स्थलों पर आता है जो कि पहले ही देखा जा चुका है।

जातक साहित्य में नृत्य---नृत्य पर जातक साहित्य पर्याप्त प्रकाश डालता है। जैसा सूत्र साहित्य में भी देखा जा चुका है नृत्य के साथ गायन वादन का भी विधान था।[2]

नृत्य में सुशीलता, हावभाव की शिष्टता वस्त्रों की भद्रता आदि तत्वों पर भी पर्याप्त ध्यान दिया जाता था। हाथ पैरों को मटका कर, भद्दे

१—आप० श्रौ० सू० २१·१८ काठ० गृ० सू० २२-१।

२—१-३९३ जनपदकल्याणि नच्चति गायतीति खो भिक्खवे नच्चे च गीते च उत्तमवत्ति—उत्ताम एवं नच्चं नच्चति गीतं च गायतीति १. ४७०, २-२४८-५७;२-४३१ वनगीतनच्चादीनि ३, ४० गीतवादितनच्चेसु ३, १२७ पाणिप्पहार सद्देन नच्चति। ४, ३२४; ४, २५२ कुतापि न भासिसु न नच्चिसु—भवेय्युम नच्चेयुम च एव गायेय्युम—। ४, २५५' ४, ४६९ कुसलानच्चगीतस्सवादिते। ५· १६ अनाथमातो उपगाति नच्चति—। ५· १७२ नच्चेहि गीतेहि उपेतरूपं चिरट्ठितिकं न च सस्सतायं॥ ५ २४९ गंधव्वनट नच्चकादिपरिवुतौ। ५- २५७, ५- २६१ नानापकारानि नच्चगीतानि—। महाजनक जा०—नच्चे निसामेति न गीते कुरुतेमनो॥ ५- ५०७ नच्चगीयवादितेत्में पञ्चमम्—। निमि जा० नच्चगीता सुवादिता उपेतरूपं अन्नपाणेहि चूभयं—। ६-२९९ नानातुरियाणि गहेत्वा पुण्णकस्स परिचरियाय नच्चादीनि पट्ठपेसुम तत्थ तत्थ नच्चंति गायन्ति॥ विधुर पण्डित जा० तत्थ नच्चन्ति गायन्ति अह्वयन्ति वरावरं अच्छरा विय देवेसु नरियौ समलंकृता॥—नच्चेहि गीतेहि च वादितेहि॥ महानारदकश्यप जा० रमस्सुदेव कामेहि नच्चगीते सुवादिते॥ कुसला नच्चगीतस्स सवकस्स परिचारिका। ६- २७६ सम्म तालत्र च वीणाम् च नच्चगीतम् सुवादितं ६-५८०—

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ढंग से सुरा के नशे में नृत्य करना, अनावृत होकर नृत्य करना अशिष्टता का द्योतक था। इसी प्रकार अनावृत नृत्य को देखकर हंसराज ने अपनी पुत्री का विवाह नर्त्तक मोर से नहीं किया।[१]

नृत्य के साथ सभी वर्ग के वाद्यों का वादन होता था। नृत्य के साथ गायन वादन दोनों होता था। माणविका के उद्धरण से यह स्पष्ट है जहाँ वह वीणा के साथ नृत्य करती है। समवेत एवं अकेले नृत्य का भी संकेत मिलता है। समवेत नृत्य का काफी प्रचार था।

जातकों में जिस प्रकार के नृत्य का उल्लेख प्राप्त होता है वह अधिकांश रूप से नट संबंधी या एक्रोवेटिक प्रकार का प्रतीत होता है जिसे भाले या डण्डे वाला नृत्य कह सकते हैं।[२] इसकी तुलना शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित वंश नृत्य से की जा सकती है।[3]

इतना होने पर भी जातक साहित्य शान्त प्रकार के नृत्य से भी अनभिज्ञ न था जिसके अन्तर्गत हाथ पैरों की नियमित गति वीणा वेणु आदि वाद्यों की संगति निहित थी।[४] शिष्ट, सुन्दर, गतियुक्त नृत्य की प्रवृत्ति न केवल मनुष्यों में अपितु जैसा देखा जा चुका है प्रकृति एवं पशु पक्षियों में भी थी। उषा का उल्लेख वैदिक काल में देख सकते हैं। लोग यह चाहते थे कि पशु पक्षी भी सुन्दर हाव-भाव एवं हाथ से ताल देकर सुन्दर रीति से नृत्य करें एवं मधुर स्वरों का उच्चारण करें।[५] नृत्य की इन विशेषताओं या अंगों का शास्त्रीयकरण भरत काल तक हो गया था। भरत के ग्रन्थ में नृत्य के तत्त्वों के अन्तर्गत गति, ताल, हावभावादि को समाविष्ट कर लिया है।[६]

१—५–१६, १-२०७।

२—४-३६० वंशधोपन।

३—श० ब्रा० १३-६ २-२०।

४—४–२८४ मड्डके हत्थे नामेत्वा ४–३२४।
  ६–२६५ मनोरमेनाकारेण नाच्चित्वा।

५—२–३७; ३ १२७; ४-३३६
  "उत्तर राम चरित" में सीता का वर्णन ३-१९ नृत्य के लिये "करकिसलय-तालैर्मुग्धया नर्त्यमानम्" प्राप्त होता है इं० हि० क्वा० ९ पृ० १५४।

६—देखिये चतुर्थ अध्याय।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संगीत का स्त्रियों के साथ संबंध---

संगीत का संबंध पुरुषों के साथ साथ स्त्रियों से भी घनिष्ठ रूप से था। संगीत की स्त्रियों को विशेष देन थी। साम गायन जैसे धार्मिक अवसर तथा अन्य यज्ञ एवं धार्मिक संस्कारों के अवसरों से लेकर सामाजिक अवसरों तक में स्त्रियों का सहयोग था। सूत्र साहित्य समाज के धार्मिक पक्ष का अवलोकन कराता है, अतः उससे यह सूचना मिलती है कि महाव्रत यज्ञ इत्यादि के अवसर पर साम गायक पुरुषों के साथ उनकी स्त्रियाँ भी गायन तथा तदनुकूल वादन करती थीं। विवाह इत्यादि धार्मिक संस्कारों के अवसर पर भी स्त्रियाँ तथा कन्या स्वयं संगीत में सहयोग देती थीं।[1] दास कुमारियाँ भी यज्ञ के अवसर पर उदकुंभशीर्ष नृत्य तथा गाथाओं का गायन करती थीं।[2]

राज्य में भी नर्त्तकियों का विशेष स्थान था। राजाओं की पुत्रियाँ भी संगीत का ज्ञान रखती एवं उपयोग करती थीं। राजा सदा संगीत जानने वाली स्त्रियों से घिरा रहता था। संगीत संबंधी कोई भी अवसर ऐसा न था जहाँ स्त्रियों का सहयोग न हो।[3]

उक्त उल्लेखों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि स्त्रियों का संगीत से घनिष्ठ संबंध था। बड़े घरों की अथवा उच्चवर्ग की स्त्रियाँ तथा भिन्न वर्ग की दास कुमारियाँ भी संगीत का ज्ञान रखती एवं उसका अवसरानुकूल प्रदर्शन करती थीं।

संगीत को राज्य का प्रश्रय---

संगीत के राज्य के साथ संबंध का जो भी उल्लेख इस काल में प्राप्त होता है वह जातक साहित्य से ही प्राप्त होता है। जातक साहित्य समाज के ही पक्षों का अवलोकन कराता है, अतः इसकी सम्पूर्ण सूचना इसी से मिलती है।

१–२ आप० श्रौ०सू० २१-१८, १–१२, २१-१९-१-१८ यह नृत्य आज सिर पर घड़े रखकर किये जाने वाले लोक नृत्य के समकक्ष भी समझा जा सकता है। काठ० गृ० सू० २२-१ ॥

३—देखिये संगीत को राज्य का प्रश्रय।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

राजाओं के जीवन का संगीत एक अभिन्न अंग था। राजा एवं संभ्रान्त कुलीन वर्ग सदा गंधर्व, नट, नर्त्तकों, गायकों, वादकों से घिरा रहता था।[१] एक प्रकार से वह उनकी समृद्धि का परिचायक था। राजाओं की नगरियाँ प्रायः संगीत से परिप्लावित रहती थी। अमरावती नगरी की शोभा का वर्णन निदान कथा में इसी प्रकार का देखा जा सकता है, जो सर्वदा वीणा, भेरी, मृदंग, ताल एवं गीत की ध्वनियों से गुंजित रहती थी। इसके अतिरिक्त नलिनी नामक नगरी तथा उसके राजा के विषय में भी भूरिदत्त जातक उल्लेख करता है जो सदा सामूहिक नृत्य गीत इत्यादि से भरी रहती थी, जिसका राजा सर्वदा नृत्य, गीत, वाद्यों से युक्त कन्याओं से घिरा रहता था।[२]

संगीत का राजाओं के साथ इतना घनिष्ठ संबंध था कि सिद्धार्थ ने गृहत्याग से पूर्व रात्रि को सम्पूर्ण गायन वादन का श्रवण करके ही गृह त्याग किया था।[३] बोधिसत्त्व कुमार के जीवन के १६ वर्ष संगीत नाट्यादि उपभोग करते व्यतीत हुए थे।[४] राजाओं की पुत्रियाँ भी संगीत साधना करती थीं। माणविका एवं उसके पति के उल्लेख से स्पष्ट है कि रानी एवं राजा दोनों ही संगीत का अच्छा ज्ञान रखते थे।[५] राज्य में नर्त्तकियाँ नियुक्त की जाती थीं जो उत्तम ढंग से नृत्य प्रदर्शन करके मनोरञ्जन करती थीं। जनपदकल्याणि भी संभवतः ऐसी ही नर्त्तकी थी।[६] राजाओ के उद्यान भी संगीत संबंधी उपकरणों से

१—१-२०७।

२—१-३ निदान कथा तथा विधुर पण्डित जातक—मया सहादाक्खोस एहिकते यत्थच्छति नच्चगीतेहि नागो राजा यथा वेस्सवणो नलिञ्जते नागकञ्जा-चरितं गणेन निकीलितनिक्चमहो च एति नच्चेहि गीतेहि च वाहितेहि परि-पूरं कञ्ञाहि अलंकताहि उपसो हति वत्थ विलन्धनेन ॥

३—निदान कथा देखिये।

४—निदान कथा गौतम का चरित।

५—१-२९२ तथा विधुरपण्डित जा० भाग–६–"राजा की पुत्री पर्वत को सजा कर सुन्दर रीति से गायन वादन नृत्य करती है।

६—१-३९३ तथा भाग-५ कुस जातक देखिये।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भरे रहते थे। जब भी राजा उद्यान में जाता था कुशल नर्त्तकियाँ गायन वादनादि से मनोरंजन करती थीं। कलाबु राजा का ऐसा ही उल्लेख एक स्थल पर प्राप्त होता है।[1] बोधिसत्त्व कुमार जब पुष्करिणी उद्यान में विहार करने गये थे, उस अवसर पर भी वहाँ गायन, वादन एवं नृत्य हो रहा था।[2]

संगीत राजाओं के जीवन के विषय में इतना अभिन्न अंग बन गया था कि राजा जब भी किसी अवसर पर प्रस्थान करता था एवं किसी अन्य नगर में जाता था उस समय सदा संगीतज्ञों का दल साथ साथ जाता था एवं गायन, वादन, नृत्य प्रस्तुत करता था।[3] राजाओं को निद्रा से जगाने के लिये भी संगीत का उपयोग होता था।[4] कुछ राजा तो संगीत प्रेम में इतने अधिक लीन हो जाते थे कि वे पत्नियों से भी पूर्ववत् भाव नहीं रख पाते थे।[5] राजा की संगीत प्रियता का संकेत मद राजा के उल्लेख से भी स्पष्ट हो जाता है कि जब बोधि प्रभावती को लाने के लिये वीणा बजाकर गा रहा था तो

१—३-४० अथ एकदिवसं कलाबुराजा सुरामदमत्तो नाटकपरिवुतो महन्तेन यसेन उय्यानं गन्त्वा मंगलशीलपट्टे सयनं अत्थरापेत्वा एकिस्सा पियमनापाय इत्थिया अंके सयि गीतवादितनच्चेसु चेका नाटकित्थियो गीतादीनि पयोजयिंसु ॥

२—२-२२६—महानारदकस्यपजातक—विचित्त्वत्थामरणा आमुत्तमणिकुण्डला कुसला नच्चगीतस्स सक्कस्स परिचारिका।

३—३-२३९, ४-४६४ भेरिमुतुंगा पणवा च संखा आवज्जयिंसु उग्गसेन स्स रञ्ञो। ५-२२२ कुस्सभेरि मुतिंगा च संखा पणव डेण्डिभा पुरतो पटिपन्नानि हासयन्ता रथेसमं ॥ जातक भाग ६ मूगपक्ख जातक योजयन्तु रथे अस्से कान्छं नागानबधत उदीरयन्तु संखपणवा वदन्तु एक पोक्खरा ॥ नदन्तु भेरी सन्नद्धा वग्गु दुन्दुभि नेगमा च म अम्बेन्तु गच्छं पुत्त निवेदको ॥ भाग—६ भूरिदत्त जा०।

४—५-३९० पाणिस्सरामुतिगा च मुरजालंबरानि च सुतं एतं च मोदेन्ति पटिबुद्धो च नदन्ति…… ।

५—५-९६ अलंकतोया पदुमुत्तस्त चा विरागिता पस्सति हस गप्पारा तासं सुणित्वा मित गीतं वादितं नगानिमे तात तथा यथा पुरे ॥

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

इस मद्द राजा ने संगीत व मधुर स्वर से प्रभावित होकर अपने सम्मुख उससे गंधर्व कराने का आयोजन किया।[१] सत्कार हेतु भी राजा उत्सव आयोजन करते थे जिसमें भी वाद्यों का वादन होता था।[२]

राज्य में पुत्र के जन्म पर भी संगीतायोजन हुआ करता था। जब बोधिसत्व ने ब्रह्मदत्त के राज्य में सौ कुमारों में से एक छोटे कुमार के रूप में जन्म लिया था उस अवसर पर तथा उसके राज्याभिषेक के अवसर पर राज भवन में देवाप्सराओं की भाँति नृत्य, गीत, वाद्य कुशलता तथा उत्तम हावभाव से युक्त सोलह हजार नर्त्तकियों ने संगीत कार्यक्रम प्रस्तुत किया था।[३]

संगीत राजाओं के मनोरंजन का साधन था। इस तथ्य पर अन्य उल्लेख भी प्रकाश डालते हैं। जब कभी राजाओं के पुत्र विरक्त हो जाते थे तो राजा सदैव यही प्रयत्न करता था कि उसका पुत्र संगीत नृत्यादि में रुचि ले, उसका श्रवण करे एवं नृत्य देखे।[४] इसके विपरीत जब राजा तपस्वी का जीवन व्यतीत करने का संकल्प करते थे तो संगीत नृत्यादि का सबसे पहले निषेध करते थे।[५] यहाँ तक कि सेनापति को भी चिन्ता होने लगती थी कि उसका राजा पहले की भाँति संगीत में ध्यान नहीं देता।[६]

१—५-२६०।

२—देखिये महाउम्मग जातक।

३—१ ४७० पचगरूर जातक—देवच्छरपटिभाभा सोलस्सहस्सा नाटकित्थियो नच्चगीतवादितकुसला उत्तम विलाससंपन्ना नच्चगीतवादितानि पयोजेसुम गीतवादितसद्देन राजभवनं मेघद्दनितपूरितो महासमुद्दकुच्छिम दिय एक निन्नादम् जहोसि।

४—मूगपक्ख जातक—बोधिसत्त्व को प्रलोभन दिया गया कि जंगल में क्या करेगा राज्य में रहेगा तो नृत्यगीतकुशला स्त्रियां साथ रहेंगी।

५—विधुर प० जातक अनुवाद पृष्ठ १२८ पंक्ति २५८। धनंजय तपस्वी होने के लिये संगीत का त्याग करता है।

६—महाजनक जातक—भाग—६; ६-५१; ३—३६६ विदेह राजा प्रवज्या के बाद संगीत छोड़ता है—अपुराणमवत भो राजा सब्ब भुम्मो दिसंपति नाञ्ज नच्चे निसामेति न गीते कुरुते मनो।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संगीत जीविका का साधन भी था। गुत्तिल, भेरिवाद एवं पद-कुसल जातक इस तथ्य के स्पष्ट प्रमाण है।[१] नट नर्त्तकों के उल्लेख भी इस तथ्य पर प्रकाश डालते हैं। उन्हें भी राज्य से पारिश्रमिक मिलता होगा।

संगीत के अतिशय प्रयोग एवं दुरुपयोग की भर्त्सना भी कई स्थलों पर की गई है। यथा रातदिन संगीत में मग्न रहने वाला व्यक्ति अप्रतिष्ठित समझा जाता था एवं सुरापान करके अश्लीलता से, संज्ञा-हीन होकर संगीत का उपयोग भी अशिष्ट समझा गया था।[२]

संगीत एवं साधारण जनता—

संगीत न केवल राजाओं एवं संभ्रांत कुलीनों के जीवन का अंग था, अपितु साधारण जनता भी गायन वादन एवं नृत्य में रुचि रखती थी। गरीब से गरीब ईंधन एकत्र करने वाली लड़की भी अपना कार्य गायन के साथ करती थी। फूल चुनने का कार्य करने वाली लड़की भी इसी प्रकार गायन के साथ अपना कार्य करती थी।[3] व्यापारियों की भी संगीत में रुचि रहती थी। एक व्यापारी का पुत्र शिक्षा के प्रति गंभीर न था एवं संगीत में ही सदा रत रहता था, ऐसा उल्लेख आता है।[४]

निस्संदेह संगीत में लोगों की पर्याप्त रुचि थी। तपस्वी भी उसमें कभी-कभी मग्न हो जाते थे।[५]

१—३-४०७ पाटल नामक नट की कथा है जो नाच गाकर जीविका चलाता था। उसकी कथा में उसकी स्त्री भी उसे डूबता देखकर याचना करती है कि गीत सिखा दे जिससे वह जीविका चला सके।

२—२-४३१, ५१६, १-२०७-१-३६२; १-१६२।

३—१ ३३४ गायित्वा गायित्वा दारूणि २-३२६ तन्तिस्सरेन गीतस्सरं गीतस्सरं तन्तिस्सरेन नतिक्कमित्वा मधुरेण सुरेण गायि···॥ ५,२४६, ४-२३१ मधुरेण सुरेण गायन्ति या सद्दमसुत्वा।

४—४-१६०—४-३२६।

५—१-३६२ (५) ४-२५२ पृ० २३४-३५ भाग–१

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किन्नर एवं यक्षिणियां इत्यादि का संगीत के साथ घनिष्ठ संबंध था। वे अपने मधुर स्वभाव से गायन एवं नर्त्तन के लिये प्रसिद्ध ही थे।[1]

पाणिनि की अष्टाध्यायी में संगीत--

व्याकरण का ग्रन्थ होने पर भी उक्त ग्रन्थ संगीत का एक अस्फुट रेखाचित्र प्रस्तुत करता है। गायन, वादन तथा नृत्य तीनों ही तत्त्वों के उल्लेख पाणिनि ने यत्र तत्र किये हैं। वृन्द-वादन का भी उल्लेख अष्टाध्यायी में देखा जा सकता है।

संगीत के लिये पाणिनि ने शिल्प संज्ञा का प्रयोग किया है।[2] इस दृष्टि से इसे हम एक कला मान सकते हैं। "शिल्प" के अन्तर्गत न केवल वाद्य संगीत[3] (माड्डुकिक, झार्झरिक आदि) को वरन् गायन[4] तथा नृत्य[5] को भी देखा जा सकता है। अष्टाध्यायी के पूर्व, समकालीन तथा परवर्ती साहित्य में भी संगीत कला के अन्तर्गत गीत, वाद्य एवं नृत्य को ही रखा गया है। खन्तिवाद[6] जातक में राजकीय मनोरंजन के अन्तर्गत गीत, वादित्र एवं नृत्य तथा नाट्य को भी रखा गया है। कौटिल्य ने भी गीत, वाद्य, तथा नृत्य को संगीत का अंग माना है।[7] अष्टाध्यायी भी उपर्युक्त तीनों तत्त्वों का उल्लेख करती है। गायन के लिये इसमें गीति,[8] गेय,[9] तथा कण्ठ संगीत करने वाले के लिये गायक[10] एवं गायन, स्त्री गायिका के लिये गायिका[11] एवं गायनी संज्ञा

१—पृ० २३४-३५ भाग-१

२--वही ४-४ ५५-३-१-१४५-४६-४७।

३—५६ शिल्पम्। मड्डुकझर्झरादन्यतरस्याम्।

४—३-१-१४६-४७ देखिये "पाणिनि कालीन भारतवर्ष"।

५—३-१-१४५; १-३-८७; ७-२-५७; सेऽसिचि कृत-चृत-च्छृद-तृद-नृतः।

६—जातक ३-४०।

७—अर्थशास्त्र २. २७ पृ० १२५।

८—३;३;९५।

९—३-४-६८ भव्य-गेय-प्रवचनीयोपस्थानीय-जन्याप्लाव्यापात्या वा।

१०-३-१-१४६।

११-३-१-१४७।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

प्रयुक्त की गई है। नृत्यकर्त्ता के लिये नर्तक[१] तथा वाद्यसंगीत कर्ता के लिये परिवादक[२] शब्द का प्रयोग किया गया है। रंगमंच के अभिनय के लिये नाट्य संज्ञा भी प्राप्त होती है[३]।

वृन्दवादन की पद्धति के विषय में भी अष्टाध्यायी के उल्लेख अल्प सा संकेत प्रदान करते हैं। सह-वादन के लिये 'तूर्य' संज्ञा तथा प्रत्येक सदस्य के लिये 'तूर्यांग'[४] संज्ञा का प्रयोग किया गया है। उदाहरण स्वरूप मृदङ्ग, पणव, झर्झर, मड्डुक आदि के वादकों को मार्दङ्गिक, पाणविक झार्झरिक इत्यादि कहा गया है। काशिका ने इन्हीं के अन्तर्गत वीणावादकों को भी रखा है जिन्हें परिवादक कहा है।[५] अष्टाध्यायी में भी परिवादक संज्ञा का उपयोग किया गया है[६]। परिवादक संज्ञा यहाँ उन सभी वादकों के लिये प्रयुक्त की गई प्रतीत होती है जो तंत्रीवाद्यों का वादन करते हैं। पतंजलि ने महाभाष्य में भी वीणावादक के लिये परिवादक संज्ञा प्रयुक्त की है[७]। पाणिनि ने भी वीणाका कई सूत्रों में उल्लेख किया है[८]। जातकों के उल्लेखों से इतना तो स्पष्ट ही है कि तूर्य का एक अंग वीणा भी थी[९]।

पाणिनि ने प्रमद एवं सम्मद नामक संगीत रूपकों (आपेरा) का भी उल्लेख किया है[१०]। जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि समाज में संगीत रूपक भी प्रचलित थे जिसमें कण्ठ-संगीत वादन एवं नृत्य तीनों का समावेश होता है। इस रूपक को भरहुत की कला में देखा जा सकता है जो इसकी लोकप्रियता एवं प्रचार का

१—३-१-१४५।

२—३-२-१४६······परिरट—परिवादि—व्याभाषासूयो वुञ्।

३—४-३-१२६······नटाञ्न्यः।

४—२-४-२ द्वन्द्वश्च प्राणि—तूर्य—सेनाङ्गानाम्।

५—काशिका भाग प्रथम पृ० १९२।

६—३-२-१४६।

७—महाभाष्य ७-४-१; ३,३, ४५।

८—३-३-६५ क्वणो वीणायाञ्च।

९—जातक ३-४०।

१०—३-३-६८ प्रमदसम्मदौ हर्षे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

द्योतक है[1]। उक्त दृष्य में तूर्यांग के अन्तर्गत स्त्री वीणा वादिका, हस्ततालवादिका, झांझ या मजीरे तथा पुष्कर की वादिकाएं तथा नृत्यांगना अथवा नर्तकियां अंकित की गई हैं[2]। निदान कथा के अनुसार तूर्य समूह के अन्तर्गत पाँच प्रकार के वाद्यों अथवा वाद्य वादकों को रखा गया है[3]। भरहुत की मूर्तिकला में अंकित चार प्रकार के वादकों के अतिरिक्त संभवतः वेणु वादक को भी इसके अन्तर्गत स्थान था।

सम्मद एवं प्रमद इस प्रकार संगीत एवं नृत्य से परिपूर्ण आनन्दोत्सव माना जा सकता है। संभवत: 'समज्जा' जो अशोक के अभिलेखों में उल्लिखित है इसी उत्सव का ही समकक्ष है[4]।

अष्टाध्यायी में उल्लिखित वाद्य—तंत्री वाद्यों के अन्तर्गत वीणा का उल्लेख मिलता है, "उपवीणयति" संज्ञा इस बात का संकेत करती है कि गायन वादन का सम्मिलित प्रचार भी था अर्थात् वीणावादन के साथ गायन का प्रचार था जैसा देखा भी जा चुका है। बिना वादन के मात्र गायन 'अपवीणम्'[5] कहलाता था।[6] वीणा से निकला स्वर 'निक्वण' कहा गया है।

आनद्ध वाद्यों के अन्तर्गत मड्डुक[7] ढक्का[8], तथा दर्दुर[9] नामक वाद्यों का उल्लेख आता है। मड्डुक संभवत: छोटे आकार वाला ढोल था। ढक्का भी इसी वर्ग का वाद्य था। ढक्का आज भी प्रचार में देखा जा सकता है। दर्दुर इस वर्ग का महत्त्वपूर्ण वाद्य है। नाट्य

१—देखिये फलक २ चित्र २।

२—वही०।

३—जातक १-३२ पञ्चागिक तूर्यं।

४—डी० सी० सरकार सेलेक्ट इन्सक्रिपशन्स। अशोक भण्डारकर।

५—६-२-१८७।

६—३-३-६५।

७—४-४ ५७।

८—४-२-९५ कत्र्यादिभ्यो ढकञ्। काशिका भाग-१ पृ० ३०६ पुष्करके वर्ग का माना है।

९—४-४-३४ शब्ददर्दुरं करोति।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

शास्त्र के उद्धरण से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि दर्दुर वाद्य का पर्याप्त प्रचार था। यही कारण था कि इसे पुष्करों के प्रमुख तीन अंगों में एक स्थान प्रदान किया गया था।[१] दर्दुर संभवतः बर्तननुमा होता है जो मिट्टी का भी बनाया जाता था। काशिका में दार्दुरिक की व्याख्या भी वाद्यभाण्ड बनाने वाले के रूप में की है[२]। जातकों में कुम्भथूणिक संज्ञा इसके समकक्ष समझी जा सकती है। जिसकी व्याख्या टीकाकार घटदर्दुर वादक के रूप में करते हैं।[३] घन वाद्यों के अन्तर्गत झर्झर[४] वाद्य का उल्लेख आया है। इसके वादकके लिये झार्झरिक संज्ञा भी प्राप्त होती है। यह झांझ का प्रतीक या झांझ माना जा सकता है।

हाथ से ताल या लय तथा गति प्रदर्शन की विधि के लिये पाणिघा तथा तालघ[५] संज्ञा भी प्रयुक्त की गई है। इसके लिये जातकों में 'पाणिस्सरा' संज्ञा बहुतायत से मिलती है[६]।

सुषिर वाद्य का संकेत 'नाडि[७] संज्ञा में प्राप्त कर सकते हैं। यदि इसका संकेत न भी मानें तो इस वर्ग के अन्य वाद्यों का तत्कालीन साहित्यों में उल्लेख देखा जा सकता है।

संगीत के सामाजिक पक्ष पर अष्टाध्यायी इसलिये अधिक प्रकाश नहीं डालती क्योंकि यह व्याकरण संबंधी ग्रन्थ है। सामाजिक एवं सांस्कृतिक पक्ष के लिये समकालीन उत्स पर दृष्टिपात आवश्यक है। किन्तु अन्ततोगत्वा यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि संगीत का इतना अधिक प्रचार था कि व्याकरण शास्त्री ने भी अपने ग्रन्थ में महत्त्वपूर्ण उल्लेख किये हैं।

१—देखिये नाट्य शास्त्र का अवनद्ध वाद्य संबंधी अंश।

२—काशिका भाग १ पृ० ३५१।

३—जातक ६-२७६।

४—४-४-५६।

५—३-२-५५।

६—विधुरपण्डित जातक ६-२६७।

७—४-२-८७, ९१।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शिक्षा प्रातिशाख्यों में उल्लिखित संगीत—

उक्त ग्रन्थ संगीत के शास्त्रीय पक्ष पर ही विशेष रूप से प्रकाश डालते हैं। शास्त्रीय पक्ष के अन्तर्गत संगीत संबंधी स्वरों का महत्त्व-पूर्ण स्थान होता है और स्वरों पर ही उक्त ग्रन्थ विशेष प्रकाश डालते हैं।

सप्त स्वरों के संपूर्ण नामों का उल्लेख इन्हीं ग्रन्थों में सर्व प्रथम प्राप्त होता है। षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत, निषाद संज्ञाएं शिक्षा[1] ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से एवं बहुतायत से प्राप्त होती हैं। शिक्षा-ग्रन्थों में संगीत संबंधी सप्त स्वरों का संबंध उदात्त अनुदात एवं स्वरित से दिया गया है। सप्त स्वरों के समीकरण के विषय में ग्रन्थकार स्पष्ट रूप से कहता है कि गांधार का साम्य उदात्त से, ऋषभ धैवत का अनुदात्त से, एवं षड्ज, मध्यम, पंचम का स्वरित से माना जा सकता है। उदात्त अनुदात्त एवं स्वरित का अर्थ उच्च तारता, मंद्र तारता एवं मध्य तारता होता है। सामगायन इन्हीं तीन तारता द्वारा होता था। साधारणतया बोलचाल में भी स्वर की ऊँचाई नीचाई का प्रयोग होता है, परन्तु वह संगीत का स्वर नहीं बनता। वैदिक "पाठ" में उदात्त अनुदात्त से यही सामान्य अर्थ लिया जा सकता है। किन्तु उस संदर्भ में उदात्तादि का षड्जादि के सदृश निश्चित तारता का द्योतक नहीं माना जा सकता। सप्त स्वरों से उपर्युक्त तीन तारताओं का संबंध दिखाने के लिये ग्रन्थकारों ने उदात्त,

---

१—पाणिनीय शिक्षा १२-१२ उदात्ते निषादगांधारावनुदात्त ऋषभधैवतौ स्वरित-प्रभवा ह्येते षड्जमध्यमपञ्चमाः ॥

याज्ञवल्क्य शिक्षा—१-६ गांधर्ववेदे ये प्रोक्ताः सप्त षड्जादयः स्वराः, त एवं वेदे विज्ञेयास्त्रय उच्चादयः स्वराः ॥ १-७-८-९ याज्ञ० शिक्षा उच्चौ निषादगांधारौ नीचौ ऋचभधैवतौ, शेषास्तु स्वरिता ज्ञेयाः षड्जमध्यमपञ्चमाः, षड्जो वेदे शिखण्डीः स्यादृषभः स्यादजामुखे, गावो रंभन्तिधारं तु क्रौंचाश्वैवतु मध्यमम् ॥ कोकिलः पंचमव्रते निषादंतु वदेद्गजः, आश्वश्च धैवतो ज्ञेयः स्वरा सप्तेतिगीयते।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अनुदात्त स्वरित से सप्त स्वरों का समीकरण बताया है। उक्त व्याख्या से यह बात तो स्पष्ट हो जाती है कि उस काल में संगीत के सप्त स्वरों का भली भाँति प्रचार था।

सप्त स्वरों की पशु-पक्षियों की ध्वनियों से भी तुलना की गई है। शिखण्डी की ध्वनि षड्ज स्वर, अज की ऋषभ स्वर, गाय की गांधार स्वर, क्रौंच की मध्यम, कोकिल की पंचम, अश्व की धैवत स्वर में निकलती है।[1]

प्रातिशाख्य ग्रन्थ सप्त स्वरों के विषयमें कुछ अन्य नवीन सूचना भी प्रदान करते हैं। सप्त स्वरों के नाम से यहाँ पूर्वल्लिखित नामों से भिन्न मिलते हैं। यहाँ सप्त स्वरों का यम[2] नाम से सम्मिलित उल्लेख प्राप्त होता है तथा प्रत्येक स्वर के लिये क्रमशः क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मंद्रा, अतिस्वार्य संज्ञाएं प्राप्त होती हैं।[3] ऋग्वेद प्रातिशाख्य की व्याख्या में उक्त दो विभिन्न संज्ञाओं का समाधान भी प्रस्तुत किया गया है कि षड्जादि सप्त स्वर गांधर्व वेद में प्रयुक्त संज्ञाएं है एवं क्रुष्टादि यज्ञ नाम सामवेद में प्रयुक्त सप्त स्वरों की संज्ञाएं हैं।[4] स्वरों के अतिरिक्त उक्त शिक्षा प्रातिशाख्य ग्रन्थ संगीत संबंधी त्रिस्थानों पर भी प्रकाश डालते हैं। सप्त स्वरों का उच्चारण तीन स्थानों मंद्र, मध्य एवं उत्तम में किया जा सकता है।[5] 'उत्तम' के स्थान पर "तार" संज्ञा भी प्राप्त होती है।[6] यही तीन स्थान आगे चलकर संगीत के तीन सप्तकों के रूप में प्रचलित हुए। मंद्र स्थान का संबंध उरस मध्य का कण्ठ एवं तार का शिर से होता है।[7] तीन स्थानों का संबंध प्रातः, मध्याह्न आदि समय एवं गायत्री त्रैष्टुभ् जगती छन्द से दिखाया गया है।[8] "सामगान" के स्वर ग्राम के

१—याज्ञ० शिक्षा १–७–८–९।

२—ऋ० प्राति० १३–४२–४४ तैति० प्राति० २२–१३।

३—तैत्तिरीय प्रातिशाख्य २२–१३ पृ० १८३ ऋ० प्रा० १३- ४२–४४।

४—ऋ० प्रा० भाष्य पृ० ३९७।

५—ऋ० प्रा० १३-४२–४४।

६—तै० प्रा० २२–२१ मन्द्रमध्यताराणि भवंति। पाणिनीय शिक्षा–७–८।

७—वही०।

८--पाणि० शिक्षा ७–८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संबंध में अभी तक कोई निश्चित मत नहीं स्थापित हो पाया है। स्थानाभाव से यहाँ इस विवादास्पद विषय की चर्चा संभव नहीं है।[1]

वृत्ति नामांकन के अन्तर्गत संगीत संबंधी लयों की भी सूचना प्राप्त होती है यथा-विलंबित, मध्य एवं द्रुत।[2]

संगीत संबंधी कुछ वाद्यों का भी यत्र तत्र उक्त ग्रन्थ उल्लेख करते हैं। अलाबु वीणा, वीणा, वाण, वेणु, तूणव, दुन्दुभि आदि का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है।

अलाबु वीणा का संभवतः इतना अधिक प्रचार रहा होगा कि उसकी ध्वनि विशेष से सभी परिचित रहे होंगे। इसी कारण उसकी ध्वनि की उपमा अनुस्वारों के उच्चारण से दी गई है।[3] उक्त अंश की व्याख्या के आधार पर यह अनुमान स्वाभाविक है कि यह वीणा अलाबु की तुम्बी से युक्त होती थी एवं इसकी ध्वनि भी कुछ कोमल ही प्रतीत होती है। इसी से अनुस्वारों की ध्वनि से तुलना की गई है।[4]

वीणा एवं वाण का भी उल्लेख आया है।[5] तूणव तथा वेणु का सुषिर वाद्यों के अन्तर्गत उल्लेख मिलता है।[6] भाष्य में स्पष्ट ही वेणु को सुषिर गुण से युक्त कहा गया है।[7] तूणव को पूर्व उल्लेखों के आधार पर सुषिर वर्ग में रखा गया है।

आनद्ध वाद्यों में दुन्दुभि का उल्लेख याज्ञवल्क्य शिक्षा[8] में आया है। दुन्दुभि की ध्वनि का अनुमान उक्त अंश से लगाया जा सकता है।

१—द्रष्टव्य "वैदिक स्वर मीमांसा" पं० युधिष्ठिर मीमांसक तथा "Studies of the Samveda" by Barend Faddegon.

२—ऋ० प्रा० १३-४६ विलंबिता मध्यमा च द्रुता च।

३—पाणि० शिक्षा २३ अलाबु वीणा निर्घोषो दन्तमूल्यः स्वरात्
अनुस्वारस्तु कर्त्तव्यो नित्यं होः शषसेषु च॥

४—देखिये भाष्य० काली प्रसाद मिश्र एवं मनमोहन घोष।

५—तैति० ब्रा० १३-१२।

६—तैति० ब्रा० १३-६; १३-१२ शुक्ल यजु० प्राति० ५-५।

७—देखिये भाष्य।

८—६३ ९४।
मेघदुन्दुभिनिर्घोषो ज्ञायते पयसौहृदात्॥
एवं नादं प्रयोक्तव्यं सिंहस्य रुदितं यथा॥

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

मेघ के समान गर्जना अथवा सिंह की गर्जना के समान दुन्दुभि की ध्वनि होती है।

इस प्रकार शिक्षा एवं प्रातिशाख्य ग्रन्थ संगीत के महत्त्वपूर्ण शास्त्रीय पक्षों की भी सूचना प्रदान करते हैं तथा कुछ संगीत संबंधी वाद्यों का भी यत्र तत्र उल्लेख करते हैं।

इस प्रकार इस काल में हमें संगीत का कुछ और विकसित स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। संगीत का समाज में इतना अधिक प्रचार बढ़ गया था कि व्याकरण शास्त्री ने भी इसका उल्लेख अपने ग्रन्थ में यथा स्थान किया। इस काल के संगीत का शास्त्रीय पक्ष भी सबल था जिसका स्वल्प आभास शिक्षा एवं प्रातिशाख्य ग्रन्थ देते हैं। संगीत के कुछ प्रमुख तत्त्व जैसे लय, स्थान, स्वर आदि का उल्लेख यह प्रमाणित करता है कि गायन की पद्धति नियमबद्ध होती थी। संभवतः एक कुशल गायक को संगीत के शास्त्र का ज्ञान अवश्य रहता होगा जिसकी शिक्षा वह शिष्यों को देता होगा। शास्त्रीय पक्ष का व्यावहारिक प्रयोग इस काल की अन्य सामग्रियाँ स्पष्ट कर देती हैं।

अतः संगीत के विकास की दृष्टि से यह काल काफी महत्त्वपूर्ण समझा जा सकता है।

द्वितीय अध्याय समाप्त।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तृतीय अध्याय

(तृतीय सदी ई० पू० से प्रथम सदी ई० पू० तक का संगीत)

इस काल के संगीत का अवलोकन कराने वाली अथवा इस काल के संगीत पर प्रकाश डालने वाली सामग्रियाँ परस्पर भिन्न प्रकार की हैं। साहित्यक सामग्री के अतिरिक्त कुछ मूर्तिकला के अवशेष भी प्राप्त होते हैं जिनका उपयोग साहित्यिक उल्लेखों की परिपुष्टि के लिये किया गया है।

इस काल के संगीत पर प्रकाश डालने वाले प्रमुख साहित्यिक उत्स निम्नोक्त हैं—कौटिल्य कृत अर्थशास्त्र, मनुस्मृति, महाकाव्य, महाभारत एवं रामायण पतंजलि का महाभाष्य, बौद्ध एवं जैन साहित्य (सूत्र)। मूर्तिकला के अन्तर्गत मुख्यत: साँची, भरहुत को देखा जा सकता है। वाद्यों के तादात्म्य के लिये नागार्जुनीकोण्डा, अमरावती आदि की मूर्तिकला का भी उद्धरण दिया गया है क्योंकि ये भी प्रथम द्वितीय सदी ई० पू० की ही मूर्तिकलाएँ हैं।

उपर्युक्त साहित्यिक उत्सों को निम्नोक्त प्रमुख वर्गों में रखा जा सकता है—अर्थशास्त्र को राजनैतिक साहित्य (रौयल एरिस्टोक्रेटिक लिटरेचर); मनु स्मृति को धार्मिक साहित्य (रीलिजस लिटरेचर), महाकाव्य महाभारत एवं रामायण को लोकप्रिय साहित्य (पॉपुलर लिटरेचर), पतंजलि के महाभाष्य को शास्त्रीय (टेक्निकल लिटरेचर) साहित्य तथा बौद्ध एवं जैन साहित्य को ब्राह्मणधर्म के साहित्य से भिन्न धार्मिक साहित्य के वर्ग में रखा जा सकता है। धार्मिक साहित्य तो ये भी हैं तथा मनुस्मृति भी। किन्तु दोनों अपने अपने धर्मानुकूल आचार व्यवहार से संबंधित हैं।

इस प्रकार इस काल के संगीत को भिन्न-भिन्न संदर्भों में देखा जा सकता है। साहित्य के वैविध्य एवं परस्पर वैभिन्न्य से यह अनुमान तो भलीभाँति लगाया जा सकता है कि इस काल में संगीत, समाज के विभिन्न क्षेत्रों में प्रविष्ट हो चुका था तथा संगीत का समाज में विविध उपयोग भी होने लगा था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उक्त साहित्यिक उत्स तथा मूर्तिकला के अवशेष संगीत के सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा व्यावहारिक पक्ष पर तो प्रकाश डालते ही हैं उसके सैद्धान्तिक एवं शास्त्रीय पक्ष पर भी परोक्ष रूप से प्रकाश डालते हैं। सामग्रियों की विभिन्नता एवं वैविध्य को देखते हुए प्रस्तुत अध्याय को खण्डों में विभक्त कर दिया है।

खण्ड 'क'—

(कौटिल्य कृत अर्थशास्त्र में संगीत)

अर्थशास्त्र राजनीति पर लिखा ग्रन्थ होने पर भी यत्र तत्र संगीत संबंधी उल्लेख भी करता है। संगीत को एक कला माना गया है।[1] संगीत कला से संबंधित कुछ महत्त्वपूर्ण संज्ञाएँ इस काल की, विशेषतः मौर्यकालीन, संस्कृति पर प्रकाश डालती हैं। संगीत के तीनों तत्त्वों गायन वादन एवं नर्त्तन पर अर्थशास्त्र यथोचित रूप से प्रकाश डालता है।[2]

अर्थशास्त्र में संगीतकार के लिए 'कुशीलव' संज्ञा प्राप्त होती है। श्री शामाशास्त्री ने 'कुशीलव' का तात्पर्य संगीतकार एवं नट दोनों से लिया है।[3] कुशीलव का जो भी अर्थ लें इतना तो स्पष्ट ही है कि संगीत से उसका संबंध अवश्य ही था।

गायन के लिये उक्त ग्रन्थ में गीत एवं 'गायन' संज्ञा स्पष्ट रूप से प्रयुक्त की गई है।[4]

१—गीत वाद्यपाठ्य नृत्य-नाट्याक्षर चित्रवीणावेणुमृदंगपरचित्तज्ञानगंध-माल्यसंमूहनसंपादमसंवाहन वैशिककला ज्ञानादि।

२—२, २७ पृ० १२५। गतवाद्यपाठ्यनृत्त···नाट्याक्षर।

३—३, १८, पृ० १९४। अनु० पृ० २३७।

तेन श्रुतोपवादः वाग्जीवनानां कारूकुशीलवानां वृत्युपवादः।

४, १, पृ० २०३। अनु० पृ० २४९ As a band of musicians.

कुशीलता वर्षारात्रमेकेस्था वसेयुः १, ३, पृ० ७। १, २१ पृ० ४४। १, १२, पृ० २१ अनु० ४५। अनु० २२। कुशीलवाश्शास्त्रग्निरसवर्ज नर्मयेयुः। यहाँ कुशीलव का तात्पर्य उस संगीतकार से लिया जायगा जो नाट्यादि राजा को दिखाता है।

स्पष्ट ही यहाँ नट से तात्पर्य है।

४—१, १२, २१ 'गीत'। २, १, ४८ गायन। २, २७, १२५ गीत।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तृतीय अध्याय

(तृतीय सदी ई० पू० से प्रथम सदी ई० पू० तक का संगीत)

इस काल के संगीत का अवलोकन कराने वाली अथवा इस काल के संगीत पर प्रकाश डालने वाली सामग्रियाँ परस्पर भिन्न प्रकार की हैं। साहित्यक सामग्री के अतिरिक्त कुछ मूर्तिकला के अवशेष भी प्राप्त होते हैं जिनका उपयोग साहित्यिक उल्लेखों की परिपुष्टि के लिये किया गया है।

इस काल के संगीत पर प्रकाश डालने वाले प्रमुख साहित्यिक उत्स निम्नोक्त हैं—कौटिल्य कृत अर्थशास्त्र, मनुस्मृति, महाकाव्य, महाभारत एवं रामायण पतंजलि का महाभाष्य, बौद्ध एवं जैन साहित्य (सूत्र)। मूर्तिकला के अन्तर्गत मुख्यतः साँची, भरहुत को देखा जा सकता है। वाद्यों के तादात्म्य के लिये नागार्जुनीकोण्डा, अमरावती आदि की मूर्तिकला का भी उद्धरण दिया गया है, क्योंकि ये भी प्रथम द्वितीय सदी ई० पू० की ही मूर्तिकलाएँ हैं।

उपर्युक्त साहित्यिक उत्सों को निम्नोक्त प्रमुख वर्गों में रखा जा सकता है—अर्थशास्त्र को राजनैतिक साहित्य (रौयल एरिस्टोक्रेटिक लिटरेचर); मनु स्मृति को धार्मिक साहित्य (रीलिजस लिटरेचर), महाकाव्य महाभारत एवं रामायण को लोकप्रिय साहित्य (पॉपुलर लिटरेचर), पतंजलि के महाभाष्य को शास्त्रीय (टेक्निकल लिटरेचर) साहित्य तथा बौद्ध एवं जैन साहित्य को ब्राह्मणधर्म के साहित्य से भिन्न धार्मिक साहित्य के वर्ग में रखा जा सकता है। धार्मिक साहित्य तो ये भी हैं तथा मनुस्मृति भी। किन्तु दोनों अपने अपने धर्मानुकूल आचार व्यवहार से संबंधित हैं।

इस प्रकार इस काल के संगीत को भिन्न-भिन्न संदर्भों में देखा जा सकता है। साहित्य के वैविध्य एवं परस्पर वैभिन्न्य से यह अनुमान तो भलीभाँति लगाया जा सकता है कि इस काल में संगीत, समाज के विभिन्न क्षेत्रों में प्रविष्ट हो चुका था तथा संगीत का समाज में विविध उपयोग भी होने लगा था।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

उक्त साहित्यिक उत्स तथा मूर्तिकला के अवशेष संगीत के सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा व्यावहारिक पक्ष पर तो प्रकाश डालते ही हैं उसके सैद्धान्तिक एवं शास्त्रीय पक्ष पर भी परोक्ष रूप से प्रकाश डालते हैं। सामग्रियों की विभिन्नता एवं वैविध्य को देखते हुए प्रस्तुत अध्याय को खण्डों में विभक्त कर दिया है।

खण्ड 'क'—

(कौटिल्य कृत अर्थशास्त्र में संगीत)

अर्थशास्त्र राजनीति पर लिखा ग्रन्थ होने पर भी यत्र तत्र संगीत संबंधी उल्लेख भी करता है। संगीत को एक कला माना गया है।[1] संगीत कला से संबंधित कुछ महत्त्वपूर्ण संज्ञाएँ इस काल की, विशेषतः मौर्यकालीन, संस्कृति पर प्रकाश डालती हैं। संगीत के तीनों तत्त्वों गायन वादन एवं नर्त्तन पर अर्थशास्त्र यथोचित रूप से प्रकाश डालता है।[2]

अर्थशास्त्र में संगीतकार के लिए 'कुशीलव' संज्ञा प्राप्त होती है। श्री शामाशास्त्री ने 'कुशीलव' का तात्पर्य संगीतकार एवं नट दोनों से लिया है।[3] कुशीलव का जो भी अर्थ लें इतना तो स्पष्ट ही है कि संगीत से उसका संबंध अवश्य ही था।

गायन के लिये उक्त ग्रन्थ में गीत एवं 'गायन' संज्ञा स्पष्ट रूप से प्रयुक्त की गई है।[4]

१—गीत वाद्यपाठ्य नृत्य-नाट्याक्षर चित्रवीणावेणुमृदंगपरचित्तज्ञानगंध-माल्यसंमूहनसंपादमसंवाहन वैशिककला ज्ञानादि।

२—२, २७ पृ० १२५। गतवाद्यपाठ्यनृत्त'''नाट्याक्षर।

३—३, १८, पृ० १९४। अनु० पृ० २३७।
तेन श्रुतोपवादः वाग्जीवनानां कारूकुशीलवानां वृत्युपवादः।
४, १, पृ० २०३। अनु० पृ० २४९ As a band of musicians.
कुशीलता वर्षारात्रमेकेस्था वसेयुः १, ३, पृ० ७। १, २१ पृ० ४४। १, १२, पृ० २१ अनु० ४५। अनु० २२। कुशीलवाश्शास्त्रग्निरसवर्जनर्मयेयुः। यहाँ कुशीलव का तात्पर्य उस संगीतकार से लिया जायगा जो नाट्यादि राजा को दिखाता है।
स्पष्ट ही यहाँ नट से तात्पर्य है।

४—१, १२, २१ 'गीत'। २, १, ४८ गायन। २, २७, १२५ गीत।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वादन के लिये वादक संज्ञा प्राप्त होती है। (२. १. ४८) वादन के अन्तर्गत वाद्यों का विवेचन आता है। अर्थशास्त्र में निम्नोक्त वाद्यों का उल्लेख प्राप्त होता है यथा—वाद्यभाण्ड[1] (?) तूर्य[2] (?) वीणा,[3] वेणु,[4] मृदंग,[5] एवं दुन्दुभि। इसमें वीणा, वेणु, मृदंग का स्वरूप समकालीन अन्य साहित्यों द्वारा स्पष्ट किया जा चुका है[6]। 'तूर्य' संज्ञा का अर्थशास्त्र में दो प्रकार से अर्थ लिया जा सकता है। प्रथम वाद्य-वादन द्वितीय वाद्यविशेष 'तुरही'। श्यामाशास्त्री ने प्रायः द्वितीय अर्थ लिया है एवं जिन संदर्भों में इस शब्द का उपयोग किया गया है वे भी इसी अर्थ की पुष्टि करते हैं।[7] राजा के कार्यक्रम की सूचना, प्रहर सूचना इत्यादि तुरही के वादन द्वारा होती थी।[8] जब किसी कार्य की घोषणा की जाती थी, उस समय भी 'तुर्यघोष' अपेक्षित था। इस घोष के पश्चात् यदि कोई व्यक्ति निषिद्ध कार्य करता हो तो उसे बन्दी बना लिया जाता था। किन्तु इसके साथ यह विधान भी था कि चिकित्सक, इत्यादि आवश्यक पेशे वाले व्यक्तियों के साथ यह नियम लागू नहीं था।[9] 'वाद्यभाण्ड' संभवतः उन वाद्यों के लिये प्रयुक्त किया गया है जो बर्तनों से बजाए जाते थे, अथवा जो बर्तन वाद्य के रूप में प्रयुक्त होते थे, वे भी 'वाद्यभाण्ड कहला सकते हैं। जिस प्रकार घट का वादन होता है उसी प्रकार वाद्यभाण्ड का भी होता था। दूसरे शब्दों में वादन के उपयोगी बर्तन को वाद्यभाण्ड कहा है।

१—१, १२, २१ वाद्य भाण्ड।

२—१, १९, ३४ तूर्यघोषेण। २, ३६, १४६ तूर्यशब्दे···तूर्यप्रेक्षाग्निः;

३—२, २७, १२५ वीगावेणु मृदंग।

४वही०।

५—वही०।

६—१३-३- ४०२—३ दुन्दुभिशब्देन।

७—१-१९, ३८ तूर्यघोषेग अनु० पृ० ४० (trumpet)
२-३६-१४६।

८—वही०।

९—वही० सूतिकाचिकित्सकप्रदीपायनेनागरक तूर्यप्रेक्षाग्नि···त्र॥

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संगीत संबंधी वाद्यों के लिये अर्थशास्त्र में 'आतोद्य' संज्ञा प्राप्त होती है।[1]

नृत्य के लिये नृत नर्त्तन इत्यादि संज्ञाएँ प्राप्त होती है।[2] इस प्रकार संगीत के सभी तत्त्वों का उल्लेख अर्थशास्त्र में प्राप्त हो जाता है। यह समस्या अथवा प्रश्न सम्मुख आ सकता है कि यह संगीत किस प्रकार का था—शास्त्रीय अथवा हलका फुलका संगीत।

अर्थशास्त्र में संगीत एवं संगीतकारों का लगभग सभी स्थलों पर राजनीति से संबंधित रूप में उल्लेख आया है। राज्य की सफलता उसके गुप्तचर विभाग की कुशलता पर आधारित होती है और इसी गुप्तचर विभाग से संबंधित रूप से संगीत का अधिकांश उल्लेख उक्त ग्रंथ करता है। शिल्पी नृत्यकार गायक एवं वादकों को गुप्तचर के वेष में अन्तः-पुर में प्रवेश करने का विधान था।[3] राजनीतिक कार्यों के लिए इनका उपयोग किया गया था।

संगीत न केवल राजनैतिक वरन् सामाजिक व्यवस्था के स्वस्थ आदर्शहेतु भी महत्त्वपूर्ण माना गया था। राजा के दैनिक जीवन में प्रहर सूचना के लिये, मनोरंजन आदि के लिये संगीत का विधान था।[4]

संगीत जीविका का साधन भी था। गणिका एवं नटों की जीविका संपूर्ण रूप से संगीत पर आधारित होती थी। इनकी वृत्ति का प्रबंध राजा स्वयं ही करता था। गणिका एवं उसके पुत्रों को गायन विद्या के स्थानों पर सर्वप्रथम प्रवेश दिया जाता था[1]। राजा

१—१, २१, ४४ आतीद्यानिचेषामन्तस्तिष्ठेयुरश्वस्थे द्विपालं—काराश्च।

२—२, १४८ नर्त्तन २, २७, १२५ नृत।

३—१. १२. २१ भिक्षुकी प्रतिषेवेद्धाः स्थापरपरा मातापितृव्यंजनाः शिल्पकारिकाः कुशीलवा दास्यो वा गीतपाठ्यवाद्यमाण्ड गूढलेख्य संज्ञाभिर्वाचारं निर्हार्येयुः॥ १३. ३. ४०२. कारुशिल्पिपाषण्डकुशीलव वैदेहकव्यंजनानायुधीयन्वा परदुर्गं प्राणिदध्यात्।

४—अ० १६।२३–२४ पृ० ३८, अ० २१ पृ० १६ पृ० ४४।

१—२. २७ पृ० १२५ गीतवाद्यपाठ्यनृत्तनाट्याक्षरचित्रवीणावेणुमृदंगपरचित-ज्ञानगंधमाल्यसंमूहनसंपादनसंवाहनवैशिकक ाज्ञानादिगणिकादासी रङ्गोपजी-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के व्यक्तिगत नट नर्त्तक संगीतकार आदि के अन्तःपुर में ही रहने का नियम था। उनके वाद्य का भी प्रबंध राजा स्वयं ही करता था[1]। गणिकाओं से संबंधित संगीत का स्वरूप अधिकांशतः जन साधारण के स्तर का हलका फुलका प्रतीत होता है, कुछ ही गणिकाएँ शास्त्रीय संगीत प्रस्तुत करती हैं। इस वर्ग से संगीत को संबंधित करके कौटिल्य ने संगीत को उच्च वर्गों से कुछ वंचित सा कर दिया है।

संगीतकारों को राज्य एवं समाज का प्रश्रय प्राप्त होने पर भी, राज्य की ओर से कुछ नियंत्रण भी थे यथा-वर्षाऋतु में एक ही स्थान पर रहना, अधिक दान स्वीकार न करना, अन्यथा दण्ड का विधान था। नटों को जाति, गोत्र, मैथुनादि प्रसंग पर परिहास करना निषिद्ध था। अश्लीलता एवं मर्मस्थल पर प्रहार करने वाले विषयों का भी प्रयोग निषिद्ध था। संगीत का जहाँ तक मनोरंजन से संबंध है[2] उसपर नियंत्रण नहीं था किन्तु जहाँ हानि की आशंका होती है वहाँ उचित नियंत्रण स्वाभाविक प्रतीत होता है। इन गायक वादक एवं नर्त्तकों में उपद्रव की शक्ति होती थी अतः उनपर राज्य का नियंत्रण रहता था ताकि वे विघ्नकारी कार्य न कर सकें।[3] यही कारण था कि बाहर के नट इत्यादि को प्रवेश की अनुमति नहीं दी गयी थी[4]। कुशीलवों की निन्दा करने वाले को दण्ड दिया जाता था[5]। राजनैतिक दृष्टि से इनके महत्त्वपूर्ण स्थान का संकेत प्राप्त होता है।

विनीश्च ग्राह्यतो राजमण्डलादाजीवकुर्यात्। गणिकापुत्रा रङ्गोपजीविनश्च मुख्यनिष्पादयेयुः सर्वतालापचाराणांच ॥ ३. १८ पृ० १९४

१—१. २१. पृ० ४४।

२—१. २१. पृ० ४४। ४. १. पृ० २०३। कुशीलवा वर्षारात्रमेकस्था वसेयुः। कामदानमतिमात्रमेकस्यातिपातं च वर्जयेयुः तस्यातिक्रमे द्वादशगुणो दण्डः। कामदेशजातिगोत्रचरणमैथुनावभासेन नमयेयुः कुशीलवैश्चारणादिभिक्षुकाश्च व्याख्याताः। तेषामयश्शूलेन यावतः पणानभिदेयुः तावन्तः। शिफाप्रहारा दण्डाः शेषाणः कर्मणां निष्पत्ति वेतनशिल्पिनां कल्पयेत् ॥

३—१२. १. पृ० ४८।

४—२. ४ पृ० ६६।

५—३. १८ पृ० ९४ तेन श्रुतोपवादः वाग्जीवनानां कारूकुशीलवानां वृत्युपवादः।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस प्रकार निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अर्थशास्त्र में वही संगीत विहित था जो राजनैतिक एवं सामाजिक व्यवस्था के लिये वांछनीय था।

खण्ड 'ख'

(मनुस्मृति में संगीत)

मनुस्मृति कट्टर हिन्दू धर्मावलम्बियों अथवा ब्राह्मण वर्ग का ब्राह्मण धर्म के आचार व्यवहार से संबंधित ग्रन्थ है। इस प्रकार यह धार्मिक साहित्य का प्रतिनिधित्व करता है। मनुस्मृति कट्टर धर्मशास्त्री द्वारा विरचित भी है। यह ग्रन्थ धर्म संबंधी नियमों के साथ ही साथ स्फुट रूप से संगीत का भी दिग्दर्शन कराता है।

मनुस्मृति में साम गायन का उल्लेख बहुधा किया गया है। सामगायन की उच्चता का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। "साम" को प्रतिष्ठित माना गया, इसके अनेक उल्लेख देखे जा सकते हैं।

राजा का यह कर्तव्य था कि वह नित्य प्रातःकाल सामज्ञाता, ऋक् यजु ज्ञाता इत्यादि की सेवा करे[1]।' जिस प्रकार ब्रह्मा के चार मुख होते हैं उसी प्रकार, जहाँ यजु, साम, ऋक् ज्ञाता तीन वेदज्ञ ब्राह्मण तथा राजा से अधिकार प्राप्त ब्राह्मण बैठता है, ऐसी सभा भी ब्रह्मा की सभा के समान मानी जाती है[2]। स्पष्ट ही सामवेत्ता का श्रेष्ठ स्थान था।

धर्म संबंधी संदेह निवारण के लिये जो तीन तत्त्वज्ञ ब्राह्मणों की सभा होती थी, उनमें एक स्थान सामवेत्ता को भी प्रदान किया गया था। जिससे सामवेत्ता के महत्त्व का आभास मिलता है[3]।

पंक्ति पावन ब्राह्मणों की सूची में ज्येष्ठ सामगायक को रखा गया है[4]। सामवेद के देवता पितर माने गये हैं तथा एक स्थल पर यह

१—मनु० अ० ७-३७।

२—वही० ८-११।

३—वही १२. ११२।

४—वही ३. १८५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उल्लेख आया है कि जब ऋक् एवं यजुर्वेद का अध्ययन होता हो एवं साम की ध्वनि आये तो अध्ययन बंद कर देना चाहिये[५]। साम-वेद को यहाँ अपवित्र इसलिये कहा गया कि उसका संबंध पितृजनों से माना गया है और पितृ कर्म के पश्चात् हाथ धोया जाता है परंतु वास्तव में वह अपवित्र नहीं है। गीता में सामवेद को वेदों में श्रेष्ठ कहा गया है[६]। साम गायन से विद्यार्थियों का ध्यान, एकाग्रता आदि बाधित हो जाने की आशंका से ही संभवतः "सामध्वनि के श्रवण के साथ" अनध्याय का संबंध जोड़ा गया प्रतीत होता है।

मनुस्मृति में लौकिक संगीत को संभवतः विशेष सम्मानित स्थान नहीं दिया गया था। नर्त्तन गायक की जीविका वाले ब्राह्मणों को शूद्र के समान माना गया था[3]। मनुस्मृति में इस प्रकार का आदेश दिया गया है कि राजा कुशीलवों को अपने राज्य से बाहर कर दें[४]। गायक के अन्न को खाने का भी निषेध किया गया था[५]। नट, गायक वादकादि को साक्षी बनाने का निषेध किया गया था[६]।

राजाओं के साथ संगीत का संबंध पूर्ववत् ही था। मनु ने यह विधान दिया है कि राजा अन्तःपुरः में वाद्यों की ध्वनि से प्रहर्षित होकर सोये एवं जागे।[७]

संगीतकारों को सम्माननीय स्थान दिया गया था। इस विषय पर कोई निश्चित प्रमाण नहीं क्योंकि ब्राह्मण वर्ग जो श्रेष्ठ वर्ग समझा जाता था उनमें संगीत का अधिक प्रचार नहीं था।

मनु ने एक स्थल पर विभिन्न वर्गों के कार्य का निर्देश करते हुए वेणों (अम्बष्ट कन्या से उत्पन्न पुत्र) का कार्य भी बताया है। ये कांस्य वाद्यादि के वादक थे इनका कार्य ही उक्त वादन था।[८]

५—वही ४१ २३–२४।

६—गीता० १०-२२ वेदानां सामवेदोऽस्मि।

१—मनु० ८. १०२।

२—वही० ६. २२५।

३—वही० ४. २१०।

४—वही० ८. ६५।

५—वही० ७. २२५।

६—वही०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

धार्मिक ग्रन्थ होने के कारण धार्मिक संगीत को प्रतिष्ठित दिखाना स्वाभाविक ही था और इसी लिये कुछ एक पक्षीय सा भी प्रतीत होता है। तत्कालीन लौकिक संगीत को समझने के लिये एवं निष्पक्ष विचार के लिये समकालीन अन्य साहित्यों का भी अवलोकन आवश्यक है।

खण्ड 'ग' 'अ' महाकाव्य

महाभारत में संगीत

महाभारत में संगीत के प्रचुर उल्लेख प्राप्त होते हैं। गायन, वादन एवं नृत्य के बहुधा साथ साथ एवं कभी कभी भिन्न-भिन्न भी उल्लेख मिलते हैं। इसके लिये 'गांधर्व संज्ञा मिलती है।...गान्धर्वो नाम नामतः। १३. १६. ४९। महाभारत में संगीत की पूर्व प्रचलित तीनों धाराओं को देखा जा सकता है। अन्तर मात्र इतना है कि यहाँ साम गायन एवं गाथा इत्यादि का एक साथ उल्लेख मिलता है। अतः इसे यदि (महाभारत में उल्लिखित गान्धर्व को) सम्मिलित रूप से धार्मिक संगीत कहा जाय तो अनुचित न होगा।

महाभारत में साम गायन एवं गाथा—

महाभारत में साम एवं गाथा गायन[1] का बहुधा उल्लेख मिलता है। जैसा इसके संदर्भो से स्पष्ट है, सामगायन एवं गाथाओं का संबंध

१—२. ११. २६ सामानि स्तुतिशास्त्राणि गाथाश्च विविधास्तथा ॥ २. ७१. २१–२२ कृत्वा तु नैऋतान्दर्भान्धीरो धौम्यः पुरोहितः। सामानि गायन्याम्यानि पुरतो यति...भारत ॥ एवं सामानि गास्यन्तीत्युक्त्वा धौम्योपि गच्छति ॥ २. ७०. ३८–३९. ४० पृ० ३६९। सातवलेकर संस्करण देखिये ॥ यज्ञविदाङ्गविद्भिश्च यजुर्विद्भिश्च शोभितम्; मधुरैः सामगीतैश्च ऋषिभिर्नियतव्रतैः ॥ भारुण्डसामगीताभिरथैश्चशिरसोद्गतैः। यतात्मभिः सुनियतैः शुशुभे स तदाश्रमः ॥ अथर्ववेदप्रवराः पूगयज्ञियसामगाः॥ संहिताभिरयन्ति स्म पदक्रमयुतां तु तै। २. ११२. १३; ३. ३०. ३५; ३. ४४.२८ तत्रस्म गाथा गायन्ति साम्ना परमवल्गुना। गंधर्वास्तुम्बुरुश्रेष्ठा कुशला गीतसामसु। ३. ८९. १३ विश्वावसोश्चतनयद्गीतं नृत्यं च साम च। वादित्रं च यथान्यायं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पूर्व की भाँति ब्राह्मणों से तो था ही, किन्तु विश्वावसु इत्यादि गंधर्वों के साथ भी था। आश्रम जहाँ ऋषि मुनि बास करते थे सदा साम एवं अन्य वेद-मन्त्रों से प्रतिध्वनित होता रहता था। ऋषि मुनि आदि तथा पुरोहित एवं गंधर्व लोग साम का गायन करते थे। साम के कुछ प्रकारों जैसे ज्येष्ठ, भारुण्ड बृहत् आदि के उल्लेख यह भी संकेत करते हैं कि साम गायन के प्रकारों से भी ये गायक परिचित थे।

गाथा का अर्थ जैसा कि पूर्व अध्यायों में कहा जा चुका है, राजा अथवा यजमान की प्रशस्ति का गायन ही है, इसी रूप में उल्लेख प्रायः यहाँ भी प्राप्त होता है। राजाओं की प्रशस्ति का गायन गाथा गायन ही कहलाता था।

सामगायन एवं गाथाओं के उक्त उल्लेख को देखकर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इसकाल में यद्यपि इसका प्रचार था किन्तु उतना अधिक नहीं जितना वैदिक काल एवं सूत्रकाल में था। इस काल में आकर धीरे धीरे धार्मिक संगीत का ह्रास एवं लौकिक संगीत का प्राबल्य हो रहा था।

महाभारत में लौकिक संगीत-गायन—

महाभारत गायन का वादन एवं नृत्य के साथ तथा अलग भी उल्लेख करता है। गायन के लिये 'गीत' संज्ञा बहुधा अनेक स्थलों पर प्रयुक्त की गई है।[1] गायन विभिन्न अवसरों पर होता था। अर्जुन

प्रत्यविन्दद्यथाविधि। ३. ९३. २३; ३. ८९८. १३; १. १५६. २८; ५. १०९. ९–१०; ६. '३२. ३५ बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहं'''। १५. २५. १७।

१—१२-१३८-२६ गीतवादितम्। १-११४-४३ गंधर्वैः सहितः श्रीमान्प्रागायत च तुम्बुरुः। ४८—गीतमाधुर्यसम्पन्नो। १-७१-२२ गायन्नृत्यन्वाद श्च।। १-२०४-८ गीतैश्च स्तुतिसंयुक्तैः। २-४-४ वादित्रैर्विविधैगीतैर्गन्धैरुच्चावचैरपि। २-४-२३ गीतवादित्रकुशला। गायन्ति दिव्यतानैस्ते। २-८-२१ नृत्यवादित्रगीतैश्च। २-८-३५ वाद्रित्र नृत्त गीतं। २-९-२३ गीतवादित्रवन्तश्च २-१०-९ दिव्यतानेन गीतानि। २-१०-१२–१३ नृत्यगीतविशारदा। नृत्यगीतैश्च सा सभा। ३-४४-७ दिव्यगीतनिनादितम्। ३-४५-३२ नृत्य-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के जन्म के पूर्व जब देववाणी हुई थी उस समय अप्सरावृन्द ने गायन वादन किया था एवं प्रसिद्ध गंधर्व तुम्बुरु ने गंधर्वों के साथ मिल कर गीतारंभ किया था[1]। द्रौपदी के स्वयंवर स्थल में नानादेशों से नट, वैतालिक, सूत, मागध आदि को निमंत्रित किया गया था ये मंगल गान करते थे[2]। कौमुदी महोत्सव नामक उत्सव में अन्य शब्दों के साथ 'गीत गाओं' की ध्वनि का भी उल्लेख प्राप्त होता है[3]। जब कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर सभा में प्रविष्ट हुए थे उस अवसर पर भी मल्ल, नट सूत, झल्लादि ने मंगल स्तुतियों द्वारा उनकी उपासना की थी[4]।

युधिष्ठिर की उपासना जो लोग करते थे उनके अन्तर्गत चित्रसेन, आमात्य सहित तुम्बुरू गंधर्व, किन्नर अप्सराएँ आदि भी आती थीं।

वादित्रगीतानां। ३-८९-१३ विश्वावसोश्च तनयाद्गीतं। १-१५६-२८ गीत साम स्वनस्तात। ३-१५५-८४ गीतानां। ३-१६४-५६ श्रृण्वन्ते गीतशब्दं। ३-१६०-८-९। गीतशब्दे। ३-२५९-४ नृत्यगीतविशारदाः। ४-२-२४ गीतं नृत्तं विचित्रं च वादित्रं। ४-१०-८–गायामि नृत्याम्यथ वादयामि मद्रोऽस्मि नृत्ते कुशलोऽस्मि गीते। ४-१०-१२ गीतवादितसुता। ४-१२-२६ गीतेन स्वनृतेन। ४-१८-१२ स्त्रियो गीतस्वनं तस्य मुदिता। ४-३५-१५–१६ गीतं वा यदि वा नृत्तं वादित्रं वा पृथग्विधम्। बृहन्नले गायनो वा नर्तनो। ४-६७-२८: ५-११-११।५-१४ ८ षट्पदैरुपगीतानि प्रफुल्लानि सहस्रशः। ५, २६,६;५, ८८,१६, ५, १२१, ४. ५,१३९,३२; ६,३,७ नृत्यन्ति गायन्ति। ७-५८ ३ जगुर्गीतानि गायकाः। ७-६१-१३ गीतैश्च विविधैरिष्टैः। ७, ६१, १७; ८, १७, ७। ८, ३०, १६–१७; ८, २७ ५; १३, १४, १०८; १३-१४, १५६–१५२–४०१, १३, १७. ११७; १३. २३. १५; १३. ३२. ३२; १३. ६३. ८६; १३. ९०. ६–४७; १५. ४०. १६; १८ ६. ४३ सातवलेकर संस्करण। १४. ५३. १० गीतयोषैर्महाध्वरे। १४. ९० ३८–३९ गीतकोविदा। गंधर्वा गीतकुशलाः। १२, २१२ ५०; १२. १६८. ४६; १२. १७१. ५५; १२. ३६१. २७; १२. ३१४ ४;।

१—१. ११४. ४८।

२—१. १७५. १६; १, १७९-१९।

३—१. २१२. ३२ सातवलेकर संस्करण।

४—२. ४. ५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ये संगीतकुशला थीं। तथा ये संगीत के नियमों से युक्त गायन करते थे। यथा प्रमाण लय स्थान एवं तानों से युक्त गायन-वादन करते थे[1]। सभा में सर्वदा गंधर्व एवं अप्सराओं के गायन नृत्यादि हुआ करते थे[2]। लोकपालकी सभा में गंधर्व अप्सराएँ वरुण की स्तुति करके आती थीं। कच ने शुक्र की उपासना के पश्चात् गीत नृत्य एवं वाद्यों द्वारा देवयानी को प्रसन्न किया था। तदुपरान्त देवयानी भी उनकी सेवा करने लगी[3]। गंधर्व एवं अप्सराएँ जहाँ रहती थी, वह स्थान सदा गीतों से निनादित रहता था[4]। अर्जुन ने विश्वावसु से नाचने गाने की विद्याको भी सीख लिया था[5]। इतना ही नहीं वे यह भी कहते हैं कि विश्वावसु का पुत्र चित्रसेन उनका मित्र बन गया था एवं उन्होंने उत्तमवाद्यों तथा गीतों के शब्द सुने तथा अप्सराओं के नृत्य भी देखे थे[6]। राजा परीक्षित का भी अन्य स्थल पर उल्लेख आया है जहाँ वे पोखरे के समीप सोते समय मीठे स्वरों से युक्त गीत का श्रवण करके यह सोच रहे थे कि यहाँ तो मनुष्य नहीं, तो यह गीत किसका है[7]। गायन-वादन-कुशल राक्षसियों का भी उल्लेख महाभारत में आता है जो विश्रवा नामक ऋषि को प्रसन्न करने के लिये कुबेर द्वारा दी गयी थीं[8]। कुशल गायन से सभी लोग प्रभावित हो जाते थे। अर्जुन ने इसी कौशल से राजा विराट के अन्तःपुर की स्त्रियों का मन वश में किया था[9]। विवाह के अवसर पर वादन-नृत्य के साथ गायन का भी आयोजन होता था[10]।

१—२. ४ ३१–३२; ४. १७–१९।

२—२. ८. २१–३५; २. ९. २३; २. १०. ६; २. १०. १२–१३।

३—१. ७६. २४–२६ सातवलेकर संस्करण।

४—२. १२०. ११ सातवलेकर संस्करण।

५—३. ८९. १३।

६—३. १६४. ५६। शृण्वन्वै गीतशब्दं च तूर्यशब्दं च पुष्कलं पश्यंश्चाप्सरसः श्रेष्ठा नृत्यंतीर्भरतर्षभ।

७—१. १९०. ८–९।

८—३. २५९. ४।

९—४. १२. २९; ४. १८. १२;।

१०—४. ६७. २८;।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राजाओं के शयन एवं जागरण गायन एवं सूत मागध-बन्दियों की स्तुति के साथ होते थे।[1] राजा ययाति के सम्मुख गंधर्व एवं अप्सराएँ नृत्य एवं गीत करती थीं।[2] सेनाओं के मध्य युद्ध क्षेत्र में भी गायन एवं बन्दीजनो की स्तुती हाती थी। जब यह नहीं होता था तो यह आश्चर्यजनक समझा जाता था।[3] अर्जुन की जयद्रथवध प्रतिज्ञा के अवसर पर भी सूतमागधों ने मँगलसूचक गीत गाये थे।[4] मनुष्य के अतिरिक्त राक्षसियां भी जब अत्यन्त प्रसन्नता में होती थीं तब गायन वादन करती थीं।[5] तीर्थस्थान भी सदा गीत शब्द से प्रतिध्वनित रहते थे। गंधर्व-अप्सराएँ इस स्थान पर गायन-वादन-नृत्य करती थी।[6] आश्रमों की शोभा के वर्णन में किन्नरियों के गीतों का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[7] नारद की तपस्या से प्रसन्न होकर महादेव ने उन्हे यह वरदान दिया था कि गीतवाद्य द्वारा यह सदा उनके अनुगत रहेंगे एवं उनके समान तेज तपस्या एवं कीर्ति में कोई न होगा।[8] स्वयं महादेव भी भक्तों के लिये अनेक स्वरूप धारण करते थे कभी हँसते कभी गाते नाचते थे।[9] महादेव के अनुचर भी नृत्य गीतादि से परिपूर्ण होते थे।[10] देवताओं के महागीत नृत्यादि से सेवित होने के और भी उल्लेख आते हैं जहाँ रति एवं नर को महानृत्य, महागीत एवं अप्सराओं से सेवित कहा गया है।[11] राजा जब कोई दान करता था

१—५. ८८. १६; ५. ६२. ४; ५. १३८. २६; ७. ७२. ४१; ७. ८२. २–३–४–२८ सात० सं०।

२—५. १२१. ४।

३—७. ५०. १२; ७. ६१. ७ सात० सं०। ७. ६१. २०।

४—७–८४. ०२–१३ सात० सं०। ८. ६४. १–२–३।

५—८. ३०. २८–२९–३०; ८. ३०–१६–१७;। ८. २७–५ सात०।

६—९. ३७. ९–१० सात०।

७—१३. १४. ५३ सात०।

८—१३. १४. १०८ सात०।

९—१३. १४. १५६ सात०।

१०–१३. १४. २५२ सात०। १३. १९. १७–१८ सात०।

११–१३. १७. ११७ सात०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अथवा दिव्य कार्य करता था उस समय उनके समीप अप्सराएँ नृत्य गीत करती थीं। जैसा बाज के कहने पर शिवि राजा का अपने शरीर को तुला पर रखते समय भी देखा जा सकता है।[1] दिव्य लोक या स्वर्ग-सदा नृत्य गीत से युक्त होता था अतः जो लोग संग्राम में वीरता से मरते थे उनके लिये स्वर्ग प्राप्ति का विधान था।[2] जो व्यक्ति अच्छे कार्य करके मृत्यु प्राप्त करता है, वह मृत्यु पश्चात् गीत-निपुण गंधर्व-अप्सराओं से सुशोभित पुण्यवानों के निवास-स्थान को सहज ही प्राप्त कर लेता है।[3]

इस प्रकार महाभारत में गायन के अनेक स्थलों पर उल्लेख देखे जा सकते हैं। बहुधा वादन-नृत्य का भी साथ ही उल्लेख आता है।

गायन-संबंधी कुछ शास्त्रीय शब्दों के भी संकेत महाभारत में मिलते हैं यथा—प्रमाण, लय, स्थान, मूर्च्छना, तान, आलाप,—ताल, सप्तस्वरों के नाम इत्यादि।

प्रमाण[4]—यह संगीत की एक पारिभाषिक संज्ञा है। इसका संबंध लय से होता है। द्रुत, मध्य एवं विलंबित तीन प्रकार की लय को प्रमाण कहा जा सकता है।

लय[5]—काल की नियमित गति संगीत में लय कहलाती है। लय को हाथ से तथा वाद्यों द्वारा भी दिखाया जा सकता है।

स्थान[6]—इसका उल्लेख पूर्व अध्यायों में भी आ चुका है। यह संगीत में सप्तक का द्योतक है। मद्र, मध्य एवं तार ये तीन सप्तक ही स्थान भी कहे जाते हैं।

मूर्च्छना[7]—इसकी व्याख्या पहले की जा चुकी है।

१—१३ ३२. ३०—३२।

२—१३. ६३. ८६ सात०।

३—१८. ६- ४३।

४—२, ४, ३२। प्रमाणेऽथ लये स्थाने किंनराः कृतविश्रमाः।

५—वही०।

६—वही०।

७—४. १६. ८; वीणेव मधुराभाषा (मधुरालापा) गांधारं साधु मूर्छिता अभ्यभाषत पांचाली भीमसेनमनिंदिता।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आलाप[1]—यह भी शास्त्रीय संगीत का एक तत्त्व है।

तान[2]—यह भी गायन में प्रयुक्त होने वाला प्रमुख तत्त्व होता है। जिस प्रकार कुछ स्वरों के माध्यम से विलंबित गति में गायन होता है वह आलाप है उसी प्रकार स्वरों के द्रुतगति एवं क्रमानुसार चढ़ाव उतार से गायन करना तान कहलाता है।

सप्तस्वर[3]—इसके नाम महाभारत में स्पष्ट रूप से षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम धैवत, निषाद रूप में प्राप्त होते हैं। गांधार स्वर तथा गांधार की मूर्च्छना का भी उल्लेख आता है जो ऊपर देखा जा चुका है। पांचजन्य शंख के ऋषभ स्वर का भी उल्लेख आया है।

ताल[4]—ताल भी संगीत की एक पारिभाषिक संज्ञा है। लय से इसका घनिष्ठ संबंध है। काल की नियमित गति जो कुछ नियमों से बद्ध होती है, वह ताल कहलाती है। ताल हाथ से भी एवं वाद्यों के माध्यम से भी दिया जाता है। इसका गायन वादन नृत्य तीनों में समान महत्त्वपूर्ण स्थान है।

संगीत के शास्त्रीय पक्ष पर प्रकाश डालने वाले उक्त शब्दों को देखते हुए यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि लौकिक संगीत दिन प्रतिदिन विकास की ओर बढ़ रहा था। इन सभी शब्दों की संपूर्ण

१—वही।

२—२ ४. ३३; गायन्ति दिव्यतानैस्तै यथान्यायं मनस्विनः। २. १०. ९ दिव्यतानेन गीतानि गान्ति दिव्यानि भारत।

३—१२. १७७. ३६। षड्जऋषभगांधारा मध्यमः पंचमस्तथा। धैवतश्चापि विज्ञेयस्तथा चापि निषादकः। १५. ४९. ५२। षड्जर्षभौ च गांधारो मध्यमः पंचमस्तथा। अतः परं तु विज्ञेयो निषादो धैवतस्तथा। १३. १७. ११७। गांधारश्च सुवासश्च तपः सक्तो रतिर्नरः। ७. ७९. ३९। पांचजन्यस्य निर्घोष-मार्षभेणव पूरितम्।

४—२. ४. ३१ गीतवादित्र-कुशलाः शम्यातालविशारदाः॥ ७. ५७. ३७ गीत-वादित्रसह्लादैस्तालसास्यसमन्वितं॥ ७, ५०, ११ वीणा वा नाद्य वाद्यन्ते शम्यातालस्वनैः सह॥ १३, १३८-४०१ दिव्यतालेषु गायन्तः स्तुवन्ति भवमद्भुतं। १३, १९—१८ पाणितालसुतालैश्च शम्यातालैः समैस्तथा…।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विस्तृत व्याख्या परवर्त्ती ग्रंथ नाट्यशास्त्र में की गयी है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि संगीत के अन्तर्गत इनका उपयोग प्रचार में था, इसीकी व्याख्या आचार्य भरत ने सिद्धान्त रूप में की है। महाभारत चूँकि लोकप्रिय काव्य है अतः उससे जो सूचना प्राप्त होती है वह संगीत के व्यावहारिक पक्ष पर प्रकाश डालती है, जब कि नाट्यशास्त्र (theory) सिद्धान्त संबंधी ग्रंथ है एवं सैद्धान्तिक व्याख्या प्रदान करता है।

वादन—वादन के अन्तर्गत वाद्य संबंधी विवरण आता है। महाभारत में चारों प्रकार के वाद्यों का उल्लेख प्राप्त होता है।

तत वाद्य—इसके अन्तर्गत वीणा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वीणा के कुछ प्रकारों का भी महाभारत में उल्लेख प्राप्त होता है। यथा विपंची वीणा का स्वर अत्यन्त मधुर होता था। इसका संकेत महाभारत के एक स्थल पर आये उल्लेख से प्राप्त होता है, जहाँ गांधार स्वर की मूर्च्छना ध्वनित करती हुई वीणा के समान मीठे स्वर से द्रौपदी की तुलना की गयी है[1]। गांधार तानपूरे का स्वयंभू स्वर होता है।

द्रोपदी के स्वयंवर के अवसर पर वेणु आदि वाद्यों के साथ वीणा की भी ध्वनि गूँज रही थी[2]। वीणा का वादन अन्य अवसरों पर मृदंगादि के साथ भी होता था[3]। राज्य में बजने वाले मंगलसूचक वाद्यों के अन्तर्गत वीणा को भी रक्खा गया था[4]। यज्ञस्थल पर भी नृत्य की संगत के साथ वीणावादन का उल्लेख आता है। विश्वावसु नामक गंधर्व प्रेम से वीणा का वादन करता था[5]। नारद भी वीणा वादन करते थे। इनकी वीणा का नाम कच्छपी[6] वीणा था, जो कि

१—४-१६-८।

२—१, १७८. १४ वेणुवीणापणवानुनादम्।

३—१. २१४. २५ वेणुवीणामृदंगानां०।

४—७. ५०. ११।

५—७. १६१. ७ सात० सं०।

६—६. ५४-१६ कच्छपीं सुखशब्दां तां गृह्य वीणां मनोरमाम्।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मनोहर शब्दवाली वीणा थी। इस वीणा का संभवतः एक सिरा कच्छप के आकार का होता था, जैसा इसके नाम से स्पष्ट है। इस प्रकार के आकार को आज भी प्रचार में देखा जा सकता है। मनु ने तो यहाँ तक कहा है कि वीणा इत्यादि घर में रखने का प्रयोजन देव, ब्राह्मण एवं अतिथियों की पूजा ही है।[१] व्रतधारी पुरुष वीणा वल्लकी[२] इत्यादि के मधुर स्वरों से जागते थे।

संकल्पी एवं निष्पाप पुरुषों के लिये यह विधान था कि मृत्यु पश्चात वे वीणा मृदंगादि की ध्वनि से संपन्न विमानों में सुख भोग करेंगे।[३] इसके विपरीत जो नीच मांसभक्षी पुरुष हैं वे परलोक में मृदंग एवं तंत्रीस्वरों का श्रवण नहीं कर सकते।[४]

वीणा के स्वरूप पर महाभारत अल्प सा प्रकाश डालता है। इसकी तुलना धनुष से की गयी है। जिस प्रकार धनुष में डोरी लगाने के दो भाग होते हैं, उसी प्रकार वीणा में तन्त्री के लिये दो खूंटियां, जिस प्रकार धनुष में डोरी उस प्रकार वीणा में तंत्री, जिस प्रकार धनुष में लकड़ी होती है उसी प्रकार वीणा में कद्दूयुक्त दांडी होती है, दोनों की ध्वनि महान् होती है। वीणा में जैसे स्वर या वर्ण होते हैं उसी प्रकार धनुष के शर उसके वर्ण तुल्य हैं।[५] इस प्रकार वीणा के प्रमुख अंग-विषयक अल्प संकेत उक्त अंश करता है।

आनद्ध वाद्य--

महाभारत में इस वर्ग के निम्नोक्त वाद्यों का उल्लेख मिलता है—

१—५-४० ९९ अजोक्षा चन्दन वीणा आदर्शो।

२—१३-१०६-४९;-१३-७९-२६। सात० सं०।

३—१३-१०७—६२।

४—१३, ११५-१५।

५—८, १७, ७; ४, ३३, १५—१६; धनुर्युतै रुक्मपुंखैः शरैः संनतपर्वभिर्दिषतां भिंध्यनीकानि गजानामिव यूथपः॥ पशोपधानां ज्यातंत्रीं चापदण्डां महास्वनाम्। शरवर्णां धनुर्वीणां शत्रुमध्ये प्रवादय।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दुन्दुभि,[१] मृदंग[२], आनक[३], मुरज[४], पणव[५], पुष्कर[६], पटह[७], आडम्बर[८], डिण्डिम[९], नन्दिवाद्य[१०], तोमर[११], तथा भेरी।[१२] उक्त वाद्यों के स्वरूप के

१—५, २४, ५; ३, ४४, १; ३, ४१, २१' १, ६३, ३–४; १, १७८, १४; १३, ३२, ३०; १, २१२, ३२; ४-५७, १८; ७, ६४. ४; ६, ५८, ५६; ६, ५५, १०४; ६, ४२, ६; ६, ४१, ६५; ६, १३, २२; ६, १६, २२ ५, १८३, २४; १, १, ७७; ५, ९२, ४; ७, ३८, ३०; ६, ५०, ११; ।

२—१४. ५८. ११. १३. ११५; १५ ३. १५६. १६; ७. ६४. ४; ७. १८. २०. ७. १२. १४; ७. १४. ३७; ३. ६५. ४१–४२; ६. ४२.६; ६. ४२, ४; ६. ४. १७; २. २४. ५; ५. ८८. १६; ७. ३८. ३०; ८. ३१. ४७; ७. ७९. १५; ।

३—३. १५. ७, १. २१४. २५; ७. ६४. ४; ७. १४. ३७; ७. १२ १४; ६. ४७. २३; ६. २३. १३; ७. ३८. ३०' ८. ३१. ४७; ७. ७९. १५; ।

४—१३. १०७. ६२; ७. १८. २०; ६. ५४, ४४' ५. १३६, ३५; ९. ४६. ५६ ।

५—१. १७८. १४, ३. १५६. १६; १३. १७. ५८; ४. ६३. २५; ७. ६४. ४; ६. ९५. ४१–४२; ६. ५६. ४; ६. ४२. ४; ६. २३. १३; ६. १७. १६; ७. ३८. ३०; ८-७-३५; ।

६—३-१६४-५६; १३-११५-१५; ४-४१-११; ६-६५-४१; ६-४१-६८; ५-१५३-२७; ५-९२-४; ९-४६-५७; ८-५३-३७; ७-८२-४ ।

७—३-३९-१४; ६-५५-१०४; ६-१७-१६-६-३-३९ ।

८—७-६४-४; ७-५०-११; ९-४६-५८; ४-६७-२६ ।

९—९-४६-५८; ८-७-३५ ।

१०–४-६३-२८ ।

११–३-१५-७; यह एक प्रकार का आनद्ध वाद्य प्रतीत होता है किन्तु यही एक-मात्र उल्लेख होने से तथा अर्थ की अस्पष्टता से निश्चित कुछ नहीं कहा जा सकता ।

१२–७-५८-४; ४-६७-२६; ७-७९-१५; ८-७-३५; ८-३-४३; ८-३४-२८; ७-३८-३०; ५-८८-१२; ९-४६-५६–५७: सात० सं० ५-८८-१६; ५-१३९ ३५; ५-१४१-१९;-५-१९७-२१; ५-१५३-२७; ६-३-३९' ६-१७-१६; ६-२३-१३, ६-२२-६, ६-४१-३, १३-१०७-६४, ३-१२-६२, ३-४१

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

थिषय में महाभारत के उल्लेख प्रकाश नहीं डालते, किन्तु इनमें से कुछ का स्वरूप तो पूर्वोल्लेखों के आधार पर तथा कुछ आज के प्रचाराधार पर निर्धारित किया जा सकता है। पणव, मृदंग आदि पर अगले अध्याय में पर्याप्त विस्तृत चर्चा की गयी है। भरत ने आनद्ध वाद्यों पर विस्तृत विवरण अपने ग्रंथ में दिया है। डिण्डिम, पटह, मृदंग, भेरी, दुन्दुभि आदि का समकालीन तथा कुछ बाद की मूर्तिकलाओं में भी अंकन किया गया है[१]।

उक्त वाद्यों का उपयोग युद्ध, घोषणा के अवसर पर बहुतायत से होता था। इसके अतिरिक्त संगीत संबंधी उपयोग तो स्पष्ट ही था। इनका गायन, नर्त्तन के साथ संगत के रूप में तथा स्वतन्त्र-वादन भी होता था।

सुषिर वाद्य—इसके अन्तर्गत वेणु[२], क्रकच[३], गोमुख[४], शंख[५], गोविषणिक[६], किलकिला[७], आदि वाद्यों का उल्लेख बहुतायत से मिलता है। उक्त वाद्यों में क्रकच एवं किलकिला का प्रथम बार महा-

---

४१, ४-६३-२७, ७-२०-१३३-७-१८-२०, ३-१५६-१६, ७-१-१६, ७-१२-१४, ७-१४-३७, ६-६५-४१-४२, ६-५६-१, ४-४१-११, ४-५३ १०, ६, ५४-४३-४४, ६, ४७-२३, ४-४७, २३ ६-५५-१०४, ।

१—देखिये फलक ४ चित्रसंख्या ५ तथा फलक १, चि० सं० ६, ७।

२—५-८८-१०, वेणुनिःस्वनैः। १३-१७-५८, १४-५८-११, ५-८८-१२, ५-८८-१६, ५-६२-२७, १, २१४-२५, १३-१०६-४६, १३, १७ १५८-१७८-१४।

३—६-४६-५८ चक्रकचान। ७, ३८-३०; ६-४१-३; ६-४२-४।

४—६-४६-५८ पणवानकगोमुखाः। ७-५८-४, ६-२६-१३; १-७१-२२; ८ ७-३५ ६-६७-२६।

५—देखिये फलक ५ चित्र २। भेरी संबंधी उल्लेख देखिये; शंख रणवाद्यों मे प्रमुख था। योद्धाओं के अपने अपने शंखों के विशिष्ट नाम होते थे। पांचजन्य ऐसे ही एक शंख का नाम था।

६—६-४६-५८ गोविषणिकान्। ६-४१-३; ६-४२-४।

७—६-४२-४ किलकिलाशब्दाः। १४-५८-१० किलकिलाशब्दैर्भूरमुत्सुमनोहरा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भारत में ही उल्लेख मिलता है। किलकिला नामक वाद्य का आज भी आदिवासियों में प्रचार देखा जा सकता है। क्रकच भी सिंघनी के समान ही कोई वाद्य प्रतीत होता है जिसका रणसंबंधी उपयोग ही अधिक प्रचलित था। उक्त वाद्यों का भी युद्ध एवं संगीत संबंधो दोनों प्रकार से प्रयोग होता था।

घनवाद्य——घनवर्ग के निम्नोक्त वाद्यों का उल्लेख आया है- झर्झर,[1] स्वस्तिक,[2] करताल,[3] इत्यादि। हाथ से ताल देने का भी उल्लेख "पाणि स्वर"[4] के रूप में मिलता है। झर्झर स्पष्ट ही झाझ का द्योतक है। यह धातु का बृहद् आकार का मजीरेनुमा वाद्य होता है, जिसका प्रमुख उपयोग सेना में होता है। आज इसका उपयोग बारात इत्यादि के अवसर पर देखा जा सकता है। स्वस्तिक एवं करताल भी इसी प्रकार के हैं, किन्तु बड़े आकार के नहीं होते। करताल का एक उदाहरण कलकत्ता संग्रहालय में तथा भरहुत की कला में देखा जा सकता है।[5] उक्त वाद्यों का उपयोग लय के लिये किया जाता है। ताल अथवा लय हाथ से भी दिया जाता है और इसका उल्लेख "पाणिस्वर" के रूप में देखा जा सकता है। हाथ से ताल देने वालों का भी वादकों में एक वर्ग था। ताल की सशब्द एवं निःशब्द क्रियाएं होती हैं, जो हाथ से भी दिखाई जाती है। शम्या एवं ताल ऐसी ही सशब्द क्रियाओं का द्योतक है।[6] ताल एक घनवाद्य का भी नाम था जो अत्यधिक प्रचार में था। नृत्य की संगत में इनका प्रयोग बहुतायत से होता था। इसके अतिरिक्त अन्य वाद्यों की भांति इसका भी युद्ध व संगीत दोनों में उपयोग होता था।

१—७. ५८. ४; ७. ७६. १५ झर्झरेष्वानकेषु। ८. ७. ३५; ९. ४६. ५८; ७. ३८. ३०।

२—४. ६३. २७; स्वस्तिकपाणयश्च।

३—७. ५८. २; १३. १७. १३०; ७. ५०. ११।

४—वही।

५—देखिए फलक १ चित्र० ११।

६—देखिए फुटनोट (३–४); १३. १९. १८। पाणितालसुतालैश्च शम्याताल-समैस्तथा॥

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तूर्य[1]—"तूर्य" संज्ञा वाद्यों के सम्मिलित अर्थ में प्रयुक्त की गयी है। श्री सातवलेकर ने तुरहियों के अर्थ में तूर्य की व्याख्या की है। कुछ स्थलों में यही अर्थ सार्थक भी प्रतीत होता है,[2] किन्तु अधिकांश रूप से तूर्य संज्ञा वाद्यों के लिये ही प्रयुक्त की गई है।

नृत्य—नृत्य के उल्लेख महाभारत में अनेक स्थलों पर आये हैं। कहीं गायन कहीं वादन के साथ तथा कहीं स्वतंत्र रूप में नृत्य को देखा जा सकता है।[3] नृत्य अनेक अवसरों पर होता था। आदि पर्व में अर्जुन के जन्म के समय देववाणी के अवसर पर अप्सराओं तथा गंधर्वों के गायन वादन के साथ-साथ प्रशम्लोचना अप्सराओं रंभा, मनोरमा, सुप्रिया आदि के नृत्य का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[4] भरहुत की कला में इन अप्सराओं में से चार के नाम प्राप्त होते हैं, जो नृत्य कर रही है।[5] द्रौपदी की स्वयंवरसभा नट नर्त्तकों से सुशोभित थी।[6]

१—६. ११६. ४; १. १७९. १९ शतांगानि च तूर्याणि। ३. २१८. ३७, ३, १६४. ५६ गीतशब्दं च तूर्यशब्दं। : ७. ५० ११ नाद्य नन्दन्ति तूर्याणि ७. ५०, ११; ८, ३४. २८। ६, १०१. ४–११ "तूर्याणि गणिकावारास्तथैव न[illegible]नर्त्तका:। उपानृत्ये जगुश्चैव वृद्धं कुरुपितामहम् ॥ ४ ॥ कम्पन्ते च हसन्ते च नृत्यन्ति च रुदन्ति च ॥ ११ ॥ ६. ९६. २८; १६, ४, ४; ६, ५८, ५६; १२, ३११, १४; १४, ९०, ३९ गंधर्वा गीतकुशला नृत्तेषु च विशारदा: ॥ ६, ३, ७; ७, ६४, ५८, ७, १२०, ४१; १४, १३, १७; १२, ३०१, २७।

२—४, ६३, २८; पणवास्तूर्यवाद्या:। ४, ६३, २७ भेर्यश्च तूर्याणि च वारिजाश्च। ४, ६५, १५ तेऽद्य तूर्याणि। ९, १२, ४ शंखप्रणववादश्च तूर्याणां च सहस्रश:। ७, १, १९ ततस्तूर्यनिनादैश्च भेरीणां च महास्वनै:।

३—३, ४५, ३२; १, १९, ९; १, ७१, २२; गायंनृत्यन्वादयंश्चावीचीहस्तै: प्रचलितैर्नृत्यन्तमिव सर्वश:। १, २११, ४ ननृतुर्नर्त्तकाश्चैव जगुर्गीतानि गायका:। ३, २३०, ३६, ३, १८५, ३९; ३, १५५, ५४ मयूरान्ददृशुश्चेतान्नृत्यतो वनलासकान्। ३, १०२, २१; ३, १४६, २५–२६।

४—१, ११४, ४९।

५—देखिए फलक २ चित्र २

६—१, १७६, २२ रत्नप्रदानबहुल: शोभितो नटनर्तकै: ॥ २, १०, १२ एता: सहस्रशास्त्रान्या नृत्यगीतविशारदा···दित्यवादित्रैर्नृत्यगीतैश्च सा सभा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लोकपाल की सभा में भी गंधर्व एवं अप्सराओं का नृत्य होता था।[1] कुबेर ने ऋषि विश्रवा को प्रसन्न करने के लिये नृत्य गीत कुशला तीन राक्षसियाँ दी थीं।[2] गंधर्व चित्रसेन नृत्य एवं गायन का आचार्य था, जिससे अर्जुन ने शिक्षा प्राप्त की थी। अर्जुन ने अप्सराओं के नृत्य को देखा था, जिसका वह स्वयं उल्लेख करता है।[3] इसी ने विराट राजा की पुत्री उत्तरा को नृत्य एवं गायन की शिक्षा दी थी।[4] नृत्य का महत्त्व इस बात से और भी स्पष्ट हो जाता है कि उसके लिये नर्त्तनागार होते थे जहाँ आचार्य शिक्षा प्रदान करता था।[5] इस प्रकार नृत्य के उल्लेखों को देखने से यह बात तत्क्षण ध्यान में आती है कि नृत्य का अप्सराओं के साथ घनिष्ठ संबंध था।[6] वन महोत्सव में भी नृत्य का उल्लेख मिलता है।[7]

श्वेत का वध करने के पश्चात् दुःशासन जोर से रणभेरी बजाकर नाचने लगा।[8] अधिक हर्ष में नृत्य स्वाभाविक प्रतिक्रिया होती है।

१—२, ८, २१–३५ तथैवाप्सरसौराजन्गंधर्वाश्च मनोरमाः। नृत्यवादित्रगीतैश्च हास्यैश्च विविधैरपि। गंधर्वाश्च महात्मानं शतशश्चाप्सरोगणाः। वादित्रं नृत्तं गीतं च हास्यलास्यं च सर्वशः॥

२—३, २५९, ४ ऋषिं भरतशार्दूलनृत्यगीतविशारदाः।

३—३, १६४, ५६ शृण्वन्वै गीतशब्दं—पश्यंश्चाप्सरसः श्रेष्ठा नृत्यमाना परंतप। ३, ८९, १३ विश्वावसोश्च तनयाद्गीतं नृत्यं च साम च—।

४—४, ६७, ३ प्रियो बहुलमश्चासंनर्तको गीतकोविदः। ४, २, २४ गीतनृत्यं विचित्रं च वादित्रं विविधं तथा। शिक्षयिष्याम्यहं राजन्विराटस्य पुरस्त्रियः। ४, ३५, १५–१६; ४, १२, २९; ४, १०, ८–११ गायामि नृत्याम्यथ वादयामि भद्रोऽस्मि नृत्ते कुशलोऽस्मि गीते।

५—४, २३, १७–१८ ततः सा नर्त्तनागारे धनंजयमपश्यत। राज्ञः कन्या विराटस्य नर्तयानं महाभुजम्। ततस्ता नर्तनागाराद्विनिष्क्रम्य सहार्जुनाः। ४, २१, ४, २१, २६ संगमो नर्तनागारे—नर्तनागारमागमिष्यति कीचकः। ४, २१, १६ यदिदं नर्तनागारं मत्स्यराजेन कारितम्। दिवात्र कन्या नृत्यन्ति रात्रौ यान्ति यथा गृहं।

६—५, १२१, ४ उपगीतोपनृत्तश्च गंधर्वाप्सरसां गणैः। १३, ३२, ३२,।

७—१५, २०, १६।

८—६, ४९- ११८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यज्ञ मण्डप में भी नृत्य होता था।[१] देवता तथा राजा की स्तुति गायन एवं नृत्य के द्वारा क्रमशः गंधर्व कन्या तथा पुरुष करते थे।[२] राजाओं के शिविरों में नर्त्तकों की उपस्थिति आवश्यक होती थी, जिनकी अनुपस्थिति आश्चर्य का कारण बन जाती थी।[३] ब्रह्मयज्ञ के अवसर पर भी नृत्य हुआ था।[४] यज्ञशालाओं को नृत्य के अनुकूल सुन्दर बनाया जाता था।[५] तथा यह स्वर्ग की शोभा के समान बनाया जाता था।[६] तीर्थ-स्थान भी विश्वावसु गंधर्व के नृत्य गीत से सुशोभित था।[७] नृत्य के साथ गायन वादन तथा ताल का संयोग रहता था।[८] इसका उदाहरण भरहुत की कला में देखा जा सकता है।[९]

नर्तकों का संभवतः निम्न स्तर भी था, जिसके लिये यह कहा गया है कि उन्हें दान देने से पितृलोक नहीं पहुँचता।[१०] महादेव के नृत्य "ताण्डव" का उल्लेख एक स्थल पर आया है। इसे महानृत्य भी कहा गया है।[११] इनका निवास स्थान सदा नर्तकों से परिपूर्ण रहता था—

१—७, ६१, ६।

२—३, ५८, ३; ७, ६१, ७, स्तुवतां नाद्य श्रूयन्ते पुत्राणां शिबिरे मम।

३—वही ६, ४४, १९। सूतमागधसंघानां नर्तकानां च सर्वशः।

४—९, ३८, ९ जगुश्च तत्र गंधर्वा ननृतुश्चाप्सरोगणाः। वादित्राणि च दिव्यानि वादयामासुरंजसा।

५—आश्व० पर्व ११। २७ यत्र नृत्येरन्नप्सरसः समस्ताः स्वर्गोपमाक्रियतो यज्ञवाढः।

६—वही।

७—९-३७। ११ विश्वावसुमुखास्तत्र गंधर्वास्तपसान्विताः।
नृत्यवादित्रगीतं च कुर्वन्ति सुमनोरमम्॥

८—७-६१-१५।

९—देखिए। फलक २, ३ चित्र २, ४।

१०—१३-९०-४७-१२-२३-१५।

११—ताण्डव नृत्य शिव के रौद्र रूप से संयुक्त होता है। यह लास्य था सुकुमार नृत्य का विपरीत प्रकार है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जहाँ ताल युक्त नृत्य करनेवाले गण रुद्र का मनोरंजन करते थे।[1] स्वयं महादेव जी भक्तों के लिये अनेक रूप धारण करके कभी नाचते कभी गाते थे।

संगीत का स्त्रियों के साथ संबंध—महाभारत एक लोकप्रिय काव्य है। इसके उल्लेखों से तत्कालीन समाज का दृश्य सामने आ जाता है। संगीत उस समय के समाज के लगभग सभी वर्गों में प्रविष्ट हो चुका प्रतीत होता है। संगीत का पुरुषों की भांति स्त्रियों में भी पर्याप्त प्रचार था। अप्सराओं के साथ संगीत का वैसा ही संबंध था जैसा गंधर्वों के साथ था। राजपुत्रियाँ भी संगीत सीखती थीं। विराट राजा अपनी पुत्री को संगीत सिखाने के लिये बृहन्नल नामक संगीतकार को नियुक्त करता है।[2] देवयानी के भी संगीत का उल्लेख आता है। राज्य में राज नर्तकियाँ, कुशल गायिकाएँ एवं वादिकाएँ सर्वदा रहती थी जो राजा का मनोरंजन करती थीं।

राज्य एवं संगीत—राजाओं के जीवन का संगीत एक अभिन्न अंग बन गया था। वे संगीत की ध्वनि से ही निद्रित एवं जागरित होते थे।[3] तथा सूत, मागध इत्यादि उनकी स्तुति करते थे। राज्य सदा संगीत की ध्वनि से गुंजित रहता था। राजा जब कभी युद्ध अथवा शुभ कर्म के लिये प्रस्थान करता था, अथवा विपक्षी योद्धा का वध करता था, प्रण करता था, संगीतज्ञ, सदा वादन करते हुए साथ चलता

८—१३-१६·१७—१८ संहृष्टैः पार्षदैर्जुष्टं नृत्यद्‌भिर्विविधाननैः

दिव्यांगरागैः पैशाचैरत्नैर्नानाविधैः प्रभौः।

पाणितालसुतालैश्च शम्यातालैः समैस्तथा

संप्रहृष्टैः प्रनृत्यद्‌भिः शर्वस्तत्र निषेव्यते ॥

१३-१४-२५२, १३-१७-११७ महान्नृत्यो

१३-१४-१५६ हसते गायते चैव नृत्यते च मनोहरम् ॥

१—देखिये नृत्य संबंधी फुटनोट २, ७६, ४२—२६ (सात० सं०)।

२—७·८२, २८; ७-५८ २—३—४—५; ५-११-११; ५-८८-१०—१२; ५ ८८-१६; ५-६२-४; ४-१७-१६; १-१६०·८—६' २, ४-३—४—५, ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

था ।[1] जब संगीत ध्वनि नहीं सुनाई पड़ती थी तो सर्वदा अशुभ की भावना आती थी ।[2] दूसरे शब्दों में यह समृद्धि एवं राजा के सुखी जीवन को प्रदर्शित करती थी । राजा संगीत का इतना प्रेमी होता था कि वह अपनी पुत्रियों को भी इसकी शिक्षा दिलाता था-।[3] एवं संगीत सीखने के लिये पृथक् संगीत शालाएँ भी बनवाता था ।[4] यज्ञ जैसे धार्मिक अवसरों से लेकर विवाह, जन्म जैसे सामाजिक अवसरों पर भी संगीत आयोजन किया जाता था । दूर से आये ब्राह्मणों का यज्ञ स्थल में संगीतकार मनोरंजन करते थे ।[5]

गुरु शिष्य परम्परा——यह परंपरा उस काल "में भी चली आरही थी । कुशल नृत्य गीत विशारद गंधर्व होते थे । ये संगीताचार्य होते थे । इनके द्वारा संगीत की शिक्षा प्रसारित होती थी । अर्जुन ने इन्ही गंधर्व संगीताचार्य से शिक्षा ली थी । विश्वावसु चित्रसेन हाहा हूहू इत्यादि गंधर्वों का संगीत विशारद के रूप में अनेक स्थलों पर उल्लेख मिलता है ।[6]

अर्जुन स्वयं उत्तरा का गुरु था जो उसे संगीत शिक्षा दिया करता था । गुरु का पद सम्माननीय था, जैसा कि अर्जुन के कथन से प्रतीत होता है, । जब वह विराट से कहता है कि उत्तरा से उसका संबंध

१—६-१२-४; ६-१६-२८; ६-४१-६५—९८; ९-४६-५६—५७; ४८ ५,६२-४; ८-७-३५, ८, ३१, ४७; ८, ३३, ४३; ८, ३४, २८; ८, ५३, ३७; ८, ६३, १०—११; ८, ६४, १—२—३ (कर्ण वध प्रतिज्ञा) ७-१८—२०; ७; ६८, ३०; ७-८४, २१ २२—२३ ।

२—७-१२-१४; ७-३४-३७; ७-५०-१०—११—१२; ७-६१-२४; ७-६१ १७—१८; ७, ६१ ७ ।

३—विराट पर्व—राज पुत्री उत्तरा की संगीत शिक्षा के हेतु अर्जुन की नियुक्ति करता है ।

४—४, २३, १७—१८; ४, २१, २५—२६ ।

५—७, ५७, ४; ४, ६७, २६—२८; १, १७५, १६; १, १७६, ३२ ।

६—३, ८६, १३; १, ११४, ४८ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पितातुल्य है, वह किसी प्रकार भी उससे विवाह न करेगा। उक्त उल्लेख गुरु शिष्य परंपरा तथा उनके मध्य संबंध का द्योतक है।[१]

संगीत का तपस्वियों के साथ संबंध—संगीत का प्रचार इस वर्ग मे भी था किन्तु ये स्वयं नहीं गाते बजाते थे। ये गायन वादन नृत्य को सुन तथा देख सकते थे। इनके आश्रम भी साम गायन एवं गंधर्वों के संगीत से युक्त रहते थे।[२] तपस्वी लोगों के लिये यह विधान था कि वे मृत्यु पर्यन्त स्वर्ग में संगीत का आस्वादन करेंगे।[३] ऐसा मालूम होता है कि संगीत को हेय नहीं माना गया था किन्तु विशेष परिस्थितियों में इसका निषेध था। संगीत मनोरंजन का प्रमुख साधन था। तपस्वी लक्ष्य की प्राप्ति भोग मनोरंजन को छोड़ कर करता है किन्तु लक्ष्य प्राप्ति के पश्चात् वह सब कुछ उसे पुनः अपने आप प्राप्त हो जाता है।[४]

संगीत का सामाजिक स्तर—संगीत को हेय दृष्टि से नहीं देखा गया था। इसका सभी वर्गों में प्रचार था। ब्राह्मण भी संगीत श्रवण करते थे। क्षत्रिय राजा भी संगीत से घिरा रहता था।[५] देवता भी संगीत से सर्वदा घिरे रहते थे।[६] पुण्य कार्य करने वाला व्यक्ति भी संगीत ध्वनि से जागृत व निद्रित होता था।[७] संगीतकार को राजा अपनी कन्या देने से भी नहीं हिचकता था। किन्तु कुछ उल्लेख ऐसे भी आते हैं जहाँ संगीत की अवहेलना की गई है। जैसे—संगीत का व्यवसाय करने वाले को सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं दी जाती थी। ये

१—४, ६७, ३।

२—१३, १४, ५२—५३ दिव्यस्त्रीगीतबहुलो मारुतोऽभिमुखोऽववै। गीतैस्तथा किन्नराणामुदारैः शुभैः स्वनैः सामगानां च वीर। ५, १०६, ११; ३, १४२, ६।

३—२, ७०—३८—३६—४० (सात सं०)।

४—१३-१०६-४६; १३-६४-१०७।

५—७-६१-१३।

६—१३-१४-१७५; १३-१४-१५६, २५२; १३, १६-१७—१८; ६-३८,६; २-६-२३; २ ८-२१।

७—१३-७६-२६॥

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पितृकार्य में निमंत्रण के योग्य नहीं समझे जाते थे। यह संभवतः निम्न कोटि के संगीत का प्रतिनिधित्व करता है जैसा कि आज भी नट एवं सड़क पर नाच गाकर जीविका चलाने वालों को हेय दृष्टि से देखा जाता है।[1]

अतः निष्कर्ष यही निकाला जा सकता है कि संगीत को समाज में पर्याप्त सम्मानित स्थान प्राप्त था लौकिक संगीत की अपेक्षा सामगान की महत्ता अधिक समझी गई थी, क्योंकि यह धार्मिक संगीत था। परन्तु संगीत का देवताओं, मनुष्यों, गंधर्वों, अप्सराओं सभी में प्रचार था। इससे यह साधारणतया अनुमान किया जा सकता है कि संगीत एवं संगीतकारों को समाज प्रतिष्ठित समझता था।

"आ"

रामायण में संगीत

रामायण एक लोकप्रिय महाकाव्य है। संगीत के इतिहास की रचना के लिये इसका महत्वपूर्ण स्थान है। यह उस वर्ग के साहित्य के अन्तर्गत आयेगा जो संगीत का यत्र तत्र उल्लेख करते हैं। इस वर्ग की सामग्रियों का महत्व इस दृष्टि से और भी बढ़ जाता है कि जो शास्त्रीय एवं सैद्धान्तिक विवरण हम संगीत पर लिखे ग्रन्थों में प्राप्त करते हैं उनके, सामाजिक परिपार्श्व के विषय में ऐसे स्फुट उल्लेख ही अधिक प्रकाश डालते हैं। रामायण लोकप्रिय काव्य है, अतः इसमें आये संगीतोल्लेखों का महत्व और भी बढ़ जाता है। जो शास्त्रीय एवं सैद्धान्तिक विवरण भरत का नाट्यशास्त्र[2] देता है उसकी व्यावहारिकता के विषय में रामायण पर्याप्त प्रकाश डालता है। संगीतकारों की समाज में स्थिति एवं विभिन्न परिस्थितियों में संगीत के उपयोग-विषयक उल्लेख भी महत्वपूर्ण हैं।

संगीत के लिये रामायण में "गांधर्व संज्ञा तथा युद्ध संगीत के लिये" युद्ध-गांधर्व संज्ञा भी प्राप्त होती है।[3]

१—१३-६०-६। १३-२३-१५, १३ ६०,४७।

२—देखिये अध्याय चतुर्थ।

३—रामा० सप्तम काण्ड तथा ६-५२, ५४, १-४-६,।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अतः यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि गायन कला के लिये "गंधर्व" संज्ञा पर्याप्त प्रचलित थी। गायन संगीत का प्रमुख अंग होता है, वादन एवं नृत्य तो इसके आश्रित माने गये हैं! गांधर्व शब्द की व्याख्या परवर्ती आचार्य भरत ने स्पष्ट रूप से की है। भरत का उद्धरण निम्नलिखित है:—

गांधर्वमिति विज्ञेयं स्वरतालपदाश्रयम्।
गांधर्वं त्रिविधं विद्यात् स्वरतालपदात्मकम्॥
त्रिविधस्यापि वक्ष्यामि लक्षणं चैव कर्मभिः।
स्वराश्च श्रुतयो ग्राममूर्च्छनाः स्थानसंयुताः॥
स्थानं साधारणं चैव जातयोऽष्टादशैव च।
वर्णाश्चत्वार एव स्युरलंकाराश्च 'धातवः॥
अलंकाराश्च वर्णाश्च गीतयश्च शरीरजाः।
आवापस्त्वथ निष्क्रामो विक्षेपश्च प्रवेशकः॥
शम्याताल: सन्निपातः परिवर्तः सवस्तुकः।
मात्रा विदार्यांगुलया यतिः प्रकरणं तथा॥
गीतयोऽवयवा मार्गा पादभागाः सपाणयः।
इत्येकविंशको ज्ञेयो विधिस्तालगतो बुधैः॥
व्यंजनानि स्वरा वर्णाः संधयोऽथ विभक्तयः।
नामाख्यातोपसर्गाश्च निपातास्तद्धिताः कृताः॥
छन्दो वृत्तानि जात्यश्च नित्यं पदगतात्मकाः।
गांधर्वसंग्रहो ह्येष विस्तारं च निबोधत॥[1]

गांधर्व के अन्तर्गत स्वर, ताल, एवं पद का समावेश किया गया है। प्रत्येक के अन्तर्गत आने वाले तत्वों का भी उल्लेख किया है। यथा-स्वर के अन्तर्गत श्रुति, मूर्च्छना, ग्राम, स्थान, इत्यादि। इसी प्रकार ताल व पद के भी तत्त्वों का उल्लेख किया गया है। प्रश्न यह है कि संगीत, जिस रूप में भरत ने व्याख्या की है उसी रूप में, उतने ही विकसित रूप में, रामायण में भी प्राप्त होता है? इस विषय पर आज के प्रतिष्ठित विद्वान् आचार्य बृहस्पति ने अपने ग्रन्थ "भरत का संगीत सिद्धान्त" में भरत को वाल्मीकि से पूर्वकालीन माना है एवं इस

१—नाट्य० शा० अ० २८, ८-१८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रकार भरत के सभी सिद्धान्तों से वाल्मीकि को परिचित माना है। किन्तु इस धारणा से हमारी सहमति नहीं। भरत एवं रामायण दोनों ही के काल पर पर्याप्त मतभेद है, किन्तु भरत को रामायण से पूर्व रखना किसी प्रकार भी समुचित नहीं प्रतीत होता। प्रो० साम्बमूर्त्ति भरत को दूसरी सदी ई० पू० से दूसरी सदी ई० पू० के मध्य रखते है तथा अन्य अधिकांश विद्वान् भी दूसरी शताब्दी में ही रखते हैं। यही संभव भी प्रतीत होता है।

उपर्युक्त तथ्यों के प्रकाश में यह कहना अधिक उचित प्रतीत होता है कि यद्यपि रामायण का संगीत उच्चकोटि के संगीत का आभास कराता है तथापि वह विकसित होती अवस्था का संगीत है। संगीत का पूर्ण विकसित स्वरूप तो भरत एवं परवर्त्ती आचार्यों के द्वारा प्राप्त होता है। यह अवश्य कहा जा सकता है कि रामायण संगीत पर लिखा ग्रन्थ नहीं है, अतः संगीत के सभी तत्त्वों का न होना इस बात को सिद्ध नहीं करता कि वह संगीत अविकसित होगा। इसके विपरीत यह कहना अधिक समुचित प्रतीत होता है कि रामायण का संगीत उक्त दो अवस्थाओं के मध्य का अथवा विकसित होती हुई अवस्था का संगीत है। संगीत के कुछ ऐसे तत्त्व भी हैं जिनका विकसित स्वरूप बाद के ही ग्रन्थों में मिलता है।

गायन—रामायण में संगीत के लिये "गांधर्व" संज्ञा तथा साथ ही संगीत ज्ञाता अथवा संगीतकार के लिये "गांधर्व तत्त्वज्ञ" शब्द भी प्राप्त होता है। स्पष्ट ही गान विद्या में निपुण व्यक्ति गांधर्व तत्त्वज्ञ समझा जाता था।[1] गायन के लिये "गीत" संज्ञा भी बहुतायत से मिलती है।[2] गायन किस प्रकार का हो इस विषय पर भी रामायण में अनेक उल्लेख देखे जा सकते हैं। यथाः—

पाठ्ये गेये च मधुरं प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम्।
जातिभिः सप्तभिर्युक्तं तन्त्रीलयसमन्वितम्॥[3]

१—रामा० १, ४, ६ तौ तु गांधर्वतत्वज्ञौ स्थानमुर्च्छनाकोविदौ। भ्रातरौ स्वरसम्पन्नौ गंधर्वाविव रूपिणौ। २, ३५, ३५।

२—रामा० १, ४, २० अभिगीतमिदं गीतं सर्वगीतेषु कोविदौ। २, ४३, ५१; २, १२, ७७; १, ४-१५।

४—१, ४, ७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अर्थात गायन मधुर हो, तीनों प्रमाणों अथवा लयों (द्रुत, मध्य विलंबित) से युक्त हो, सात जातियों से युक्त हो, वीणा वादन की लय से मिला हुआ हो। जाति संगीत का महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक तत्त्व है जिसे हम आज के संगीत के रागों का पूर्व रूप मान सकते हैं। इसका स्पष्टीकरण आगे किया जायेगा। यह बात अवश्य ध्यान देने योग्य है, ऐसा प्रतीत होता है कि रामायण का ग्रन्थकार संगीत की तत्प्रचलित सात शुद्धा जातियों से ही अवगत है। आगे चलकर भरत में अष्टादश जातियों का उल्लेख भी मिलता है। जिसमें शुद्धा के साथ विकृता भी सम्मिलित है।

गायन में रसों का महत्त्व भी निम्नोक्त अंश से स्पष्ट हो जाता है।

हास्यश्रृंगारकारुण्यरौद्रवीरभयानकैः।
बीभत्सादिरसंयुक्तैः काव्यमेतत्तु गायताम॥[१]

गेय काव्य अथवा गेय रचना रसों से युक्त होनी चाहिये। काव्य का प्रत्येक भाव श्रोता पर पड़े, इसके लिये रसों की अभिव्यक्ति आवश्यक मानी गयी थी। बिना रस के गायन नीरस एवं प्रभावविहीन होने के साथ ही उसमें भावों की भिन्नता भी अस्पष्ट हो जायेगी। अतः गायन रसयुक्त होना चाहिये। भरत ने भी जातियों का रसों से संबंध दिखा कर इसका संकेत कर दिया है।

रामायण में लव-कुश का गायन विद्या में निपुण, स्वर, ताल, मूर्च्छना स्थानादि के तत्त्वज्ञ रूप में उल्लेख हुआ है। ये सभी संगीत के आधारभूत तत्त्व होते हैं। इनका विस्तृत विवेचन भरत संबंधी चतुर्थ अध्याय में किया गया है।

गायन की अन्य विशेषता अथवा गायन के अन्य आवश्यक अंग के अन्तर्गत उसकी स्पष्टता, माधुर्य, एवं नाना अर्थों की बोधगम्यता भी आती है। गेय रचना या पदों के विचित्र अर्थों का बोध गायन के माध्यम से श्रोताओं को कराना चाहिये। गायन स्पष्ट, सुनने में मधुर हो तथा इस प्रकार स्वरों द्वारा गाया जाये जो संपूर्ण श्रोताओं द्वारा सरलता से सुना और समझा जा सके। गायन जिस भी वाद्य (वीणा या अन्य कोई भी वाद्य हो) के साथ हो, स्वर मिला कर

१—१-४-८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होना चाहिये। वह गायन अशास्त्रीय होने के अतिरिक्त कर्णकटु भी प्रतीत होगा, जिसमें गायन भिन्न चले एवं वीणा के स्वर, लय भिन्न। अतः संगत में प्रयुक्त होने वाले वाद्यों के साथ स्वर, लय, इत्यादि एकरूपता से मिला होना चाहिये :—

विचित्रार्थं पदं सम्यगायनौ समचोदयत्।
तौ चापि मधुरं व्यक्तं स्वंचितायतनिःस्वनम्॥
तंत्रीलयवदत्यर्थं विश्रुतार्थं च गायताम्।[1]

इसी प्रकार का उल्लेख युद्धकाण्ड[2] में भी प्राप्त होता है। इसमें भी स्वर माधुर्य शब्दों की परिपूर्णता, ताल, लय, संपन्न वीणा की लय से युक्त आदि गायन तत्वों पर प्रकाश डाला गया है :—

तंत्रीलयसमायुक्तं त्रिस्थानकरणान्वितम्।
संस्कृतं लक्षणोपेतं समतालसमन्वितम्॥
शुश्राव रामचरितं तस्मिन् काले पुराकृतम्॥[3]

गायन, वादन की लय से मिला होना चाहिये, त्रिस्थानों के भेद से संपन्न होना चाहिये। जैसी कि संगीतकारों ने व्याख्या की है, त्रिस्थान संगीत में त्रिसप्तक का द्योतक है। मंद्र, मध्य एवं तार सप्तक होते हैं, जिनमें क्रमशः हृदय, कण्ठ एवं मूर्धा पर जोर पड़ने से स्वर निकाला जाता है। स्थान भेद का संगीत में उपयोग भाव, रस वैभिन्यादि के दिग्दर्शन के लिये किया जाता है। उदाहरण स्वरूप रौद्र वीर इत्यादि रसों की सृष्टि तार सप्तक पर ही आधारित है। इसी प्रकार करुणा शान्ति इत्यादि, मंद्र मध्य पर ही आधारित है। यहाँ यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि चूँकि रामायण संगीत पर लिखा ग्रन्थ नहीं था एवं उस काल का भी नहीं, जब संगीत पूर्णरूप से विकसित हो चला था, अतः इसमें स्वरों के साथ रस का संबंध नहीं प्राप्त होता, जैसा परवर्त्ती संगीताचार्यों ने प्रत्येक स्वर के रस का स्पष्टोल्लेख किया है। गायन को न केवल संगीत के ही लक्षणों व नियमों से युक्त

१—१-४-३३।

२—७-६४-२-३; ७-६४-३१।

३—७-७१-१५; ५-४-१०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होना चाहिये जैसा उपर्युक्त अंश द्वारा स्पष्ट है, उसे संस्कृत भाषा के व्याकरण छन्दादि नियमों तथा काव्य के नियमों से भी बद्ध होना चाहिये।

गायन की विषय वस्तु—गायन की विषय वस्तु बहुधा प्रशस्तियाँ हुआ करती थीं, ऐसा रामायण के अध्ययन से ज्ञात होता है। लव कुश के जिस गायन का उल्लेख प्राप्त होता है, वह रामचरित काव्य ही है।[1] इसके अतिरिक्त रावण वध पर लिखा गया काव्य भी गेय काव्य था। गायन की विषय-वस्तु के रूप में यों तो बहुधा कोई न कोई काव्य ही प्राप्त होता है, तथापि यही एकमात्र विषय-वस्तु नहीं हो सकती, क्योंकि साधारण जनता के मनोरंजन का संगीत अवश्य ही हलकी फुलकी रचनाओं पर ही आधारित होगा, एवं यह स्वाभाविक भी प्रतीत होता है, जिसकी पुष्टि रामायण के समकालीन ग्रन्थों से भी होती है।

सामगायन की परम्परा—रामायण के अध्ययन से यह तथ्य भी स्पष्ट हो जाता है, कि सामगान की परंपरा यहाँ भी चल रही थी परन्तु इस काल में उतना अधिक प्रचार नहीं था, जितना वैदिक एवं सूत्रकाल में था।[2] दशरथ की अन्त्येष्टि के अवसर पर भी साम गायक ब्राह्मणों ने शास्त्रीय पद्धति से गान किया था।[3] दशरथ के अश्वेमध यज्ञ के अवसर पर पुरोहित-गणों ने मंत्रो का शास्त्रीय उच्चारण मधुर एवं स्निग्ध स्वर से किया था। इसके अतिरिक्त उत्तरकाण्ड में भी रावण को सामस्तोत्रों द्वारा शंकर की स्तुति करते पाते हैं :—

सामभिविविधैः स्तोत्रैः प्रणम्य स दशाननः॥[4]

सामगायन की पद्धति का प्रचार इस बात का परिचायक है कि प्राचीन काल से ही जन साधारण की धार्मिक संगीत के प्रति रूचि थी। अभी भी सामगायन विशिष्ट संस्कारों के समय किया जाता था।

१—७-६४-२-३; ६-६३-११; ७-७१-१५।

२—२-७०-१८ जगुश्च ते यथाशास्त्रं तत्र सामानि सामगाः॥

३—१-१४-८-९ ऋष्यशृंगादयो मंत्रैः शिक्षाक्षरसमन्वितैः।
गीतिभिर्मधुरैः स्निग्धैः मन्त्राह्वानैर्यथार्हत॥

४—७-१६-३३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रामायण में हम वर्ण संगीत का भी उल्लेख प्राप्त करते हैं।[1] इसका सबसे प्रारंभिक रूप रामायण का अनुष्टुप् छन्द है। यह छन्द यमक, ताल युक्त पद्य है, जिसमें चार समान पदों में सजे वीणा की लय के साथ गाये जाने योग्य सम स्वर एवं अक्षर वाले मधुर स्वरों की सुन्दरता देखी जा सकती है।[2]

प्रायः समस्त रामायण ही इसी छन्द में है। इसके श्लोकों में लघु दीर्घाक्षरो का सुन्दर स्पष्ट नियमित आरोहावरोह एक विशिष्ट प्रकार के संगीत का सृजन करता है। बालकाण्ड के प्रारंभिक स्वरों में अनुष्टुप् छन्द की संगीतात्मकता पर बारंबार प्रकाश डाला गया है।

रामायण में आये संगीत के कुछ पारिभाषिक शब्द एवं उनकी संक्षिप्त व्याख्या

स्वर—संगीत में स्वर उसका प्रथम मूलभूत तत्त्व है। संगीत का ग्रन्थ न होने के कारण सप्त स्वरों का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु जहाँ सप्त जातियों एवं मूर्च्छनाओं का उल्लेख आता है वहाँ सप्तस्वरों की सत्ता स्वतः स्पष्ट हो जाती है।

त्रिस्थान—संगीत में त्रिसप्तक का द्योतक है। ऐसे स्थान तीन हैं, जिनका पहले भी स्पष्टीकरण किया जा चुका है।

मूर्च्छना—मूर्च्छना की विस्तृत व्याख्या चतुर्थ अध्याय में की गई है। सप्तस्वरों को बारी-बारी से स्वरित मान कर आरोहावरोह सहित गायन वादन मूर्च्छना कहलाता है। इससे भिन्न-भिन्न स्वरान्तराल सहित स्वरावलियाँ प्राप्त होती है।

१—देखिये 'रामायण कालीन संस्कृति', शान्तिकुमार नान्नूराम व्यास, क्रीड़ा विनोद-संबंधी अंश।

२—१--२. १७ पादबद्धोऽक्षरसमस्तंत्रीलयसमन्वितः।

१-२-४० समाक्षरैश्चतुर्भिर्यः पादैर्गीतो महर्षिणा। १-२; ४२–४३।

समाक्षरैः श्लोकशतैर्यशस्विनो यशस्करं काव्यमुदारदर्शनः तदुपगतसमास-संधियोगं, सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम्॥

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होना चाहिये जैसा उपर्युक्त अंश द्वारा स्पष्ट है, उसे संस्कृत भाषा के व्याकरण छन्दादि नियमों तथा काव्य के नियमों से भी बद्ध होना चाहिये।

गायन की विषय वस्तु—गायन की विषय वस्तु बहुधा प्रशस्तियाँ हुआ करती थीं, ऐसा रामायण के अध्ययन से ज्ञात होता है। लव कुश के जिस गायन का उल्लेख प्राप्त होता है, वह रामचरित काव्य ही है।[1] इसके अतिरिक्त रावण वध पर लिखा गया काव्य भी गेय काव्य था। गायन की विषय-वस्तु के रूप में यों तो बहुधा कोई न कोई काव्य ही प्राप्त होता है, तथापि यही एकमात्र विषय-वस्तु नहीं हो सकती, क्योंकि साधारण जनता के मनोरंजन का संगीत अवश्य ही हलकी फुलकी रचनाओं पर ही आधारित होगा, एवं यह स्वाभाविक भी प्रतीत होता है, जिसकी पुष्टि रामायण के समकालीन ग्रन्थों से भी होती है।

सामगायन की परम्परा—रामायण के अध्ययन से यह तथ्य भी स्पष्ट हो जाता है, कि सामगान की परंपरा यहाँ भी चल रही थी परन्तु इस काल में उतना अधिक प्रचार नहीं था, जितना वैदिक एवं सूत्रकाल में था।[2] दशरथ की अन्त्येष्टि के अवसर पर भी साम गायक ब्राह्मणों ने शास्त्रीय पद्धति से गान किया था।[3] दशरथ के अश्वेमध यज्ञ के अवसर पर पुरोहित-गणों ने मंत्रो का शास्त्रीय उच्चारण मधुर एवं स्निग्ध स्वर से किया था। इसके अतिरिक्त उत्तरकाण्ड में भी रावण को सामस्तोत्रों द्वारा शंकर की स्तुति करते पाते हैं :—

सामभिर्विविधैः स्तोत्रैः प्रणम्य स दशाननः ॥[4]

सामगायन की पद्धति का प्रचार इस बात का परिचायक है कि प्राचीन काल से ही जन साधारण की धार्मिक संगीत के प्रति रूचि थी। अभी भी सामगायन विशिष्ट संस्कारों के समय किया जाता था।

१—७-९४-२-३; ६-९३-११; ७-७१-१५।

२—२-७०-१८ जगुश्च ते यथाशास्त्रं तत्र सामानि सामगाः ॥

३—१-१४-८-९ ऋष्यशृंगादयो मंत्रैः शिक्षाक्षरसमन्वितैः।
गीतिभिर्मधुरैः स्निग्धैः मन्त्राह्वानैर्यथार्हत ॥

४—७-१६-३३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रामायण में हम वर्ण संगीत का भी उल्लेख प्राप्त करते हैं।[१] इसका सबसे प्रारंभिक रूप रामायण का अनुष्टुप् छन्द है। यह छन्द यमक, ताल युक्त पद्य है, जिसमें चार समान पदों में सजे वीणा की लय के साथ गाये जाने योग्य सम स्वर एवं अक्षर वाले मधुर स्वरों की सुन्दरता देखी जा सकती है।[२]

प्रायः समस्त रामायण ही इसी छन्द में है। इसके श्लोकों में लघु दीर्घाक्षरो का सुन्दर स्पष्ट नियमित आरोहावरोह एक विशिष्ट प्रकार के संगीत का सृजन करता है। बालकाण्ड के प्रारंभिक स्वरों में अनुष्टुप् छन्द की संगीतात्मकता पर बारंबार प्रकाश डाला गया है।

रामायण में आये संगीत के कुछ पारिभाषिक शब्द एवं उनकी संक्षिप्त व्याख्या

स्वर—संगीत में स्वर उसका प्रथम मूलभूत तत्त्व है। संगीत का ग्रन्थ न होने के कारण सप्त स्वरों का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु जहाँ सप्त जातियों एवं मूर्च्छनाओं का उल्लेख आता है वहाँ सप्तस्वरों की सत्ता स्वतः स्पष्ट हो जाती है।

त्रिस्थान—संगीत में त्रिसप्तक का द्योतक है। ऐसे स्थान तीन हैं, जिनका पहले भी स्पष्टीकरण किया जा चुका है।

मूर्च्छना—मूर्च्छना की विस्तृत व्याख्या चतुर्थ अध्याय में की गई है। सप्तस्वरों को बारी-बारी से स्वरित मान कर आरोहावरोह सहित गायन वादन मूर्च्छना कहलाता है। इससे भिन्न-भिन्न स्वरान्तराल सहित स्वरावलियाँ प्राप्त होती है।

१—देखिये 'रामायण कालीन संस्कृति', शान्तिकुमार नानूराम व्यास, क्रीड़ा विनोद-संबंधी अंश।

२—१--२. १७ पादबद्धोऽक्षरसमस्तंत्रीलयसमन्वितः।

१-२-४० समाक्षरैश्चतुर्भिर्यः पादैर्गीतो महर्षिणा। १-२; ४२–४३।

समाक्षरैः श्लोकशतैर्यशस्विनो यशस्करं काव्यमुदारदर्शनः तदुपगतसमास-संधियोगं, सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम्॥

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जाति—जाति शब्द की भी विस्तृत व्याख्या सर्व प्रथम भरत ही के ग्रन्थ में प्राप्त होती है। जिस रूप "में आज हम राग को समझते हैं उसके पूर्व रूप में जाति को भलीभांति समझा जा सकता है। भरत ने "राग" का उल्लेख आज के अर्थ में नहीं किया है। यह पर्याप्त बाद का विकास है। जाति के लिये भरत ने कुछ लक्षण बताये हैं, इन के स्वरावली में लगने से जाति बनती है। भरत ने १८ जातियों का उल्लेख किया है। रामायण में मात्र सात शुद्धा जातियों का ही उल्लेख है।[1]

ताल एवं लय—संगीत "में ह्रस्व दीर्घ उच्चार के हेतु ताल एवं लयों का प्रयोग किया जाता है। लय समय की नियमित गति होती है। ताल नियमित गति द्वारा बनाथी गयी नियमबद्ध रचना होती है। संगीत का यह एक आवश्यक अंग है। ताल तथा लय, हाथ से एवं घन तथा अवनद्ध वाद्यों के माध्यम, दोनों से ही दिया जाता है। रामायण में"पाणिवादकाः" संज्ञा हाथ से ताल देने वालों के लिये प्राप्त होती है। स्वस्तिक एवं करताल आदि घन वाद्य लय दिखाने के लिये प्रयुक्त होते थे।[2]

वनवास से लौटने पर राम के राजकीय जुलूस में आगे आगे स्वस्तिक एवं ताल वादक भी चल रहे थे। महर्षि भारद्वाज ने भरत एवं उनकी सेना के स्वागत में जो संगीत समारोह किया था उसमें भी शम्या एवं ताल दिखाने वाले संगीतकारों का भी एक भिन्न दल नियुक्त किया गया था।[3]

वादन—रामायण में चारों प्रकार के वाद्यों का उल्लेख देखा जा सकता है। तत वाद्यों के अन्तर्गत वीणा, विपंची, वल्लकी, आदि को, आनद्ध के अन्तर्गत सभी प्रकार के ढोल संबंधी वाद्य—भेरी, दुन्दुभि,

---

१—१-४-७।

२—६-१२८-३७ स पुरोगामिभिस्तूर्यैस्तालस्वस्तिकपाणिभिः ।
प्रव्याहरद्भिर्मुदितैर्मंगलानि वृतो ययौ ॥

३—-२८५-४६ बिल्वा मार्दंगिका असंशम्याग्राहा विभीतकाः ।
अश्वत्था नर्तकाश्चासन्भारद्वाजस्य तेजसा ॥

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मृदंग, पटह, मण्डूक, डिण्डिम, पणव, मुरज, कुम्भ, चेलिका, तथा सुषिर के अन्तर्गत वेणु, शंख तथा घन के अन्तर्गत करताल मजीरे एवं पाणिवादकों को रखा जा सकता है। आनद्ध वर्ग के वाद्यों को हाथ एवं दण्ड दोनों से बजाया जाता था। इसके दण्ड सुवर्ण के भी होते थे।[1]

उपर्युक्त वाद्यों के स्थूल रूप से दो प्रयोग ज्ञात थे। कुछ वाद्यों का संगीत संबंधी, कुछ का रण संबंधी उपयोग था। रणवाद्यों के अन्तर्गत भेरी, शंख, दुन्दुभी आदि आते है। कुछ वाद्यों के दोनो उपयोग भी थे।

ततवाद्य——ततवाद्यों में अत्यन्त महत्वपूर्ण वाद्य वीणा होती है। वीणा का उल्लेख रामायण में बहुधा गायन के साथ आया है।[2] वीणा के विपंची प्रकार का उल्लेख मिलता है, जिसकी व्याख्या नाट्यशास्त्र में नौ तारों वाली वीणा के रूप में की गयी है। रामायण में वीणा-वादन की विधि पर भी प्रकाश डाला गया है। वीणा का वादन कोण एवं नाखूनों द्वारा किया जाता था। वीणा पर संभवतः स्वर-स्थान भी बने होते थे, इसका संकेत उत्तर काण्ड में मिलता है:—

इमास्तंत्रीः सुमधुराः स्थानं वा पूर्वदर्शनम्।
मूर्च्छयित्वा सुमधुरं गायतां विगतज्वरौ॥[3]

अर्थात इस वीणा में अपूर्व स्वरों का प्रदर्शन करने वाले स्थान बने हैं, जिनको झंकृत करके गायन करना चाहिये। इस वीणा का वादन कोण द्वारा नहीं प्राप्त होता। परन्तु युद्धकाण्ड में एक स्थल से कोण द्वारा वादन का भी संकेत मिलता है।[4]

१—२-७५-२ सुवर्णकोणाभिहतप्राणदद्याम दुन्दुभिः···। ५-६०; ४३-६-३३-४३;।
शीघ्रं भेरीनिनादेन स्फुटं कोणाहतेन···।

२—५-१०-४१।

३—७-९३-१३।

४—६-२४-४२–४३; मम चापमयीं वीणां शरकोणैः प्रवाहिताम्।
ज्याशब्दंतुमुलां घोरामार्त्तगीतमहास्वनाम्।
नाराचतलसंनादां नदीमहितवाहिनीम्।
अवगाह्य महारंगं वादयिष्याम्यहं रणे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

धनुष की तुलना यहाँ वीणा से की है। यह वाण रूपी कोण से बजाई जाती है। प्रत्यंचा से निकली ध्वनि वीणा की स्वर लहरी है, आर्त्तों का चीत्कार उच्चस्वर से गाया जाने वाला संगीत है, नाराचों से निकली चटचट ध्वनि मानों हाथ से दिया जाने वाला ताल है, शत्रुवाहिनी रंगभूमि है। इस प्रकार की उपमा से वीणा की वादन विधि पर प्रकाश पड़ता है। वीणाओं को मूर्त्तिकला में अंकित देखा जा सकता है।[१]

आनद्ध वाद्य——दुन्दुभि, भेरी, मृदङ्ग, पणव, मड्डुक, मुरज, नन्दि-मुख, कुंभ, चेलिका, आडम्बर इत्यादि इस वर्ग के वाद्य हैं। इनका भी अंकन समकालीन मूर्त्तिकलाओं में देखा जा सकता है।[२]

सुषिर वाद्यों में——शंख एवं वेणु महत्त्वपूर्ण हैं।

घनवाद्य——इनका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है।[३]

तूर्य——'तूर्य' का प्रयोग संभवतः 'आरकेस्ट्रा' अथवा वृन्दवादन के अर्थ में हुआ है। आरकेस्ट्रा से हार्मनी युक्त वादन नहीं समझना चाहिये। तूर्य का तुरही से भी अर्थ ले सकते हैं। इसका उपयोग घोषणात्मक कार्यों में बहुतायत से होता था।[४]

नृत्य——नृत्य के अनेक उल्लेख रामायण में देखे जा सकते हैं। भारतवर्ष में शास्त्रीय अथवा लौकिक नृत्यों का उद्भव किसी देवता विशेष की पूजा एवं अर्चना से हुआ माना जाता है। इस बात का

१—देखिये फलक ५,७ चित्र ४, २, ।

२—५-१०-३०—४५ तक १०-११-४—५—६; २-३४-३६; २, ७५,१—२—३; १-५-१८; १-२१-५;१, ७२ २४; ४-२८ ३६ ५-३-११, ५-६-४३, ५ २७ ३३, ५; ५३-१७; ६-६०-४२; ६-१३०-१७—१८।

३—१-२१-५; २-८१-२; ५-६-१२; ५-१०-४०; ५-२७-३३; ५-५३-१७; ६-१०-४; ६, २७, ३८; ६, १३०, १७—१८; ६, ५०-६२; ।

४—२-४५, २३; -२७५—१—२—३; २, ६, ८; ३, १३, २२; ५, ३, ११; ६, १०, ४; ६, ११, ९।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कुछ संकेत उत्तरकाण्ड से भी प्राप्त हो जाता है, जहाँ रावण नृत्य एवं गायन के साथ भगवान् की आराधना करता है।[1]

रामायण में नृत्य[2] नृत्त[3] तथा लास्य[4] तीनों का उल्लेख प्राप्त होता है। नृत्य में आंगिक अभिनय द्वारा भावप्रदर्शन, नृत्त में ताल, लय एवं अंगविक्षेप पर जोर दिया जाता है तथा लास्य एक प्रकार का सुकुमार नृत्य है, इसमें गीतवाद्य के साथ नृत्त व नृत्य दोनों का समावेश होता है।[5]

नृत्य का संबंध अप्सराओं के साथ उसी प्रकार प्राप्त होता है जैसा गीत के साथ गंधर्वों का। समाज में नर्तक एवं नर्तकियों का एक ऐसा वर्ग भी था जिनकी जीविका का साधन ही नृत्य नाट्यादि था। कुशल गायक वादक एवं नर्तको को राजमहल में भी स्थान दिया जाता था। इसका उदाहरण सुन्दर काण्ड में देखा जा सकता है। इस प्रकार रामायण में संगीत के तीनों तत्वों को भलोभाँति देखा जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय संगीत पर्याप्त विकसित हो रहा था।

संगीत एवं नागरिक जीवन तथा राज्य से संबंध—

संगीत जीवन का अभिन्न अंग था। राजा, प्रजा, नर-नारी, वानर, राक्षस इत्यादि सभी वर्गों में संगीत का प्रचार था। उत्सव एवं समारोहो का ही नहीं वरन् नागरिकों के दैनिक जीवन का भी यह अभिन्न अंग था। नगर की संपन्नता एवं सुखी होने का अनुमान उसमें गूँजती वाद्यों की ध्वनि से लगाया जा सकता है। किष्किन्धा, लंका, अयोध्या

१—७, ३१, ४४ ततः सतामार्तिहरं परं वरं वरप्रदं चंद्रमयूखभूषणम्।
समर्चयित्वा स निशाचरो जगौ प्रसार्य हस्तान्प्रणनर्त्तु चाग्रतः।

२—२, १०, १०।

३—५, १०, ३६ अंगहारैस्तथैवान्या कोमलैर्नृत्तशालिनीं।

४—२, ६९, ४।

५—३, ६३, ४ वादयन्ति तथा गान्ति लासयन्ति तथापरे। नाटकान्यपरे प्राहु-
हास्यानि विविधानि च। ६, ९०, ८५ नृत्यद्भिरप्सरोभिश्च गंधर्वैश्च
महात्मभिः।

६—२, ९१, ४६–४७; २, ६७, १५;।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आदि नगरियाँ सर्वदा संगीत से गूँजती रहती थीं। इतना ही नहीं नगर संगीत रहित होता था तो अशुभ या आश्चर्यजनक प्रतीत होता था। भरत जब पिता की मृत्यु से अनभिज्ञ कैकय से अयोध्या पहुँचे तो उन्हें वाद्य-ध्वनि न सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ था।

भेरीमृदंगवीणानां कोणसंघट्टितः पुनः।
किमद्य शब्दो विरतः सदादीनगतिः पुरा ॥[1]

राजाओं का जीवन संगीत से परिप्लावित रहता था। प्रत्येक राजा यथा दशरथ, राम, रावण आदि प्रतिदिन चारणों, सूत मागधों, बन्दियों की स्तुति से एवं वाद्यवादन की ध्वनियो से जगाये जाते थे।[2] रावण अपनी सभा में हजारो शंख एवं वाद्यों की ध्वनि के साथ प्रवेश करता था।

ततस्तूर्यसहस्राणां सञ्जज्ञे निःस्वनो महान्।
तुमुलः शंखशब्दश्च सभां गच्छति रावणे ॥[3]

सुग्रीव के प्रासाद में भी मधुर गीतादि सुनाई पड़ते थे।[4] अन्त्येष्टि संस्कार के अवसर पर भी वाद्यवादन आदि होता था।[5] इसकी तुलना बौद्ध त्रिपिटकों के उल्लेखों से भी की जा सकती है।

राम के स्वागत के समय भी वाद्यवादन हुआ था।[6] धार्मिक कृत्यों में भी संगीत होता था। भरत ने राम की वापसी की सूचना सुनकर यह आज्ञा जारी करायी कि शुद्धाचारी पुरुषों, कुल-देवताओं तथा नगर

१—२, ७१, २६, ३, १०६ २०;।

२—२, ६५, १–४, २, ७५, १–२–३;२, १६, ३४; २, ८८, ८–६; २, ८१, १–२, ५, १८, ३; २, ६, ६–१४; २, ५५ ६, १७, २३, चारण देवताओं के भी गुण गाते थे।

२, १४, २६।

३—६, ११, ८–६।

४—४, ३३, २१।

५—६, १११, १०८ रावणं राक्षसाधीशमश्रुपूर्णमुखा द्विजाः। तूर्यघोषैश्च विविधैः स्तुवद्भिश्चाभिनन्दितम्।

६—६, १२७, २; ३, ५, २१;।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के सभी देवस्थानों का सुगंधित पुष्प एवं गायन वादन द्वारा पूजन किया जाये।[1]

दुष्ट व्यक्तियों के वध पर भी प्रसन्नता हेतु वाद्यवादन होता था। इन्द्रजीतवध के समय अप्सराओं द्वारा नृत्य का उल्लेख प्राप्त होता है।[2] इसके विपरीत जन्म, विवाह, मनोरंजन आदि अवसरों पर भी संगीत अनिवार्य सा था। राम-जन्म, विवाह, राज्याभिषेक के समय अप्सराओं के नृत्य एवं गंधर्वों के गायन को देखा जा सकता है।[3]

राजाओं का अन्तःपुर सदा संगीतमय रहता था।[4]

संगीतकारो की सामाजिक स्थिति——संगीतकारों के अन्तर्गत संगीत विद्या के वे ज्ञाता आते हैं जो व्यवहार एवं सिद्धान्त दोनों क्षेत्रों में कुशल हों। लव कुश के गुरु आचार्य वाल्मीकि ही थे। इन दोनों ही गुरु–शिष्यों को समाज सम्मान की दृष्टि से देखता था। ये शास्त्रीय संगीत या गांधर्व को प्रस्तुत करते थे। समाज में गायक, वादक, नर्तकों का एक अन्य वर्ग भी था, जिन्हें, यज्ञ, मनोरंजक कृत्य, एवं समाज तथा गोष्ठियों में आमंत्रित किया जाता था।[5] दशरथ ने इन्हें पुत्र-प्राप्ति के अवसर पर यज्ञ में आमंत्रित किया था। उपर्युक्त प्रमाणों के प्रकाश में रामायण में संगीतकारों की स्थिति सम्माननीय मानी जा सकती है। किन्तु इसी काल के अन्य ग्रन्थ इसकी पुष्टि करते प्रतीत नहीं होते। रामायण लोकप्रिय काव्य है, अतः लोकप्रियता का संकेत स्वाभाविक प्रतीत होता है। हमारी दृष्टि से अन्य प्रमाणों को देखते हुए यह कहना अधिक उचित होगा कि संगीत का प्रयोक्ता एवं श्रोता किस प्रकार संगीत का उपयोग एवं श्रवण करता है उस पर

१—६, १२७, २ देवतानि च सर्वाणि चैत्यानि नगरस्य च। सुगंधमाल्यैर्वादित्रै-
र्र्चन्तु शुचयो नराः।

२—६, ९०, ८५।

३—२, ६१, ६२ देखिये 'रामायण कालीन संस्कृत' क्रीडा विनोद।
७. ६४.; ४३. १. १८. १८; ।

४—सुन्दरकाण्ड सर्ग १० देखिये।

५—१, १३; ७ कर्मान्तिकानशिल्पकारान्वर्द्धकान्खनकानपि। गणकारशिल्पिनश्चैव
तथैव नटनर्त्तकान्॥

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संगीत की उत्कृष्टता व निकृष्टता आधारित होती है। शास्त्रीय रीति से किये गये संगीत को हेय नहीं समझा गया था। निम्नकोटि का, मात्र मनोरंजन का संगीत उच्चवर्ग द्वारा तथा अन्य वर्गों द्वारा निकृष्ट यदि समझा भी गया तो अस्वाभाविक नहीं। एक बात अवश्य इस काल के साहित्यों से प्रकाश में आती है, वह यह कि संभवतः ब्राह्मण वर्ग में अथवा समाज के (एरिस्टोक्रेटिक) अभिजात वर्ग में संगीत उतना लोकप्रिय न था जितना जन साधारण एवं राजाओं के वर्ग में। ब्राह्मण वर्ग धार्मिक संगीत को ही अधिक सम्मान प्रदान करता था।

खण्ड "घ"

पतञ्जलि कृत महाभाष्य में संगीत

मनोरञ्जन के अंग के रूप में पतञ्जलि ने भी संगीत के कुछ उल्लेख यत्र तत्र किये हैं। समाज, समास एवं समवाय[1] ये तीन संज्ञाएँ हैं, जिनका उल्लेख महाभाष्य में प्राप्त होता है। ये संज्ञाएँ तत्कालीन प्रचलित उत्सवों की द्योतक हैं, जिनमें अनेक प्रकार के मनोरञ्जन के साथ गीत, वाद्य एवं नृत्य भी होते थे। यहाँ पर नट अपना अभिनय करता था एवं कथाकार कहानी कहता था। महाभाष्य में 'नर्त्तकिका[2]' संज्ञा प्राप्त होती है, जिससे श्री वैजनाथ पुरी ने यह अनुमान लगाया है कि नृत्य केवल स्त्रियों तक ही सीमित था। इसकी पुष्टि के लिये वे समकालीन भरहुत-मूर्त्तिकला का उद्धरण देते हैं, जहाँ केवल स्त्री-नर्त्तकियों को ही उत्कीर्ण किया है[3]। नृत्य पैरों की गति एवं लय में किया जाता था तथा भाव प्रदर्शन हाथों द्वारा भी किया जाता था। इसका प्रमाण भरत के नृत्य संबंधी अध्याय में देखा जा सकता है।

महाभाष्य में एक नर्त्तक मोर की अपनी प्रेयसी के सम्मुख नृत्य करने की उपमा आई है जो अकेले नृत्य का द्योतक है[4]। किन्तु पतंजलि

१—१, १, ५० पृ० १२३ पं० ३।

२—६, ३, ४२ पृ० १५८ पं० १६।

३—देखिये चित्र संख्या २, ३ फलक २।

४—७, ३, ८७ पृ० ३३८ पं० २३–२४। प्रियाम् मायूरः प्रतिनर्त्तीति यद्वत् त्वम् नरवर नर्नृतीषि हृष्टः ॥

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

समूह नृत्य के भी एवं समूह नटों के भी उल्लेख करते हैं,[१] जिसे कुषाण-काल के एक अभिलेख में भी देखा जा सकता है।[२]

गायन एवं वादन से भी महाभाष्य अनभिज्ञ नहीं था। भरहुत कला की कुछ मुद्राएँ गायन का संकेत करती हैं।[३]

पतञ्जलि ने कुछ संगीत संबंधी वाद्यों का भी उल्लेख किया है।[४] मृदंग वीणा तूणव एवं शंख। इस वीणा की व्याख्या श्री पुरी सप्ततंत्री, गिटार प्रकार की वीणा के रूप में करते है जो भरहुत कला में अंकित हैं। इसे नागार्जुनीकोण्डा, अमरावती की कला तथा गंधार कला में भी देखा जा सकता है।[५] महाभाष्य में मृदंग के कुशल वादक को मार्दंगिक कहा गया है।[६] पिठर संगीत सबंधी ध्वनि बनाने के लिये Saucepan एक प्रकार था।[७]

इनमें से अधिकांश वाद्यों को भरहुत मूर्त्तिकला में देखा जा सकता है।

खण्ड "ड" (अ)

बौद्ध साहित्य में संगीत

बौद्ध साहित्य के अन्तर्गत पाली त्रिपिटकों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जिस प्रकार वेद एवं उपनिषद् ब्राह्मण धर्म के पवित्र ग्रन्थ माने जाते हैं, उसी प्रकार बौद्ध धर्म के ग्रन्थ पाली त्रिपिटक माने जाते हैं। त्रिपिटकों के अतिरिक्त इस काल में बौद्ध धर्म संबंधी कुछ अन्य ग्रन्थ भी मिलते हैं, यथा ललित-विस्तर, जो बुद्ध के जीवन का दिग्दर्शन कराता है, सद्धर्मपुण्डरीक महायान बौद्धों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

५—४, २, ६६ पृ० २८६ पं० १८ शैलालिनो नटा।

६—शैलालकाज एपि० इन्डि० भाग—१ संख्या १८ पृ० ३९६। देखिये 'पतंजलि कालीन भारतवर्ष'।

१—बरुआ० भरहुत भाग ३ ३४, ६६, १३६। फलक ३ चित्र ४

२—२, ३-३४ पृ० ४३५ पं० ११ मृदंग शंख तूणव वीना।

३—देखिये फलक ५, ६ चित्र १, २, ३ ६—; फलक ५ चि० सं० १६,

४—४, ४, ५५ पृ० ३३२ पं० ५ मृदंगवादनं शिल्पं अन्या मार्दंगिकाः॥

५—४, ४, ५५ पृ० ३३२ पं० ६। देखिये 'पतंजलिकालीन भारतवर्ष।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(त्रिपिटक हीनयान धारा का प्रतिनिधित्व करते हैं) तथा मिलिन्द प्रश्न जो ग्रीक राजा मिनान्डर एवं भिक्षु नागसेन के बौद्ध धर्म से संबंधित प्रश्नोत्तर के रूप में हैं।

बौद्ध धर्म के उक्त उत्सों का पृथक्-पृथक् विवेचन ही सुविधाजनक होगा क्यों कि पाली त्रिपिटक के स्वयं ही पर्याप्त विस्तृत एवं विपुल संख्यक भाग हैं। अतः सर्व प्रथम पाली त्रिपिटकों में उल्लिखित संगीत पर दृष्टिपात करेंगे।

पाली त्रिपिटकों में संगीत——संगीत के लिये 'गांधर्व' एवं 'संगीत' तथा 'शिल्प' संज्ञा प्राप्त होती है।[1] संगीत के अन्तर्गत गायन, वादन तथा नृत्य का ही सर्वत्र उल्लेख मिलता है। गायन, वादन एवं नृत्य के बहुधा एक साथ ही उल्लेख प्राप्त होते हैं।[2] कुछ स्थानों पर केवल नृत्य[3] एवं कहीं केवल वादन के साथ भी उल्लेख देखा जाता है।[4] पाली त्रिपिटकों में दूसरे शब्दों में बौद्ध हीनयान धारा में भिक्षुओं के लिये संगीत को सर्वदा निषिद्ध माना गया था।[5] स्वयं बुद्ध भी संगीत का उपयोग नहीं करते थे।[6] पाली 'त्रिपिटकों में गाथा' गायन'

१—महावस्तु भाग २ पृ० १५६, १९२, २०२ भाग ३ पृष्ठ ५८ भाग १ पृ० १३७, २५७ दीघ निका० भाग—२, ५, २ पृ० १३८; भाग—३ ३, १८३ पृ० १७५, १७६, १८४, १९०–९१–९२। विनय सूत्र० १३, १, १ पृ० १८०; १३, १, २ पृ० १८० वही महावग्ग०—१ ५६ पृ० ८३; दीघनिकाय भाग—२, १६०।

२—महावस्तु भाग २ पृ० १७, ३०, ११।

३—वही०।

४—वही०।

५—महावस्तु भाग २ पृ० १९२; भाग—३ पृ० १५; ७०; भाग २ पृ० १७, १४५, १५६, १९२, ३२२, ४६०।

६—भाग ३ पृ० १५, ५८, ७०; ११३, १३८, १४१, १६१, १६२, १७९, १८५, २२९, अंगु० निका० भाग—१, ३, ७०, १५ पृ० २१२। वही० ३, २, १०३ पृ० २३९ वही भाग—२ १९८–९ पृ० २०९ वही भाग—४, ८८; ५, ६ पृ० ३५९; खुद्दक पाठ २, ७ पृ० १; दीघ० निका०, भाग—१, १, १० पृ० ५ वही १, १, १३ पृ० ६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का भी उल्लेख प्राप्त होता है, जो कि तत्काल ही वैदिक गाथाओं का स्मरण दिलाता है। गंधर्व पंचशिख का उल्लेख दीघनिकाय में अर्हत् संबंधी गाथा-गायक के रूप में प्राप्त होता है।[१] ये गाथाएँ निश्चय ही विषय-वस्तु में वैदिक गाथाओं से भिन्न थी। वैदिक गाथाएँ यजमान की युद्ध, विजय एवं यज्ञ संबंधी प्रशस्तियों के रूप में सम्मुख आती हैं, जब कि ये गाथाएँ बुद्ध, धर्म एवं संघ संबंधी एवं अर्हत् संबंधी होती थीं।[२] उक्त उल्लेख से यह भी स्पष्ट होता है कि वीणावादन के साथ भी इनका गायन प्रचलित था। ये गाथाएँ इतनी प्रभावशाली होती थीं कि जिसने बुद्ध को पहले कभी नहीं भी देखा वह भी उनकी ओर आकर्षित हो जाता था। इसका संकेत भी उपर्युक्त अंश के संदर्भ से प्राप्त हो जाता है। जहाँ तुम्बरू की कन्या को प्रसन्न करने के लिये पञ्चशिख उक्त गाथाओं की रचना करता हैं एवं इसी से प्रभावित होकर कन्या भद्रासूर्यवर्चसा उसकी ओर खिंच जाती है अथवा उससे प्रसन्न हो जाती है।[३] गाथा गायन के साथ वीणा वादन का उल्लेख अन्य स्थल पर भी देखा जा सकता है, जहाँ दीघ कुमार मधुर स्वर से राजा की हस्तिशाला में गायन तथा वीणा का कुशलता से वादन करता था।[४] राजा इसके गायन वादन के माधुर्य से इतना प्रभावित हुआ कि उसकी नियुक्ति भी अपने राज्य में कर ली।[५]

गाथा, बुद्ध धर्म संघ के ज्ञाता ब्राह्मण के विषय में भी गाई जाती थी। टिक्कण नामक ब्राह्मण ने ऐसे ही ब्राह्मणों की गाथा गाई थी।[६]

१—दी० नि० १ पृ० २६४–५ एकमन्तंथितो रखोपंचसिखो गंधल्ब्वपुत्तो बेलुव-पाण्डुवीणं अस्सावेसि इमा च गाथा अभासि बुद्धूपसंहित, मम्मूपसंहिता अरहन्तूपसंहिता कामूपसंहिता ॥

२—वही०।

३—वही० पृ० ३६७–८।

४—विनय० महावग्ग १०, २, ११–१३ पृ० ३४५–४६ :

५—वही०।

६—अंगु० निका० ३, ६, ५८ पृ० १४६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गाथा एक प्रकार का प्रशस्ति गायन माना जा सकता है। गाथा गायन की शुद्धता पर भी पर्याप्त ध्यान दिया जाता था।[1]

दीर्घस्वर से गायन करने की पद्धति का भी प्रचार था। जो भिक्षु इस प्रकार युद्ध धर्मोपदेश का गायन करते थे उसे बुद्ध ने इसलिये निषिद्ध माना था कि उससे एकाग्रता में विघ्न होता है। स्वर को शुद्धता से दीर्घ करने के प्रयत्न में भिक्षु के स्वयं भी "राग" युक्त हो जान की आशंका होती है। "दीर्घ"गायन आधुनिक आलाप की प्रक्रिया सदृश समझा जा सकता है। अधिक दीर्घ आकार करके स्वर को लंबा करने की प्रक्रिया इसी के अन्तर्गत आती है।[2]

वर्षा की ध्वनि में भी गायन की ध्वनि को देखा गया था, अर्थात् प्रकृति भी संगीत-मय प्रतीत होती थी।[3] गायन एवं वादन परस्पर स्वर में मिला होना चाहिए, अर्थात् तंत्री-स्वर एवं गीतस्वर का एकीकरण होना चाहिये, इसके अभाव में संगीत सौन्दर्य-रहित एवं कर्णकटु हो जाता है।[4] नृत्य के साथ भी जो गायन वादन हो उसे एक स्वर में होना चाहिये।[5] किन्नरियों के गायन का उल्लेख भी बौद्ध साहित्य में मिलता है।[6] इनका गायन इतना मधुर होता था कि शिकारी भी उसे

१—वही० ३, ३७ पृ० १४४ सा खो पन एसा भिक्खवे सक्केन देवानां छन्देन गाथा दुग्गीता न सुगीता दुब्भासिता न सुभासिता॥

२—विनय० चुल्ल० ५, २, ६; ३, १, २ पृ० १०७–१०८। सक्यपुत्तिया आयतकेन गीतस्सरेन धम्म गायन्ति अस्सोसुं रखो भिक्खू तेसं मनुस्सानं उज्झायन्तानं खीयन्तानं विपाचेन्तानं॥ अनु० पृ० १४४–४६; अंगु० निका० ६, ५, २२, २०६ पृ० १८४।

३—थेर गाथा० ५१ पृ० ८, ५२, ५३, ५४ वस्सति देवो यथा सुगीतं चन्ना में कुटिका…॥

४—दीघ० निका० भाग–२ १,४ पृ० २६४–६५ संसदि रवो पन ते पंचसिखतन्तिस्सरो गीतस्सरेण गीतस्सरो च तन्तिस्सरेन च पन ते पंचसिख तन्तिस्सरो अतिवण्णति गीतस्सरो वा तंतिस्सरं…। महावस्तु० भाग–३ पृ० ५८।

५—महावस्तु० भाग २ पृ० १९२।

६—वही० पृ० ३४ भाग–३ पृ० १८५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सुनकर ऋषिगण से पूछते थे कि अमुक संगीत कहाँ हो रहा है ?[1] राजाओं के प्रशस्ति गायन भी होते थे।[2] जिन्हे रामायण महाभारत में सूतमागधों की स्तुति के रूप में पहले भी देखा जा चुका है।

वादन---वाद्य एवं वादन संबंधी विवेचन इसके अन्तर्गत आता है। सभी वर्ग के वाद्यों का ज्ञान त्रिपिटकों से प्राप्त होता है। वाद्यों की ध्वनि का इतना पवित्र माना गया था कि उसकी तुलना सुगत की ध्वनि से कर दी गई।[3]

ततवाद्य---इस वर्ग के वाद्यों में वीणा का स्थान महत्वपूर्ण था, एवं यही इस वर्ग का सर्वाधिक प्रचलित वाद्य था। यही प्राचीनतम तंत्रीवाद्य भी माना जाता है। इसके उल्लेख अनेक स्थलों पर देखे जा सकते हैं।[4]

'वेलुव पाण्डु' नामक वीणा त्रिपिटकों में अत्यधिक प्रचलित प्रतीत होती है। इसी के वादन से गंधर्वपुत्र पंचशिख ने प्रेमिका भद्रा को आकर्षित किया था एवं कुशल मधुर वादन से बुद्ध भी प्रभावित हो गये थे। 'वेलुव' संभवतः पीले रंग की कोई वृक्ष विशेष की लकड़ी थी, जिससे निर्मित होने के कारण इसका उक्त नामकरण किया गया प्रतीत होता है। सप्ततंत्री वीणा का भी पर्याप्त प्रचार था। जातकों में इसका विपुल प्रचार देखा ही जा चुका है।[5]

वीणावादन की पूर्व प्रचलित पद्धति, जिसे जातकों में भी देखा जा चुका है, अर्थात् प्रत्येक तंत्री को बारी-बारी से तोड़कर मात्र एक तार से सभी प्रकार का वादन करना, यहाँ भी प्रचलित थी। वीणावादक शिल्पवन्त ने भी प्रतियोगिता में इसी प्रकार का वादन किया था।[6]

वीणा की मार्जना विधि पर भी एक स्थल पर प्रकाश डाला गया है। वीणा के तारों को न तो अधिक कसा होना चाहिये न ही अधिक

१—वही० पृ० ६७।
२—वही० भाग—३ पृ० १३।
३—वही० भाग—१ अनु० १३४- २५७।
४—वही० भाग—२ पृ० ४६१, भाग—१ अनु० पृ० १३४, भाग—३ पृ० ३४—३५ तथा ५८।
५—विमान० ३२, २, ५, १ सत्ततन्ति सुमधुरं।
६—महावस्तु भाग—३ पृ० ३४—३५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शिथिल। दोनों ही प्रकार से वीणा को स्वरयुक्त अथवा वादन योग्य नहीं बनाया जा सकता है, अतः उसे मध्यम परिमाण में अथवा मध्य तारता में मिलाना चाहिये तभी उससे सुन्दर ध्वनि उत्पन्न होगी इस अंश से त्रिस्थानों का भी आभास मिल जाता है।

वीणा वादन के अन्य उल्लेख भी प्राप्त होते हैं। मार ने जब बुद्ध को आसक्त करना चाहा था, उस समय उसके पास वीणा भी थी, किन्तु बुद्ध पर प्रभाव पड़ता न देख उसने वीणा एक ओर रख दी तथा दुःख से भर कर लौट गया। इससे राक्षसों के साथ भी संगीत के संबंध का आभास मिलता है।[2] सांची की कला में भी राक्षसों के गायन वादन का उल्लेख देखा जा सकता है।[3]

कुमार दीघायु भी वीणावादन में कुशल था। पिता की मृत्यु के पश्चात् उसने वीणा वादन सीखा एवं अपने कुशल वादन से राजा को इतना प्रभावित किया कि राजा ने अपने राज्य में इसकी नियुक्ति कर ली थी।[4] वीणा के इस प्रकार एकाकी एवं सम्मिलित वादन का भी संकेत मिलता है। वीणा के उल्लेख समूह वादन में प्रयुक्त होने वाले अन्य वाद्यों के साथ भी मिलते हैं यथा-भेरी मृदंगादि—[5]।

१—अंगु० निका० भाग–३ ६, ६. १ पृ० ३७५ तं किं मञ्ञसि सोणकुसलो··· यदा ते वीणाय तन्तियो उच्चायता होन्ति अपि नु ते वीणा तस्मिं समये सरवती वा होति कम्मञ्ञावति···अतिसिथिला होन्ति···न अच्चायता होन्ति नातिसिथिला समेगुणे पतिट्ठिता···॥

२—संयुक्त० नि० ४. ३. ३ भाग–१ पृ० १२२ तस्स सोकपरेतस्स वीणाकच्छा अभस्सथ।

३—देखिये फलक ४ चित्र ८

४—विन० पिट० १०. २. १२–१३ पृ० ३४५–४६। यं मंजुना सरेन गायि वीणञ्च वादेसि।

५—दीघ० नि० भाग–२–१६. ५. १८ पृ० १४७ भेरिसद्देन मुतिङ्गसद्देन वीणासद्देन गीतसद्देन···। थेर० गाथा० ४६७ पृ० ४६ रमन्त एके मुतिंगेहि वीणाहि—पणवेहि च। विमान वत्थु १८. २।१ पोक्खरो च सुफसो च वीणा। विमान० ३५. ३. ३७ वीणामुरजसम्मताल···। ३. ५४. ५. ४; ६४. ५. १४ पमोदयन्ति वीणा यथा पोक्खरपत्त···। ८१. ७. ७–१०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

"मड्डुवीणा" नामक एक नवीन प्रकार की वीणा का भी उल्लेख मिलता है, किन्तु इसका स्पष्ट स्वरूप अज्ञात है।[1] वीणाओं के अन्य प्रकारों के नामोल्लेख भी प्राप्त होते हैं यथा वल्लकी, विपंची, महती वीणा, भ्रमरिका वीणा एवं एकादश वीणा। इनमें से एकादश एवं भ्रमरिका के स्वरूप के विषय में निश्चित नहीं कहा जा सकता।[2]

आनद्ध वाद्य—त्रिपिटकों में इस वर्ग के निम्नोक्त वाद्यों का उल्लेख प्राप्त होता है। मृदंग, पणव, भेरी, मुरज, डिण्डिम, दुन्दुभि, आडम्बर, कुंभतूणिक तथा मरू एवं मरू पटह।[3] मरू पटह नामक वाद्य का मात्र महावस्तु में ही उल्लेख आया है। यह पुष्कर वर्ग का वाद्य है किन्तु इसका स्वरूप अज्ञात है। उक्त सभी वाद्यो का वादन भिन्न-भिन्न अवसरों पर होता था। यात्रा, सेना-प्रयाण, घोषणा इत्यादि के अतिरिक्त अन्तःपुर सदा इनसे प्रतिध्वनित होता था, एवं नृत्य तथा गायन के साथ संगत रूप में प्रयोग बहुतायत से होता था। जुलूस' में ढोलवादकों का अग्रगण्य स्थान होता था जैसा भरहुत की कला में भी देखा जा सकता है।[4]

१—विनय० पिट० ५. २६. २ पृ० १३६–१४४ मुरजं मड्डवीणं...।

२—महावस्तु भाग–३ पृ० ४०८।

३—दीघ० भाग–१, २. ६० पृ० ७९; ५. १८ पृ० १४७; विमान० ८१. ७. ७; थेरगाथा ४६७४ पृ० ४९; महावस्तु० भाग–३ पृ० २२९; २५५ २६४, २७०, ४०८, ४४२–४३, १६५ भाग–२ पृ० १ १००, १५६, १४५, १५१–५६, २२२, दीघ० नि० २. ६० पृ० ७९; १६. ५. १८ पृ० ७९; अंगुल० निका० भाग ३. ६. ६. ६. पृ० ३९७; चरियापिटक पृ० २२, बुद्धवंश ४–६ पृ० २१; ११. ६ पृ० ३५; २.२ पृ० ६; २. ४९ पृ० ९; विनय० पि० १०. २. ९. पृ० ३४४–५ बुद्धवंस १. ३२ पृ० ३; विनय० ५. २६. २ पृ० १३९; विमान० ३५. ३. ७, ८४. ७. १०; पेतवत्थु ३. ३ पृ० ३३।

४—देखिये फलक ३ चित्र १

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सुषिर वाद्य——इसके अन्तर्गत शंख, वेणु, तूणव, सुघोषक, नकुल (?) इत्यादि उल्लिखित है।[१] सुघोषक की व्याख्या श्री जोन्स ने तुरही के रूप में की है एवं सुषिर वाद्यों के वर्ग में रखा है। 'नकुल' का अन्यत्र उल्लेख नहीं मिलता। यों आधुनिक आंचलिक प्रदेशों में इसे सुषिर वाद्य के ही अन्तर्गत देखा जा सकता है। इस काल में दो मुखवाले वेणु भी प्रचलित थे, जिन्हें सांची में अंकित किया गया है।

घन वाद्य—इसके अन्तर्गत करताल का उल्लेख मिलता है।[२] शम्या एवं ताल[३] का भी उल्लेख मिलता है। पाणि स्वरिका से करताल वादन का भी तात्पर्य लिया जा सकता है।[४] बुद्धघोष मजीरे से तात्पर्य लेते है। जो भी अर्थ लें लय, ताल जो घनवाद्यों का प्रयोजन होता है, उससे त्रिपिटक साहित्य अनभिज्ञ न थे।

तूर्य—'तूर्य' के लिये बहुधा तुरिय संज्ञा का प्रयोग किया गया है। यह संज्ञा जैसा देखा जा चुका है, सामान्य रूप से सम्मिलित वाद्यवादन के लिये तथा वाद्यों के लिये प्रयुक्त की गई है। पंचांगिक तूर्य संज्ञा बहुतायत से प्राप्त होती है। संभवतः इसमें चार वर्गों के अतिरिक्त पाँचवा अंग मिश्रण से बना अंग भी सम्मिलित था। पंचांगिक तूर्य का उपयोग जैसा संदर्भों से भी स्पष्ट है नृत्य, गीत के साथ

१—महावस्तु–भाग–३ पृ० १६५...काचित्सुघोषकं काचिद्वेणु।
वही० पृ० २२६; २६४, २७०, ४०८। वही भाग २ पृ० १४५, १५१, ५६, ३२२।
भाग–१ अनु० पृ० १३४–२५७।

२—देखिये फलक १ चित्र ११

३—व्याख्या भरत के ताल संबंधी अध्याय में देखिये।

४—विमान० ३५. ३. ७ सम्मतालघुट्ठं...। दी० नि० भाग–१, १. १. १३ पृ० ६ पाणिस्सरं वेतालं कुम्भथूणं...। भाग–२, १६. ५. १८ पृ० १४७ गीतसद्देन सम्मसद्देन तालसद्देन...। भाग–३, .३१ १० पृ० १८३ कुवं पाणिस्सरं कुर्वं कुंभथूणंति। महा० भाग०–२ पृ० १००. १५६; महावस्तु० भाग–३ पृ० २५५. १६१।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तथा अन्य सामाजिक एवं धार्मिक अवसरों पर होता था।[१] मुरज-वेणिका नामक वाद्य पंचांगिक तूर्य का एक अंग हो सकता है। इसकी व्याख्या ओल्डेन वर्ग ने (टेम्बुरिन ड्रम) झांझ डफ के रूप में की है। यह आधुनिक खंजरी का समकक्ष माना जा सकता है।[२] पंचांगिकतूर्य में परस्पर एकरूपता होनी चाहिये, इसका भी संकेत एक अंश में देखा जा सकता है।[३]

नृत्य——त्रिपिटकों में नृत्य के भी अनेक उल्लेख यत्र तत्र बिखरे देखे जा सकते हैं। नृत्य की जो परंपरा प्राचीन काल से चली आ रही थी यहाँ भी अक्षुण्ण रूप में रही। 'वंशधोपन' नामक नृत्य वंशनर्तिन का समकक्ष आज की भाषा में शास्त्रीय न कहकर एक्रोवेटिक या नटसंबंधी कहा जायगा।[४] जो लोग नृत्य से जीविका चलाते थे वे प्रायः ऐसे ही हलके फुलके शास्त्रीय प्रकार ही चुनते होंगे। इस नृत्य का उल्लेख जातको में भी देखा जा चुका है।[५]

'नृत्य' ऐसी अवस्था या क्रिया है जो प्रसन्नता की द्योतक होती है। अत्यधिक प्रसन्ना में व्यक्ति नृत्य सा कर उठता है।[६]

१—विमान० १।५ तेसं निग्घोसो तुरिये पंचङ्गिके यथा ॥ ४ ॥ ३६. ३. ८. ४; ३८. ३. १०. ४; ३६. ४. १. १; ४४. ४. ६. १४; ६४. ५. १४. ५–२२; ८४. ७. १०. १८; बुद्धवंस २. ४६ पृ० ६; संयु० निका० भाग–१, ६. ६ पृ० २०२; अंगु० निका० भाग–३, ६. ५०१ पृ० ३४५; वही० भाग–४ ८. ५. ६ पृ० २६५; थेरगाथा २६७ पृ० ३३; दीघ० निका० भाग–२, १४. ३८ पृ० २१; वही० १. ६ पृ० १७१; महावस्तु० भाग ३, पृ० २२६; भाग १, अनु पृ० १३४, भाग ३ पृ० २३. १३८, २२६–२६; १७०; १७७–१८७; भाग–२ पृ० १७, २६२, २०६, २६८, ३०३ ३०८।

२—विनय० चुल्ल ५-३० पृ० २४४ मुरजवेणिका।

३—महावस्तु भाग–३ पृ० २२६ पंचांगिकतूर्यस्स कुशलेहि वादकेहि सम्यक् संप्रवादितस्य घोषो निश्चरति।

४—दी० नि० भाग–१, १. १३. पृ० ६ चाण्डालं वंसधोपनं···।

५—जातक ४. ३६०।

६—दी० नि० भाग १, ५. २२ पृ० १३५ मनुस्सा च मुदामोदमाना उरे पुते नच्चेन्ता अपाकस···।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नृत्य के साथ गायन का प्रचार-बाहुल्य था। गंधर्व, नागा, कुंभण्ड आदि वर्गों के नृत्य एवं साथ ही गायन का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।[१] वादन भी नृत्य का सहायक होता था। नृत्य के ताण्डव एवं लास्य प्रकार भी ज्ञात थे।[२] 'ताण्डव' जिस प्रकार वीर रौद्र रस का द्योतक है, लास्य कोमल सुकुमार नृत्य का।

समूह नृत्यों का भी प्रचार था जैसा उल्लेखों के संदर्भों से स्पष्ट है। सोलह नर्त्तकियों के एक साथ नृत्य या समवेत नृत्य का उल्लेख भी एक स्थल पर आया है। कुट्टक संज्ञा उस कालीन के लिये प्रयुक्त की गई है जिस पर नर्त्तकियाँ नृत्य करती है।[३]

नृत्य उत्सवों में तो होता ही था सम्माननीय व्यक्ति की मृत्यु के अवसर पर अन्तिम संस्कार से पूर्व भी होता था। बुद्ध की मृत्यु के अवसर पर मल्लों ने कई दिन तक गायन, वादन नृत्यादि किया था। इसका अंकन सांची की कला में देखा जा सकता है।[४]

जीव जन्तुओं के साथ भी नृत्य का संबंध देखा जा सकता है। चूहे एवं मोरों के नृत्य का कुछ स्थलों पर उल्लेख उक्त तथ्य की पुष्टि करता है।[५]

१—दी० नि० भाग ३, ३२. ४ पृ० १७६। गंधब्बानं अधिपति ध्रतरट्ठो इतिनाम सो रमति नच्चगीतेहि गंधब्बेहि पुरक्खतो॥ वही० ३२. ५ पृ० १६८ रमति नच्चगीतेहि कुंभण्डेहि पुरक्खतो॥ वही० ३२. ६ पृ० १६६। रमति नच्चगीतेहि नागेहि पुरक्खतो। विमान० ५. १. १२. २; २६. ३. १. १; ३२. ३. ४. २; ३१. ३. ३. २; ३८. ३. १०. १-२।

२— विनय० भाग-१ सुतविभंग १३. १. १ पृ० १८०। नच्चन्ति पि गायन्ति पि वादेन्ति पि लासेन्ति पि नच्चन्तिापि नच्चन्ति नच्चान्तियापि गायन्ति नच्चन्तियापि वादेन्ति नच्चन्तियापि लासेन्ति गायन्तियापि नच्चन्ति··· थेरगाथा २६७ पृ० ३३ थेरीगाथा ३६० पृ० २११। महावस्तु भाग-३ पृ० ४४२ ताण्डविक।

३—विनय० महावग्ग ५. १०४ पृ० १६२ कुट्टकं अनु० पृ० २५७।

४—दीघ० नि० भाग-२, २. १६६ पृ० १८०। देखिये फलक चित्र

५—संयु० निका० भाग-१-७. १. १० पृ० १७०। भूसिका उस्सोल्हिकाय नच्चन्ति···विनयपिटक की टीका १२०१ में मोर का नृत्य देखना भिक्षुओं के लिये निषिद्ध था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नृत्य में गायन वादन के साथ अनुकूल भाव प्रदर्शन अंग उपांगों के द्वारा दिया जाता था।[1] नृत्य ताल से युक्त होता था।[2] नृत्य की कुछ मुद्राओं को भरहुत की कला में भी देखा जा सकता है। भरत के नाट्य शास्त्र में उल्लिखित मुद्राओं से समीकरण भी किया जा सकता है, भरहुत के संगीतरूपक में चार अप्सराओं में से प्रथम ऊपर की पंक्ति वाली "पटाक" मुद्रा में है, उसके दोनों हाथ उसी मुद्रा में है। नाट्य शास्त्र में इस मुद्रा का उल्लेख किया गया है।[3] इसके बाद वाली अप्सरा का बायाँ हाथ पटाक मुद्रा तथा दायां हाथ अरलचा शुचिमुख मुद्रा में है।[4] इनमें से तीसरी का बाँया हाथ पटाक मुद्रा में, दायाँ चतुर मुद्रा में है।[5] इन मुद्राओं के विषय में विस्तृत विवरण भरत ने अपने ग्रन्थ में दिया है।[6]

नृत्य स्त्री पुरुष दोनों करते थे। कभी-कभी बच्चे भी करते थे।[7]

संगीत एवं राज्य तथा राजा—पूर्व अध्यायों में भी देखा जा चुका है, संगीत राज्य का अभिन्न अंग बन गया था। राजधानियां सर्वदा संगीत से प्रतिध्वनित हुआ करती थीं। राजाओं का पालन पोषण संगीत-मय वातावरण में होता था। राजा का शयन जागरण संगीत के साथ होता था। राजा कुशल संगीतज्ञों की नियुक्ति भी कर लेता था। राज्य में वैतालिक आदि प्रशस्ति गायन के लिये नियुक्त होते थे।

'सोभ' नामक नगरी अपने संगीत मय वातावरण के लिये अति प्रसिद्ध थी। इस नगरकी भिन्न भिन्न व्याख्याएँ प्राप्त होती हैं, तथापि यह तो स्पष्ट ही है कि यह नगर संगीत के लिये विशेष प्रसिद्ध रहा

१—विमान० ४६. ४. ८. १ हत्थे पादे च विग्गटह नच्चसि सुप्पवादिते।

२—वही० ३२. ३. ४. २ नच्चित्वा गायित्वा सुतालं व्रवि।

३—ना॰शा० ९–१८।

४—वही० ९. ४९।

५—वही० ९।९३।

६—देखिये भरत का नाट्यशास्त्र।

७—देखिये फलक २ चित्र २।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होगा।[1] निरति, हस्तिनापुर, कपिल नगरी, शाक्यों की नगरी, इंद्रप्रस्थ नगरी, इत्यादि सर्वदा गायक, वादक एवं नर्त्तकों से परिपूर्ण रहती थीं। अनेक वाद्यों एवं गायन की ध्वनि सर्वदा उसकी शोभा को बढ़ाती रहती थी।[2] इसी प्रकार कुशावती राजधानी के लिये भी कहा गया है कि वह दस शब्दो से परिपूर्ण रहती थी, जिसमें गीत के अतिरिक्त भेरी, मृदंग, वीणा, मजीरे एवं ताल के शब्द भी समाविष्ट थे।[3]

राजकुमारों के जीवन में संगीत का महत्वपूर्ण स्थान था। राजा कुमारों की खुशी के लिये संगीत की व्यवस्था करते थे। विपस्सी राजकुमार के लिये उसके पिता ने तीन ऋतुओं के लिये तीन महल बनवाये थे एवं उसे स्त्री संगीतकारों, गायिकाओं, वादिकाओं से परिपूर्ण कर दिया था ताकि कुमार की इन्द्रियाँ सन्तुष्ट हो।[4] राजा कुमारों

१—दी० नि० भाग० १, १. १. १३ पृ० अनु० पृ० ७–६। सोनगरकं'''॥ बुद्धघोष इसे सोभनगर मानते हैं जो सुन्दर दृश्यों से युक्त था तथा इसे समूह-नृत्य में प्रयुक्त होने वाला आलंकारिक या सजा हुआ दृश्य मानते हैं संभव है सुन्दरता के कारण ही यह नगर के नाम पर प्रयुक्त होने लगा। वेबर इसे संगीतादि में प्रवीण गंधर्वो की नगरी मानते हैं। सिंहलियों ने इसकी नर्त्तकों के सिर पर जल डालने अथवा नग्न चित्रकला के रूप में व्याख्या की है। महावस्तु भाग–२ पृ० १०६–१०६ नाना प्रकाराणि वाद्यानि वादेन्ति मधुरेण च स्वरेण मनोहरां परिगायन्ति अभ्यन्तरनगरे च तूर्यशतशब्दानि श्रृण्वन्ति च गीतशब्दानि श्रृण्वन्ति॥ पृ० १००–१५६ कपिलनगरे तूर्यशत्तनिनादितानि भवनानि॥ पृ० ११२ भाग३ पृ० २२६।

२—वही०।

३—दी० नि० भाग–२ १६. ५. १८ प० १४७; बुद्धवंस २।२ प० ६ अस्ससद्दं भेरि सद्दं संखस्थानि च।

४—दी नि० भाग–२; १४. २८ पृ० २१ अनु० पृ० ४८६ तत्र सुदं भिक्खवे विपस्सी कुमारो वस्सिके पासादे वस्सिके चत्तारो मासे निप्पुरिसेहि तुरियेहि परिवारयमानो न हेत्था पासादं ओरोहति॥ निप्पुरिस स्त्री सर्ग के संगीतकारों का द्योतक है सेनार्ट ने महावस्तु तृतीय भाग पृ० ४८६ में भी यही अर्थ लिया है, यद्यपि चाइल्डर्स ने वाद्यों के रूप में व्याख्या की है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को अरण्य जीवन की अपेक्षा उन्हें वीणा वेणु आदि संगीत की ध्वनियों में लीन रखकर सांसारिक जीवन में देखना चाहता था।[१]

राज्य के अनेक घोषणात्मक कार्य वाद्यवादन के साथ होते थे। यथा जब किसी को दण्ड दिया जाता था तो उसे कर्कश स्वर वाले वाद्यवादन के साथ नगर भर में घुमाया जाता था।[२]

राजा की संगीत प्रियता का संकेत इस तथ्य में भी देखा जा सकता है कि उसकी हस्तिशाला का अध्यक्ष गजप्रशिक्षक भी संगीताचार्य होता था एवं उसका शिष्य भी इतना अच्छा गायन वादन करता था कि राजा ने उसे अपने अन्त:पुर में नियुक्त किया था जो प्रतिदिन राजा के जागरण एवं निद्रा से पूर्व गायन वादन द्वारा उसका मनोरञ्जन करता था।[३]

राजाओं का अन्तःपुर सदा संगीत से एवं संगीतकारों से परिपूर्ण रहता था। यशोदा नामक युवक को अन्त:पुर में संगीतवाद्यों को लेकर सोती हुई स्त्रियों को देखकर श्मशान सी अनुभूति हुई थी एवं उसने सांसारिक मोह त्याग दिया था।[४]

राजा एवं राजकुमारों के स्नान के अवसर पर तथा राजपुत्रों के जन्म के अवसर पर भी संगीत होता था। राजा अपने राज्य में बाहर से भी अर्थात् देश विदेश से नट नर्त्तक गायक वादकों को बुलवाता था जो उनके राज्य की शोभा वृद्धि करते थे।[५]

१—महावस्तु भाग–३ पृ० २७०।

२—विनय० महा० १०. २. ६ पृ० ३४४–४५। स्वरस्सरेण पणवेन।

३—विनय० महा० १०. २. १२–१३ पृ० ३४५–४६।

४—महावस्तु भाग–३ पृ० ४०८ भाग–२ पृ० १४५ किमिदं भो पुरुष कुमारस्य अन्त:पुरे गीतरवशब्दो नृत्य भेरी मृदंग वीणा वंशपणक रवशब्दौ श्रूयते॥ १५१, ५६–३२२, १५६ इन अंशों की तुलना रामायण के सुन्दरकाण्ड के अंशसे भी की जा सकती है।

विनय महा० १०. २. १२–१३ पृ० ३४५–४६।

५—महावस्तु भाग–३ पृ० १६१, ६५, वही० पृ० २२; भाग–२ पृ० १७. ३०–१ अंगु० निका० भाग० ३. ६–५.१ पृ० ३४५ तेन रवो पन समयेन रञ्ञो पसेनदिस्स कौसलस्य सेतो नाम नागो महातुरिय तालित वादिन्तेन पुब्बकोट्ठकापच्चु हरति॥

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राजा स्वयं भी संगीतकार होता था ऐसा एक उल्लेख मिलता है जहाँ पद्मावती का राजा स्वयं नृत्यगीत सिखाता था।[1]

राजाओं की सेना में वाद्यवादकों का सहयोग भी होता था। राजा जब कभी कहीं प्रयाण करता था तो संगीतकार साथ साथ चलते थे। एवं राजाओं का और सम्माननीय व्यक्तियों का स्वागत भी संगीतकारों द्वारा किया जाता था।[2]

राज्य में किसी प्रकार की घोषणा, दान आदि किया जाता था उस अवसर पर भी वाद्यवादन होता था। घोषणात्मक कार्यों में दुन्दुभि का महत्त्वपूर्ण स्थान था।[3]

नगर के उद्यान भी नृत्य गीत वादन से अछूते न थे। वहाँ भी संगीत होता था। गिरिव्रज नामक नगर का उद्यान नृत्यगीत वाद्य से परिपूर्ण रहता था।[4]

इस प्रकार संगीत यद्यपि भिक्षुओं के लिये निषिद्ध था[5] तथापि गृहस्थ, उपासकों एवं राजाओं के जीवन का आवश्यक एवं अभिन्न अंग था।

संगीत एवं गृहस्थ—भिक्षुओं के लिये यद्यपि संगीत निषिद्ध था[6] तथापि गृहस्थों के लिये विशेष कठोर नियम नहीं था। गृहस्थ

१—महावस्तु भाग–३ पृ० १६२।

२—अंगु० नि० भाग–३ ६. ६. ६. पृ० ३६७ महावस्तु भाग–२ पृ० १८०, १८६, ३९७ भाग–३ पृ० ९६, ११३–१४, १७९।

३—चरिया पिटक २४–२५ पृ० २२कण्णभेरिमहादानंददामहं ॥
पेतवत्थु ३. ३. ४ पृ० ३३ बिन्दुस्सरा दुन्दुभीनं व घोसो ॥

४—पेत० ४. ७२ नच्चं गीतं रतिखिड्डं अनुभूत्वा अनधकं, उय्याने चरित्वान पविसन्तो गिरिब्बजं।

५—दीघनिकाय ब्रह्मजाल सुत्तन्त, विनयपिटक चुल्लवग्ग पृ० १४५–४६; खुद्दकपाठ २. ७ पृ० १ नच्चगीतवादित विसूकदस्सनावेरामणी सिक्खापदं समादियानि ॥

६—विनय० महा० १. ५६ पृ० ८३ विनय सुत्त० १३. १. १. पृ० १८०, १३. १. २ पृ० १८०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संगीत आयोजन का आनंद ले सकते थे। जनसाधारण में भी संगीत पर्याप्त लोकप्रिय एवं परिचित था क्योंकि वाद्यों की ध्वनि से वे तत्काल पहचान लेते थे कि वह अमुक वाद्य-ध्वनि है।[1] सिंगाल नामक गृहस्थ संगीत में इतनी रुचि रखता था कि न मिलने पर वह सोचता है कि नृत्य गायन वादन कहाँ गया ?[2]

संगीत नृत्यादि भिक्षुओं के लिये निषिद्ध माने गये थे। ऐसे कार्य-क्रमों में भाग लेना उनकी बुरी आदतों के अन्तर्गत आता था। इसी प्रकार "समज्जा" नामक उत्सव में गृहस्थों को जाने की अनुमति थी जबकि भिक्षुओं को निषिद्ध था।[3]

संगीत जीविका का साधन—संगीत के विभिन्न उपयोग ज्ञात थे। यह जीविका का भी साधन था। नट नटी वैतालिक एवं राज्य में नियुक्त संगीतकार साधारण जनता का ही प्रतिनिधित्व करते हैं, जिनकी जीविका का साधन संगीत था।[4] आवश्यकता पड़ने पर राजा भी संगीत को जीविका के रूप में अपनाने में नहीं हिचकता था। कुश राजा अपनी मां से यही बात कहता भी है यथा—"अहं अम्बे नृत्य-गीतवाद्येन अन्ये हि च······आत्मने वृत्तिं···।।[5] संगीतकारों का एक भिन्नवर्ग भी बन गया था। एक स्थल पर प्रजापति की मां इक्ष्वाकु राजा के विषय में पूछती है कि वह संगीतकार है अथवा चाण्डाल।[6]

संगीत संबंधी उत्सव—समाज में संगीत का विपुल प्रचार था। इसका प्रमाण संगीत संबंधी उत्सवों के उल्लेख हैं जहाँ नृत्य गीत वादन होता था।

समज्जा ऐसा उत्सव था जहाँ अन्य कार्यक्रमों के अलावा गीत वाद्य नृत्य के भी कार्यक्रम होते थे। पहाड़ों पर होने वाले मनोरंजन

१—दीघ० नि० भाग०—१ २. ९० पृ० ७६।

२—वही० भाग—३, ३१. १० पृ० १८३ च खौं मे गृहपति पुत्र आदीन वा समज्जाभिकरणे कुवं नच्चं कुवं गीतं कुवं वादितं।।

३—विनय० ५. २. ६; ३—१—२ पृ० १८०:।

४—दी० नि० भाग—१; १. १३. पृ० ६ पाणिस्सरं वेतालं।

५—महावस्तु० भाग—३ पृ० १५।

६—वही० पृ० २१।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

या "समज्जा" को "गिरग्ग समज्जा" कहा गया है। इसका उल्लेख अशोक के अभिलेख में भी प्राप्त होता है।[1]

संगीत का जीवन में इतना महत्व था कि मौद्गलायन सारिपुत्र को चिन्तित देख उसे यह कहता है कि वह वीणा मृदंग आदि की ध्वनि सुने एवं जीवन के प्रति प्यार उत्पन्न करे।[2]

संगीत के अन्य उपयोग—संगीत केवल मनोरंजन ही का साधन न था उसके अन्य उपयोग भी थे। बुद्ध पूजा, बुद्ध संबंधी गाथा, एवं अस्थि पूजा के अवसर पर भी संगीत का उपयोग होता था। जब बुद्ध को निर्वाण प्राप्ति हो गयी थी उस समय कुशीनारा के मल्लों ने कई दिन तक संगीत प्रस्तुत किया था। एवं अन्तिम संस्कार जब तक नहीं हुआ वे उनके शरीर के आस पास नृत्य गीत वादन करते रहे। इसका अंकन सांची की कला में भी किया गया है।[3]

पूजा के समय, प्रदक्षिणा करते समय भी संगीत का विधान था।[4]

संगीत शिक्षा एवं आचार्य—संगीत के उक्त विपुल उल्लेखों के आधार पर यह अनुमान करना अनुचित नहीं कि संगीत की शिक्षा भी दी जाती थी। संगीत के आचार्य शिष्यों को शिक्षा प्रदान करते थे। इसका उल्लेख पहले भी देखा जा चुका है। कुमार दीर्घायु महावत से कहता है कि "आचार्य मैं तुमसे सब शिल्प सीखूँगा"। तथा

१—संयु० निका० भाग—१ ९. ९ पृ० २०२ अथ रवो सो भिक्खू वेशालियं तुरियतालित वादित निग्घोसा सद्दम्···॥ दीघ० निका० भाग—३, ३१. १० पृ० १८३।
आदीनवा समज्जाभिकरणे॥ विनय० चुल्ल० ५. २. ६; ३—१. २ पृ० १०७—८ गिरग्ग समज्जो होति; अशोक-शिलालेख प्रथम।

२—महा० भाग—३ पृ० ५८।

३—दीघ० निका० २. १५९ अनु० पृ० १८०। देखिये चित्र० सं० १ फलक २

४—विमान० ३२. ३. ४. ४. पदक्खिणा नच्चगीतवादिते अचिक्कतेत्वं नरनारिहि पुच्छितानि।
बुद्ध० १४. ९ महा० भाग—३ पृ० १३८ भाग—२ पृ० २०१—२—३; ३३९; ३४६, ३८३।.
भाग—१ अनु० १८७, २५४।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

इस प्रकार उसने गायन एवं वीणावादन की शिक्षा प्राप्त की थी।[१] अन्य कुशल वादकों में 'सोण' नामक व्यक्ति का भी उल्लेख आता है।[२] अच्छे अच्छे कलाकार समाज में होते थे एवं प्रतियोगिताएँ भी होती थी जहाँ उनकी कला कुशलता देखी जा सकती थी।[3]

संगीत का देव, अप्सरा, गंधर्व एवं किन्नरों के साथ संबंध–

संगीत एक ऐसा मनोरंजन था जिसका आस्वादन जनसाधारण से लेकर देवता वर्ग तक होता था।[४] गंधर्वों के साथ घनिष्ठ संबंध का ज्वलन्त प्रमाण गांधर्व संज्ञा ही है। पंचशिख गंधर्व एक कुशल संगीतकार था। इसका अंकन भरहुत की कला में देखा जा सकता है।[५] वह स्वयं गाथाओं की रचना भी करता था।[६]

अप्सराओं के साथ भी संगीत का उतना ही घनिष्ठ संबंध था जितना गंधर्वों के साथ।[७] कुछ अप्सराओं के नाम भी प्राप्त होते हैं जो संगीतकुशला थीं यथा नन्दा, सुनन्दा, अलंबुसा मिश्रकेशी, पुन्डरीकाति, सोणदिन्ना इत्यादि।[८]

किन्नरों का परिवार ही संगीतज्ञ होता था अतः उनका संगीत से संबंध स्पष्ट ही है।[९]

१—विनय० महा० १०. २. १२–१३ पृ० ३४५–४६ इच्छा अहं आचरिय सिप्पं सिविखतुनति ॥

२—अंगु० निका० भाग–३, पृ० ६. ६. १ पृ० ३७५।

३—महावस्तु भाग–३ पृ० ३४–३५ वीणावादक शिल्पवन्त का उल्लेख।

४—विमान० ३२. ३. ४. २ देवता नचित्वा गायित्वा। बुद्धवंस ३. ४६० पृ० ६ देवदिब्बेहि तुरियेहि।

५—महा० भाग–१ अनु० पृ० १७०।

६—दीघ० निका० भाग–२ १. ४ पृ० २६४–६५; वही० भाग–२ १. ४ पृ० १६७।

७—अंगु० निका० भाग–४, ८. ५–६ पृ० २६५; विमान० १।११।२ अच्छरायो समन्ततो नच्चन्ति गायन्ति। वही १. १२. २, १८, २.१ –६–१३। ६. ५. १४. २१; ७८. ७. ४. १. २;।

८—विमान० १८. २. १–१०–११–१२।

९—महावस्तु भाग–२ पृ० ९७ भाग–२ पृ० ३४, ९७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संगीत एवं स्त्री वर्ग——संगीत का स्त्रियों के साथ संबंध स्पष्ट था। अप्सराएँ, किन्नरियाँ, एवं अन्तःपुर की गायिका, वादिका एवं नर्त्तकियाँ इस तथ्य की पुष्टि करती हैं। स्त्रियों के साथ संबंध के उल्लेख राज्य से संबंधित संगीत के अंशों में देखे जा सकते हैं। अनेक स्थलों पर स्त्रीवर्ग का संगीत से संबंध देखा जाता है।[१] सभा में स्त्रियाँ भी राजा का प्रशस्ति गायन करती थीं।[२]

इस प्रकार हम देखते हैं कि पाली त्रिपिटक साहित्य संगीत के विपुल एवं विस्तृत प्रचार का अवलोकन कराते हैं। संगीत का धार्मिक एवं लौकिक दोनों ही उपयोग समाज में फैल चुका था। संगीत जीवन में इतना घुल गया था कि आनंद नामक बौद्ध भिक्षु को प्रकृति की वस्तुओं में भी संगीत की ध्वनि सुनाई देती थी। जब ताड़ के पत्ते हवा से हिलकर प्रतिध्वनित होते थे तो उसमें पंचांगिक तूर्य की अनुभूति होती थी। मानो कुशल वादक स्वर-संहति से अथवा सम्यक् रूप से पंचांगिक तूर्य बजा रहे हों।[3]

निष्कर्ष स्वरूप यही कहना पर्याप्त होगा कि संगीत संबंधी ग्रन्थ न होने पर भी त्रिपिटकों में संगीत के विपुल उल्लेख मिलते हैं जो उसके प्रचार एवं विस्तार तथा विकास के द्योतक हैं।

खण्ड "ड" (आ)

ललितविस्तर सद्धर्म पुण्डरीक एवं मिलिन्द प्रश्न में संगीत——

जैसा कहा जा चुका है उक्त तीनों ग्रन्थ बौद्ध धर्म से ही संबंधित है। एवं यथास्थान संगीत का भी प्रसंगवश उल्लेख करते हैं। संगीत

१—विनय० १३. १. १ पृ० १८०; विनय० ५. १०. ४ पृ० ३६२। थेरगाथा २६७ पृ० ३३ नारी तुरिये नच्चति नट्टकी; विमान० १८. २. १. १०; ३२. ३. ४. ४; ५४. ५. ४. २;।

२—महावस्तु भाग—३ पृ० १३।

३—वही भाग—३ पृ० २२६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के लिये यहाँ भी सामान्यतः "संगीत" अथवा "गंधब्ब" संज्ञा ही प्राप्त होती है।[१]

गायन—इसके लिये "गीत" संज्ञा प्राप्त होती है तथा बहुधा इसका नृत्य एवं वादन के साथ ही उल्लेख मिलता है।[२] गीत अनेक अवसरों पर होता था। गीत-रचना का भी एक स्थल पर उल्लेख आता है, जो इस बात का संकेत करता है कि गायक भी संभवतः रचना करते थे।[३] गाथा का भी उल्लेख मिलता है जो संभवतः वही गाथा है जिसे त्रिपिटकों में देखा ही जा चुका है।[४] गायन लयबद्ध हो इसका भी स्पष्ट संकेत देखा जा सकता है।[५]

वादन—चारो वर्ग के वाद्य उक्त ग्रन्थों में देखे जा सकते हैं।

ततवाद्य—प्रमुख उल्लिखित तंत्रीवाद्य निम्नोक्त हैं—वीणा, वल्लकी इत्यादि। इसके अतिरिक्त वीणा की सामान्य संज्ञा का बहुता-

---

१—मिलिन्द–पृ० ४ गंधब्बा तिकिच्छा धनुब्बेदा पुराणा···॥ सद्ध० १ पृ० २ मनोज्ञेन गंधर्वेण मनोज्ञस्वरेण···॥ १४-४३ पृ० १८७ संगीतकुशलास्तथागत-धर्माणां॥ १०-१५-पृ० १४५···संगतिसंप्रवादितैः···॥ ललित० २ पृ० ८; ५ पृ० ३५–३८–३६ तूर्यसंगीतवादितेन—॥ ७ पृ० ६१, ६९; १३ पृ० ११२–११३–१३०, १५ पृ० १५२–१५४; १६ पृ० २०५; २०६।

२—सद्धर्म० २-६०–६१–६२–९३ पृ० ३६ गीतं सुगीतं मनोज्ञं १६-३६ पृ० २०१; १८–६ पृ० २१० गीतनृत्य लास्य॥ १८-८–६–१० पृ० २११, १०-१५ पृ० १४५ गीतवाद्यनृत्य ललित० अ० ४ पृ० २२, ३१, ६१, ६३, १०८, १३५, १४०, १४७, १५२, १५४, १६१, २२०, २३५, २६०।

३—ललित० पृ० पृ० गीतरचितो अथ॥

४—ललित० पृ० ११२ गाथागीताइम रतिमधुरा॥ पृ० २२० गाथाभि गीतरचितोऽथ।

५—ललित० अ० १५ पृ० १५४ यथालयं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यत से उल्लेख मिलता है।[1] वीणा के विभिन्न भागों का उल्लेख एक स्थल पर उपमा के रूप में देखा जा सकता है। नागसेन द्वारा यह उपमा दी गयी है। इस वीणा में धातु का एक "ब्रिज" लगा होता है. खोखला उदर सदृश स्थान होता है, जो चर्म से मढ़ा जाता था। उसमें ग्रीवा सदृश स्थान भी होता है, तंत्रीयाँ एवं कोण का भी वादन के हेतु उपयोग किया जाता है—उक्त भिन्न भिन्न भागों के लिये क्रमशः पट्टं, चर्म, द्रोणि, उपवीणा, दण्ड कोण इत्यादि संज्ञाएं प्राप्त होती हैं। इस प्रकार की कोण द्वारा वादन करनेवाली वीणाओं का अंकन विभिन्न मूर्तिकलाओं में देखा जा सकता है।[2] वीणा का वादन एकाकी एवं समूहगत दोनों रूप में प्रचलित था।

आनद्ध वाद्य—इस वर्ग के निम्नोक्त वाद्यों का उल्लेख देखा जा सकता है यथा दुन्दुभि,[3] भेरी,[4] मृदंग,[5] पणव,[6]

१—मिलि० प्रश्न पृ० ५६ महाराज वीणाय पत्तं। सधर्भ० २-६१ पृ० ३६ वीणाश्च ताला। १८-८ पृ० २११: ललित० ५ पृ० २६ वीणावल्लकीसंपताऽप्रभृतयस्तूर्यभाण्डाः ॥
७ पृ० ५६ वोणावेणु मुकुण्डां। १२ पृ० १०८, १३ पृ० ११३, १३ पृ० १२७, १४ पृ० १४०, १५ पृ० १४६-१५२-१५४, २१ पृ० २१६; सद्धर्मं० १८-८ पृ० २११; ललित० पृ० २६, ११३, १४६, २१६।

२—मिलिन्द० पृ ५६ अनु० पृ० ८४ वीणाय पत्तं न सिया, चम्म न सिया, दोणि न सिया, दण्डो न सिया, उपवीणो न सिया, तन्तियो न सिय्युं कोणो न सिया। ललित० १४ पृ० १४० वीणावल्लकी वंश तंत्रिरचिता छिद्यन्त्यकस्सात्तदा।

३—सद्धर्मं० ३-३ २पृ० ५०; ललित० अ० १३ पृ० १२०; १४; १४१; १६०; २०८; २५; २८८—२६२; सद्धर्मः १-२-पृ० ७; १-५६ पृ० ११; १-६२ पृ० १५; २-३० पृ० २५; ७-७-पृ० १०६; ७-४२ पृ० ११४; ७-५८ पृ० ११६; १६-३६ पृ० २०१; १६-४१ पृ० २०३; पृ० २४७।

४—सद्धर्मं० १८-६ पृ० २१०; ५-४४ पृ० ६२ ललित० ५ पृ० २९; १२ १०७; १३-११३; १४-१४०; १९-२०५; २१-२१६; २१-२४५; मिलिन्द० पृ० २३।

५—ललित० ५. २९; ७. ५६; १३. ११३; १४. १४०; १५. १४९; १५२, १५४; १९ २०५; २१. २१६; सद्धर्मं० २९० पृ ३६।

६—ललित० ५. २९; ७.५१; १३ ११३; १५. १५२; १५.१५४। सद्धर्मं० २ ९० पृ० ३६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पटह,[1] इत्यादि। ये वाद्य हाथ से एवं दण्ड दोनों से बजाये जाते थे। इन वाद्यों का समकालीन मूर्तिकलाओं में अंकन भी देखा जा सकता है।[2] इस वर्ग के वाद्यों का उपयोग संगीत संबंधी एवं घोषणात्मक कार्यों के लिये भी होता था, जैसा संदर्भों एवं समकालीन प्रमाणों से स्पष्ट है।

सुषिर वाद्य—फूंक द्वारा बजनेवाले निम्नोक्त वाद्यों का उल्लेख किया गया है—वंस,[3] सिंग,[4] वेणु,[5] तुणव,[6] नाडी,[7] तथा शंख,[8] इनका उपयोग भी संगीत एवं घोषणात्मक कार्यों में होता था।

१—ललित० १५. १५२; २१. २१६; सद्धर्म० १६. ३६ पृ० २०१; १८. ६ पृ० २१०; ललित ५० पृ० २६ तूर्यमाण्डा। २१. पृ० २१९; सद्धर्म० २. ९१-२-३ पृ० ३६; १६. ४१-४२ पृ० २०३; १०. १५. पृ० १४५ १४६।

२—ललित० १४ २० पृ० १४० भेरीश्चैव मृदंग पाण्यभिहस्ता भिन्नन्ति नो वाद्येषु ॥ वही० अ० ८ पृ० १०७ चान्यस्य भेरी या च देवदत्तस्य वावत्सुन्दर-नन्दस्य यावद्दण्डपाणेता ॥ मिलिन्द० पृ० २३ आहनन्तो धम्मभेरिं। देखिये फलक चित्र।

३—सद्धर्म० २. १५ पृ० २३ नडान वेणू व नित्यकालमच्छिद्रपूर्णो मवि सर्वलोक: ॥ २. ९०-१-२-३ पृ० ३६ शंखा: पटहा सुघोषका—मृदंग-वंशा तुणवा मनोज्ञा:। ललित० ५ पृ० २९ तुणव वीणा वेणु वल्लकी। ७ पृ० ५६ तुणव पणव मृदंगा वेणु मुकुण्डां ॥ १३ पृ० ११३, ६, १२७; १४ पृ० १४० वीणावल्लकिवंशतंत्रिरचिता छियन्त्यकस्मात्तदा ॥ १५ पृ० १४९ काश्चि वेणु दन्तै: कटकटायन्त्य: वही० प० १५२-५४-६०; पृ० २१६; मिलिन्द० पृ० २३ वही० प० ३३ ये पानि में वसं धम्मका वंसं धम्भेन्ति तेसं वातो पुनपविसतीति। नहि भन्तेति ये पनि सिंग धम्मका सिंग धमेन्ति तेसं वातो पुन पविसतीति।

४—वही०।

५—वही०।

६—वही०।

७—वही०।

८—वही०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

घनवाद्य--इसके अन्तर्गत करताल वाद्य का उल्लेख आता है। झल्लरि की व्याख्या भी सद्धर्मपुण्डरीक के लेखक झाँझ के रूप में करते हैं किन्तु यह एक आनद्ध वाद्य था। शम्य तालादि संज्ञाएँ भी महत्त्वपूर्ण है।[1] सम्य की व्याख्या श्रीमती रिज डेविड ने मजीरे के रूप में की है।[2] जलतरंग संबंधी वाद्य का भी एक स्थल पर संकेत मिलता है। 'जलमण्डक' संज्ञा से जलतरंग जैसे वाद्य का अनुमान किया जा सकता है। यह वाद्य बर्तनों में जल भर कर दण्ड से बजाया जाता है। बर्तन क्रमशः बड़े से छोटे आकार के होते हैं, इनमें पानी भर कर दण्ड से वादन किया जाता है।[3]

तूर्य---'तूर्य' को समूह वादन एवं वाद्यों के द्योतक रूप में देखा जा सकता है।[4]

नृत्य—नृत्य के अनेक उल्लेख साहित्यों में देखे जा सकते हैं। इसका उल्लेख गायन वादन के साथ देखा ही जा चुका है। नृत्य भी एकाकी तथा समवेत दोनों प्रकार का प्रचलित था जो उनके संदर्भों से स्पष्ट है।

संगीत का राज्य से संबंध—संगीत राजाओं के जीवन का अभिन्न अंग बन गया था। ललित विस्तर में बुद्ध की कथा के माध्यम से राजाओं के जीवन पर भी प्रकाश पड़ता है। मिलिन्द प्रश्न भी इसका कुछ संकेत करता है। राजा शुद्धोदन का अन्तःपुर सदा संगीत व संगीतकारों से परिपूर्ण रहता था। राज्य में उसने सभी प्रकार की सुख सामग्रियाँ एकत्र कर रखी थीं। जिससे उसका पुत्र वैरागी न हो क्योंकि संगीत सामाजिक जीवन का अभिन्न अंग था। राज्य

१—मिलिन्द पृ० ६३ यथा महाराज द्वे सम्मा वज्जेय्युं तेसु यथा एको सम्मो एवं चक्खु पट्ठव्वं यथा दुतियो सम्मो एवं एवंदट्ठव्यं यथा तेसं सन्निपातो एवं फस्सो दट्ठब्बी। अन्य उल्लेख घनवाद्यों के अन्य वाद्य संबंधी उल्लेखों के साथ देखिये।

२—वही०।

३—सद्ध० २. ९२ पृ० ३६।

४—देखिये वाद्यभाण्ड संबंधी फुटनोट।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भी संगीत से परिपूर्ण होते थे। राजा के पुत्रजन्मोत्सव पर भी संगीत होता था।[१]

राजा मिलिन्द के लिये स्पष्ट कहा गया है कि वह अन्य विद्याओं के साथ संगीत का भी ज्ञाता था।[२]

संगीत एवं गंधर्व तथा अप्सरा—इनका संगीत से विशेष संबंध प्रतीत होता है। किन्नर असुर, देवता नाग एवं देवकन्या आदि का भी संगीत से घनिष्ठ संबंध था।[३]

संगीत एवं स्त्रीवर्ग—स्त्रीवर्ग में संगीत का पर्याप्त प्रचार था। राज्य के अन्तःपुर में बहुधा स्त्रियों को ही नियुक्त किया जाता था।[४]

संगीत शिक्षा—विभिन्न विद्याओं के अन्तर्गत संगीत की भी शिक्षा का प्रचार था।[५] राजा इसकी भी शिक्षा संभवतः कुशल संगीतकार अथवा शिक्षक से प्राप्त करता होगा। मिलिन्द राजा संगीत विद्या का भी ज्ञाता कहा गया है। इसके अतिरिक्त 'संगीत-कुशला' संज्ञा भी संगीतकारों की द्योतक है।[६]

१—ललित० १५. १५१ ललित० ५ पृ० २६ राजा शुद्धोदनस्य गृहवरप्रवाने महत्यन्तःपुरे भेरीमृदंगपणवतूणवीणावेणुवल्लकीसंपताऽप्रभृतस्तूर्यभाण्डाः...। ५ पृ० ४१ तुरियैर्निनादितं राजगेहि मधुरं श्रुणिष्यति। ७ पृ० ६१ मिलिन्द पृ० ३२४।

२—मिलिन्द० पृ० ४।

३—ललित० ४ पृ० २२ अनेकाप्सरसः शतसहस्रनृत्यगीतवादित्रपरिगीते ॥ ५. ३८ देवेभ्यश्चतुरशीत्याप्सरसः—५. ४१ अप्सरोभि, तुरियैर्निनादितं राजगेहि मधुरं श्रुणिष्यति ॥ ७. ५६—देवकन्यानयूयं श्रुत्वं मधुरघोषदेवतापि स्पृहेयुः। देवकन्यासहस्रैः परिवृता चतुरशीत्या च नागकन्यासहस्रैः चतुरशीत्या च गंधर्वकन्यासहस्रैः चतुरशीत्या च किन्नरकन्यासहस्रैः। १५. १६०... भेरीशंखमृदंगतूर्येन युता देवासुरैर्वादिता...॥

४—ललित० ७–६१; ८. ८३; १३ पृ० ११३; १५. १४६; १५. १५४।

५—ललित० २१. २३५; १५. १५१ मिलिन्द० पृ० ४।

६—१४. ४३ पृ० १८७ संगीतकुशलास्तथागतधर्माणाम् ॥

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संगीत जीविका का भी साधन होता था। नट, नर्तक, गणिका, लासिका, वैतालिक आदि ऐसे ही संगीत व्यवसायी थे। ये जनता तथा राजा का मनोरंजन करते थे।[१]

संगीत एवं पूजा—संगीत को पूजा के उपकरणों में देख कर यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि संगीत को हेय नहीं समझा गया था। हेय तो वही संगीत समझा जाता था जो निम्न स्तर का मनोरंजन करता होगा। सद्धर्मपुण्डरीक में संगीत का अधिकांश उल्लेख पूजा के उपकरण के रूप में ही आया है।[२] अतः यह अनुमान करना भ्रामक न होगा कि समाज ऐसे संगीत को अवश्य ही प्रश्रय देता होगा।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि इस काल में संगीत का पर्याप्त प्रचार था।

कुछ प्राचीन जैन सूत्रों में संगीत

प्राचीन भारत के लोगों को संगीत से पर्याप्त प्रेम था, जैसा संगीत के प्रचुर उल्लेखों से स्पष्ट है। जैन सूत्र भी प्रसंगानुकूल संगीत का यत्र तत्र उल्लेख करते हैं। यों तो बहुधा जैन भिक्षुओं के लिये निषिद्ध तत्वों के अन्तर्गत संगीत का उल्लेख जैन सूत्रों में आया है; किन्तु चरम लक्ष्य की प्राप्ति के पश्चात् की आनन्दमय अवस्था के अन्तर्गत भी संगीत को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया था। इसके अतिरिक्त राजाओं के जीवन से संबंधित संगीत को भी देखा जा सकता है। संगीत आनन्द एवं प्रसन्नता का द्योतक भी समझा गया था, क्योंकि जब कोई व्यक्ति जिनत्व प्राप्त कर लेता था तो वातावरण संगीत से भर जाता था एवं देवता गण भी प्रसन्न होकर संगीत-मग्न हो जाते थे।

१—मिलिन्द० पृ० ३२४ नटका नच्चका गणिका, लासिका वैतालिका...॥ सद्धर्म० १३. पृ० १६६।

२—सद्धर्मपुण्डरीक देखिये।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जैन सूत्र भी संगीत के तीनों तत्त्वों का उल्लेख प्रदान करते हैं[1]। ताल अथवा लय जो संगीत का आवश्यक अंग है, इस पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। ताल देने वालों के वर्ग का यहाँ भी उद्धरण देखा जा सकता है[2]। संगीत को ७२ कलाओं में स्थान दिया गया था[3]। तथा महिलाओं के ६४ गुणों में भी इसका एक स्थान था[4]। यहाँ कला के लिये शिल्प संज्ञा प्राप्त होती है।

गायन—स्पष्ट ही कण्ठ संगीत का बोध कराता है। गायन का जैसा नृत्य एवं वाद्य के साथ उल्लेख मिलता है उससे यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि गायन करने वालों का पृथक् वर्ग था। संगीत के आयोजनों में गायक वादकों एवं नर्त्तकों का भिन्न-भिन्न सहयोग होता था।

वादन—जैन सूत्र कई प्रकार के नवीन वाद्यों का भी उल्लेख प्रदान करते हैं, जो समकालीन अन्य ग्रन्थ में नहीं प्राप्त होते। वाद्यों के लिये आतोद्य संज्ञा एवं चार प्रकार के वाद्यों के लिये तत, वितत, घन, सुषिर संज्ञाएँ महत्त्वपूर्ण हैं[5]। वितत संज्ञा संभवतः आनद्ध वर्ग के लिये प्रचलित हो चुकी थी।

१—आचा० सू० २. ११. १४ पृ० ११७; २. ११. १८ पृ० ११७ गायन्ताणि वा वायंताणि वा नच्चन्ताणि। उत्तरा० सू० १७ पृ० ७६; कल्पसूत्र अनु० पृ० २२३; २५३॥ नड नट्ट गजल्लमल्ल...लासगलंखभंखतूणइल्लतुम्ब-वीणियअणेगतालायराणु चरियं करे ह...कल्पसूत्र पृ० ११७–८। सूत्रकृतांग २. २. ५५ पृ० ३७१; ज्ञाता ध० क० पृ० ६३, ७६–७७, ४०१। भगवती सूत्र० १५. ११४ पृ० २०८६।

२—कल्पसूत्र, पृ० १३४, ११८ अनु० पृ० २५३, २२३ सूत्रकृतांग २. २. ५५ पृ० ३७१ भगवती सूत्र० ५. ४. पृ० ६३६।

३—ज्ञाता ध० क० पृ० ६८।

४—कल्पसूत्र० पृ० २०३ चउसट्ठिं महिलागुणे सिप्प सय...॥

५—आचा० २. १५. ५–१५–१७, पृ० १२८–२६। तत विततं घन झुसिरम्। आतोज्जं चौविहं बहुवीहियं॥ २. ११. १–५...विरूपरूवाणि—विततैम् संद्दाइम। विरूपरूवाणि सद्दाणिवा ततैम्...॥ विरूपरूवैमपि ताल सद्दैम्...। विरूपरूवैम् झुसिरैम्॥ भगवती सूत्र० ५. ४. ६३६।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

तत वाद्य—तंत्री वाद्यों के अन्तर्गत वीणा का महत्वपूर्ण स्थान था। वीणा विपंची, वद्वीसक, तुणक, पानक, तुम्बवीणा, धंकुन, वल्लरी, भ्रामरी, कच्छपी इत्यादि का उल्लेख आया है।[1] वीणा के उल्लेख अन्य स्थलो पर भी प्राप्त होते हैं। सूत्रकृतांग में वेणु पालाशिक वीणा का उल्लेख आता है, जिसकी व्याख्या बांस या पलाश के पतले टुकड़े से निर्मित रूप में की गई है। जिसका वादन दांत एवं बायें हाथ के मध्य रखकर वीणा की भांति हाथों से किया जाता है।[2] वीणावादकों का उल्लेख आचारांग तथा कल्पसूत्रों में अन्य स्थलों पर भी किया गया है।[3] जिस प्रकार विपंची वीणा की व्याख्या नाट्यशास्त्र में ९ तारों वाली वीणा के रूप में की गयी है, उसी प्रकार अन्य वीणाओं के विषय में भी अनुमान किया जा सकता है कि इसी तंत्रीभेद, आकारभेद पर ये भी बनी होंगी। तुणक, पाणक, धंकुन आदि अप्रचलित संज्ञाए है। संभवतः ये प्रान्त विशेष की वीणाओं के नाम भी हो सकते हैं। प्रमाणाभाव के कारण इनका निश्चित स्वरूप निर्धारण नहीं किया जा सकता।

वितत अथवा आनद्ध वाद्य—इस वर्ग के निम्नोक्त वाद्यों का उल्लेख मिलता है:-- मृदंग, नन्दि-मृदंग, दुन्दुभि, झल्लरी, पटह, भेरी, पणव मुरज, हुडुक, भंभा इत्यादि।[4] झल्लरी संभवतः खंजरी का कोई

१—आचा० सू० २. ११. २ पृ० ११६ जहा वीणा सद्दाणि वा विपंची—सद्दाणि वा ववीसगसद्दाणिवा तुणयसद्दाणि वा वणय सद्दाणिवा तुम्बवीणिय सद्दाणि वा दकुण सद्दाणि वा...॥ (उक्त अंश केवल तत वर्ग का संकेतक है।) ज्ञाता धक पृ० ६१७ वीणाणय वल्लकीणय भामरीणय कच्छपीणय ॥ कल्पसू० पृ० ११७– १८–२०।

२—सूत्र कृतांग० अनु० पृ० २७६ There is a thin piece of bamboo or bark held between the teeth and with the left hand and played by the right hand just like of Veena.

३—कल्प० पृ० २२३–२५३।

४—आचा० सू० २. ११. १. पृ० ११६।

मुइंगसद्दाणि वा नन्दी मुइंगं सद्दाणिवा झल्लरि सद्दाणि वा॥ २. ११. १४ पृ० ११७; २. १५. ५–१६ पृ० १२८ पर पडहझल्लरि—।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रकार था। हुडुक भी इसी वर्ग का वाद्य है। इसका तो आज भी सर्वत्र प्रचार है। ये सभी वादन विधि-भेद पर तथा आकारभेद पर बनाये जाते थे, जैसा पहले भी कहा जा चुका है तथा आज भी देखा जा सकता है।

सुषिर वाद्य[1]—इसके अन्तर्गत उल्लिखित वाद्य शंख, वेणु, पिरिपिरिया, तूणइल्ल (वैगपाइप) शृंग आदि महत्वपूर्ण है। "तूण इल्ल"की व्याख्या जैकोबी ने वैगपाइप के रूप में की है। वैगपाइप के कभी-कभी एक से अधिक मुख भी होते हैं। शृंगवादन सिंघनी का पूर्व रूप है,। खरमुही तथा पिरिपिरिया भी ऐसे ही वाद्य है। इनके स्पष्ट स्वरूप पर प्रकाश नहीं पड़ता। पिरिपिरिया नाम से ऐसा आभास होता है कि यह कोई साधारण सा फूंक कर बजाया जाने वाला वाद्य होगा। छोटे बच्चों में आज भी "पीपी" बजने वाले पीपल की पत्ती के अथवा ताड़ के पत्ते का वाद्य प्रचलित है। संभव है इसी का कुछ परिष्कृत स्वरूप वह रहा हो। "वेणु स्पष्ट ही बांसुरी का संकेतक है।

घन वाद्य—"लय" संबंधी वाद्य घन वर्ग के अन्तर्गत आते हैं वाद्यों के अतिरिक्त हाथ से ताल देने की पद्धति का संकेत इससे पूर्व भी मिल चुका है। इस वर्ग के निम्नोक्त वाद्यों का उल्लेख जैन सूत्रों में किया गया है:—कांस्य ताल, जो मजीरे का द्योतक समझा जा सकता है, लत्तिय, गौहिय, किरिकिरिय, इत्यादि जिनका स्पष्ट स्वरूप

ज्ञाता० पृ० ६४—७७; कल्पसूत्र० पृ० १२० संखपणव-भेरी-झल्लरि-रखमुहि हुडुक-मुरज नन्दि मुइंग-दुन्दुभि निग्घोसना ॥ भग० सूत्र० ५० ६ पृ० ७३६ सूत्रकृतांग—२. २. ५ पृ० ३७१ पटुपटह। ज्ञाता० पृ० ६१७ कल्पसूत्र० अनु० १. २५४। भगवती सूत्र० ५. ४. ६३६ पणह पटह होरंभ सद्दाणि वा, भेरि सद्दाणि झल्लरि, दुन्दुभि सद्दाणि वा

१—आचा० २. ११. ४ संखसद्दाणि वा वेणु सद्दाणि वा वंस सद्दाणि वा खरमुही-सद्दाणि वा पिरिपिरिय सद्दाणि वा ॥ १. ११. १४; २. १५. १६ अनु० कल्प-सूत्र पृ० ११७—१८—२० अनु० पृ० २५४ Horns......trumpets वही पृ० २५६ तथा २२३। भग० सूत्र० ५. ४. पृ० ६३६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रमाणाभाव तथा अन्यत्र उल्लेख के अभाव में अज्ञात है।[१] किरिकिरिय को करताल का द्योतक समझा जा सकता है। करताल का स्वरूप कलकता संग्रहालय में रखे करताल को देखकर अनुमान किया जा सकता है।[२]

तूर्य—"तूर्य" संज्ञा की व्याख्या दो प्रकार से की जा सकती है। प्रथम वाद्यों के लिये,[३] द्वितीय सुषिर वाद्य तुरही के रूप में जैसा श्री जेकोबी ने कल्पसूत्र के अनुवाद में की है।[४] सम्मिलित वाद्यवादक का भी संकेत इससे प्राप्त होता है।

नृत्य—नृत्य का गायन वादन के साथ उल्लेख पहले ही देखा जा चुका है। कल्पसूत्र में कुछ प्रचलित नृत्य प्रकारों को देखा जा सकता है। प्रथम प्रकार का वह नृत्य है जिसमें नर्तक बिना किसी वस्तु की सहायता के नृत्य करता है, द्वितीय वह जो रस्सी पर चढ़कर नृत्य करता है, यह नर्त्तक "जल्ल" कहा गया है, तृतीय डण्डे की सहायता अथवा बाँस पर चढ़ कर नृत्य करने वाला जिसे लंख कहा गया है। इसकी "वंशनर्त्तिन" से तुलना की जा सकती है, जिसका उल्लेख प्रथम अध्याय में आ चुका है। उपर्युक्त नृत्य प्रकारों को लोक नृत्यों के तथा जीविका के लिये किये जाने वाले नृत्य के प्रकाश में भलीभाँति समझा जा सकता है[५] इस प्रकार के नृत्य आज भी नटों में प्रचलित

१—आचा० सू० २. ११. ३ पृ० ११६ तालसद्दाणि वा कंसताल सद्दाणि वा लत्तियसद्दाणि वा गोहियसद्दाणि वा किरिकिरियसद्दाणि वा।। २. ११. १४. पृ० ११७।। कल्प० अनु० पृ० २५४ कैस्टेनेट एवं सिम्बल के रूप में व्याख्या की है। भगवती सूत्र ५. ४. पृ० ६३६।

२—देखिये फलक १ चित्र ११।

३—आचा० सू० २. १५. ५. १६ पृ० १२८–२९ सत सहस्सिएहि तुरेहि। अनु० पृ० १९८ Sound of musical instruments. कल्प सूत्र पृ० १२०।

४—कल्प० अनु० २२३ Playing on Turya तूर्यं वही० पृ० २५४; २५९ Performance on Veena, Turya and great Drum

५—कल्प सूत्र० पृ० ११७–१८ नड नट्टग जल्ल मल्ल···लासग—लंख। अनु० पृ० २५३; आचा० २. ११. १–८ पृ० ११७। भग० सू० ११–१० पृ० १५७०–१।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हैं। उड़ीसा में तो अत्यन्त लंबे-लंबे बाँसो पर छोटे-छोटे बच्चे पैर बाँध कर नृत्य करते देखे गये हैं।

संगीत का प्रचार—संगीत का समाज में अत्यधिक प्रचार हो गया था। मनोरंजन का यह प्रधान अंग बन चुका था। यही कारण था कि जैन भिक्षुओं के लिये संगीत को निषिद्ध माना गया था।[1] इस निषेध से संगीत की हेयता का अनुमान नहीं लगाना चाहिये क्योंकि इस अवस्था में निषिद्ध होने पर भी अन्य अवस्थाओं में इसका प्रयोग मान्य था। जिनत्व प्राप्ति के समय देवता स्वयं गायन, वादन एवं नृत्य करवाते थे।[2] महावीर की स्तुति भी गीत वाद्य के साथ की जाती थी।[3] इसके अतिरिक्त संगीत संबंधी उत्सव भी होते थे जहाँ जनता का मनोरंजन विविध साधनों के साथ ही गायन, वादन एवं नृत्य के भी माध्यम से किया जाता था।[4]

तीर्थंकर के जन्म-दिवस पर राज्य में संगीत का आयोजन कल्प-सूत्र में आया है। इस अवसर पर नगर संगीतकारों द्वारा सुशोभित होता था।[5] राजा के पुत्रजन्म के अवसर पर राज्य में दस दिन तक उत्सव मनाया जाता था। जिसमें सभी प्रकार के संगीतकार आकर अपना कौशल-प्रदर्शन करते थे।[6] राजाओं के सगीत के संबंध विषयक अन्य उल्लेख भी कल्पसूत्र में देखे जा सकते हैं। रानी त्रिशला के दुःख के समय सम्पूर्ण राज्य तथा सिद्धार्थ राजा के महल का संगीत बन्द हो गया था।[7] इससे स्पष्ट संकेत मिलता है कि राज्य एवं राजा

१—आचा० सू० २. ११. १४. १८; सूत्र कृतांग पृ० २७६, ।

२—आचा० २. १५. ५. १५–१७; कल्प० अनु० पृ० २९५; ज्ञाता० पृ० ४०१ ।

३—कल्प सूत्र० पृ० । १३४ ।

४—आचा० २. ११. १–८ पृ० ११७ कल्प० अनु० पृ० २२३-२५४ आचा० २. ११. १८ ।

५—कल्प सूत्र० अनु० पृ० २५३ ।

६—वही० पृ० २५४ ज्ञाता० पृ० ६१२–१५। वही० पृ० ६२, ७६, ७७ । भग० सू० पृ० १६१५ ।

७—कल्प सूत्र० अनु० पृ० २४६ ज्ञाता० पृ० ६१२–१५ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का संगीत एक अभिन्न अंग था। इसी प्रकार इंद्र के भी संगीत का आनन्द लेने का उल्लेख मिलता है जो संगीत को देवता वर्ग से भी संबंधित कर देता है[1]।

इस प्रकार संगीत का विपुल प्रचार उसके महत्व का आभास कराता है। संगीत जीविका का भी साधन बन गया था। नृत्य के उल्लेख इसके प्रमाण समझे जा सकते हैं। वेश्या वर्ग के साथ भी यह जीविका के रूप से संबंधित था। वेश्याएँ भी उत्सवों में भाग लेती थीं[2]।

इस प्रकार निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि संगीत का दिनों दिन विकास हो रहा था। संगीत का समाज के विभिन्न क्षेत्रों में प्रचार था। किन्तु एक बात इस काल के समस्त उल्लेखों से प्रतिध्वनित होती है कि उच्चवर्ग ब्राह्मणों ने संगीत को संभवतः बहुत श्रेष्ठ स्थान प्रदान नहीं किया था क्योंकि कौटिल्य ने उसे गणिकाओं से संबंध करके कुछ हेयता प्रदान कर दी और मनुस्मृति ने तो स्पष्ट ही संगीत को वह सम्मान नहीं दिया जो साम संगीत को दिया। यह देखा ही जा चुका है कि मनु ने संगीत की ध्वनि को भी अपवित्र माना तथा इसकी जीविका करने वालों को निकृष्ट माना उन्हें शूद्र तक भी कह दिया गया।

१—कल्प० अनु० पृ० २२३ ज्ञाता० पृ० ४०१।
२—ज्ञाता० पृ० ६४ कल्प० पृ० १२०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चतुर्थ अध्याय

(दूसरी सदी से चौथी सदी के प्रारंभ तक)

संगीत के इतिहास में ईसा पश्चात् द्वितीय शताब्दी एक आलोकस्तम्भ है। इस काल के पूर्व संगीत का इतिहास यत्र तत्र स्फुट किरणों के संयोग से झिलमिल रूप से ही प्रकाशित है, किन्तु इस युग में विरचित अत्यंत महत्वपूर्ण" शास्त्रीय ग्रंथ नाट्यशास्त्र की उज्ज्वल आभा में संगीत शास्त्र का कलेवर भास्वर हो उठता है, यद्यपि विद्वान ऐसा मानते है कि ऋग्वेद के शिलालि चरण में नटसूत्रों की रचना ईसा पूर्व पंचम शताब्दी में हुई, और तब से संगीत और नृत्य की शास्त्रीय विवेचना प्रवर्तित हुई। इसी प्रकार दन्त कथाओं के जटिल जाल में ग्रस्त नारद को गांधर्व शास्त्र का प्रणेता माना गया किन्तु नट सूत्र इस समय उपलब्ध नहीं और नारद के नाम पर लिखा गया नारदीय-शिक्षा एक अवांतर कालीन ग्रंथ है। यद्यपि नाट्य शास्त्र संगीत पर पृथक् ग्रंथ नहीं तथापि नाट्य के रूप में एक अंग रूप में ही ६ अध्यायों में विशुद्ध संगीत संबंधी सामग्री प्रदान करता है। इस ग्रंथ में संगीत के शास्त्रीय बिषयों की व्यापकता को देखते हुए इस अध्याय को तीन खण्डों में विभक्त करना उचित समझा है। खण्ड "क" में शास्त्रीय ग्रन्थ नाट्य-शास्त्र एवं दतिलं, खण्ड "ख" में दक्षिण भारतीय ग्रन्थ सिलप्पदिकारम एवं मणिमैखलई तथा खण्ड "ग" में अश्वघोष, महायान सूत्र, अवदान शतक, विशुद्धि-मग्ग, एवं वात्स्यायनप्रणीत कामसूत्र तथा याज्ञवल्क्य स्मृति इत्यादि इस अध्याय के प्रमुख उत्स हैं।

खण्ड "क"

भरत का नाट्य शास्त्र

भारतीय संगीत शास्त्र के अध्ययन के लिये जो कुछ सामग्री आज उपलब्ध है, उसके प्रणेताओं में भरत मुनि को ही आदिम स्थान देना चाहिये क्योंकि इससे पूर्व संगीत शास्त्र पर रचित कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होता। भरत के पूर्वाचार्यों में नारद एवं स्वाति का नाम उल्लेखनीय एवं अग्रगण्य है जिनका अनुसरण भरत स्वयं ही करते हैं ऐसा भरत के वचनों से स्पष्ट हो चुका है, परन्तु स्वाति का तो ग्रन्थ ही नहीं मिलता और जिस नारद को गांधर्ववेद का प्रवर्तक कहा गया है उसका विषय प्रतिपादन तो आंशिक रूप से भी आज प्राप्त नहीं होता। नारदीय शिक्षा के रूप में जो अन्य किसी नारद की कृति प्राप्त भी है तो उसमें संगीत का शास्त्रीय विवेचन प्रायः कुछ ही नामोल्लेखों तक सीमित है। दूसरी बात यह भी है कि विद्वानों ने इसे दसवीं शताब्दीं तक में रखा है।

भरत ने संगीत पर कोई स्वतंत्र पृथक् ग्रन्थ नहीं लिखा है, नाट्य-शास्त्र में ही कुछ अध्याय हैं जो पूर्णतः संगीत संबंधी हैं, जिनका नाट्य के अंग रूप में उल्लेख किया गया है। संगीत संबंधी तत्वों के विवेचन के मध्य भरत यह स्मरण दिलाना नहीं भूलते कि वह नाट्य का ही एक अंग है, एवं अमुक परिस्थितियों में उनका प्रयोग किया जाये। उपर्युक्त बातों के होने पर भी भरत का संगीत उत्कृष्ट संगीत का ही बोध कराता है। जिस क्रम में भरत ने संगीत के प्रत्येक पहलू एवं उसके तत्त्वों पर प्रकाश डाला है वह इतना सुगठित, सरल एवं श्रृंखलाबद्ध है कि विषय तत्काल ही ध्यान में आ जाता है।

भरत के संगीत सिद्धांतों के विश्लेषण से पूर्व यह विचार करना अनुचित न होगा कि भरत ने संगीत को नाट्य के अन्तर्गत कैसे लिया। जिस प्रकार नाट्य का पाठ्यांग ऋग्वेद से, उसी प्रकार गीतांग सामवेद से लिया गया है। स्पष्ट ही गांधर्व नाट्य का अभिन्न अंग सिद्ध हो जाता है। भरत ने नाट्य एवं गांधर्व में भेद किया है।[1] नाट्य में गांधर्व का उतना ही अंग अभिष्ट था, जो उसकी रस-सिद्धि में सहायक व आवश्यक हो।[2]

भरत ने नाट्य के अन्तर्गत किस प्रकार संगीत को रखा, यह द्रष्टव्य है। अभिनय के चार प्रकार आंगिक, वाचिक, सात्विक एवं आहार्य माने हैं। एवं नाट्य के भी चार तत्त्व माने हैं यथा—पाठ्य,

---

१—नाशा० १।१८ः ३६।४६; १।१७; ११६–११८ १।१७४–७५–७६।
२—संगीत पृ० ८४।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गीत, अभिनय एवं रस। आंगिक अभिनय के अन्तर्गत अभिनय तत्त्व आते हैं। इसमें नृत्य संबंधी उल्लेख भी समाविष्ट हैं। यथा ताण्डव लक्षण, नृत्य के उपांग, हस्ताभिनय, शरीर, अभिनय, चारी विधान, मण्डल एवं गति। वाचिक अभिनय के अन्तर्गत गीत एवं पाठ्य, सात्त्विक के अन्तर्गत रस एवं आहार्य के अन्तर्गत वेश भूषा तथा पृष्ठभूमि का वाद्य वादन रखा जा सकता है। भरत ने "गीत" का प्रयोग प्रायः "स्वर-योजना" के अर्थ में किया है। संभवतः इसी से इस व्यापक अर्थ का ध्यान रखते हुवे ही वाद्यादि का उल्लेख भी इसी के अन्तर्गत कर दिया है। चूँकि स्वर कण्ठ एवं वाद्य दोनों से ही उत्पन्न होता है एवं माप के लिये वाद्याधार महत्त्वपूर्ण होता है, अतः वाद्य को भी गीत के व्यापक अर्थ के अन्तर्गत कर लिया है।

बातचीत तथा पद्यपाठ यानी "पाठ्य" को तथा "गीत" के "पद" को वाचिक अभिनय में रखा जा सकता है। इस विषय से संबंधित छन्द एवं वृत्त का सामान्य परिचय एवं लक्षणोदाहरण अ० १५–१६ में है। १७ वें अध्याय में "लक्षण" तथा "अलंकार" का निरूपण है। यद्यपि इनका संबंध पूर्णतः साहित्य से है, तथापि "गीत" के पाठ्य अंश अर्थात् "पद" के संदर्भ में इनका संगीत से संबंध माना जा सकता है। अध्याय १६ "काकुस्वर व्यञ्जनं" के नाम से मिलता है। इसका संगीत संबंधी महत्त्व भी है। जिस प्रकार नाट्य अथवा साधारण बोलचाल में काकुभेद होना आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण होता है, उसी प्रकार गीतादि में भी। स्वरों का किस प्रकार उच्चारण करने से कैसी अनुभूति, कैसा रस एवं भाव उत्पन्न होगा इस विषय में विस्तृत सूचना यह अध्याय प्रदान करता है।

सात्त्विक अभिनय के विषय में अध्याय ६–७ (नाट्यशास्त्र के) में प्रकाश डाला गया है।

हमने देखा कि अभिनय के प्रकारों में से "वाचिक" तथा "आहार्य" में गीत तथा वाद्य को, एवं आंगिक में नृत्य को आंशिक स्थान मिल जाता है एवं नाट्य के चार तत्त्वों में "गीत" का स्वतंत्र अस्तित्व तथा अभिनय में नृत्य के मुख्य अंग का समावेश भी पाया जाता है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

होता। भरत के पूर्वाचार्यों में नारद एवं स्वाति का नाम उल्लेखनीय एवं अग्रगण्य है जिनका अनुसरण भरत स्वयं ही करते हैं ऐसा भरत के वचनों से स्पष्ट हो चुका है, परन्तु स्वाति का तो ग्रन्थ ही नहीं मिलता और जिस नारद को गांधर्ववेद का प्रवर्तक कहा गया है उसका विषय प्रतिपादन तो आंशिक रूप से भी आज प्राप्त नहीं होता। नारदीय शिक्षा के रूप में जो अन्य किसी नारद की कृति प्राप्त भी है तो उसमें संगीत का शास्त्रीय विवेचन प्रायः कुछ ही नामोल्लेखों तक सीमित है। दूसरी बात यह भी है कि बिद्वानों ने इसे दसवीं शताब्दीं तक में रखा है।

भरत ने संगीत पर कोई स्वतंत्र पृथक् ग्रन्थ नहीं लिखा है, नाट्य-शास्त्र में ही कुछ अध्याय हैं जो पूर्णतः संगीत संबंधी हैं, जिनका नाट्य के अंग रूप में उल्लेख किया गया है। संगीत संबंधी तत्वों के विवेचन के मध्य भरत यह स्मरण दिलाना नहीं भूलते कि वह नाट्य का ही एक अंग है, एवं अमुक परिस्थितियों में उनका प्रयोग किया जाये। उपर्युक्त बातों के होने पर भी भरत का संगीत उत्कृष्ट संगीत का ही बोध कराता है। जिस क्रम में भरत ने संगीत के प्रत्येक पहलू एवं उसके तत्त्वों पर प्रकाश डाला है वह इतना सुगठित, सरल एवं श्रृंखलाबद्ध है कि विषय तत्काल ही ध्यान में आ जाता है।

भरत के संगीत सिद्धांतों के विश्लेषण से पूर्व यह विचार करना अनुचित न होगा कि भरत ने संगीत को नाट्य के अन्तर्गत कैसे लिया। जिस प्रकार नाट्य का पाठ्यांग ऋग्वेद से, उसी प्रकार गीतांग सामवेद से लिया गया है। स्पष्ट ही गांधर्व नाट्य का अभिन्न अंग सिद्ध हो जाता है। भरत ने नाट्य एवं गांधर्व में भेद किया है।[1] नाट्य में गांधर्व का उतना ही अंग अभिष्ट था, जो उसकी रस-सिद्धि में सहायक व आवश्यक हो।[2]

भरत ने नाट्य के अन्तर्गत किस प्रकार संगीत को रखा, यह द्रष्टव्य है। अभिनय के चार प्रकार आंगिक, वाचिक, सात्विक एवं आहार्य माने हैं। एवं नाट्य के भी चार तत्त्व माने हैं यथा–पाठ्य,

---

१—नाशा० ११२८: ३६।४६; ११२७; ११६–११८ ११२७४–७५–७६।

२ —संगीत पृ० ८४।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गीत, अभिनय एवं रस। आंगिक अभिनय के अन्तर्गत अभिनय तत्त्व आते हैं। इसमें नृत्य संबंधी उल्लेख भी समाविष्ट हैं। यथा ताण्डव लक्षण, नृत्य के उपांग, हस्ताभिनय, शरीर, अभिनय, चारी विधान, मण्डल एवं गति। वाचिक अभिनय के अन्तर्गत गीत एवं पाठ्य, सात्त्विक के अन्तर्गत रस एवं आहार्य के अन्तर्गत वेश भूषा तथा पृष्ठभूमि का वाद्य वादन रखा जा सकता है। भरत ने "गीत" का प्रयोग प्रायः "स्वर-योजना" के अर्थ में किया है। संभवतः इसी से इस व्यापक अर्थ का ध्यान रखते हुवे ही वाद्यादि का उल्लेख भी इसी के अन्तर्गत कर दिया है। चूँकि स्वर कण्ठ एवं वाद्य दोनों से ही उत्पन्न होता है एवं माप के लिये वाद्याधार महत्वपूर्ण होता है, अतः वाद्य को भी गीत के व्यापक अर्थ के अन्तर्गत कर लिया है।

बातचीत तथा पद्यपाठ यानी "पाठ्य" को तथा "गीत" के "पद" को वाचिक अभिनय में रखा जा सकता है। इस विषय से संबंधित छन्द एवं वृत्त का सामान्य परिचय एवं लक्षणोदाहरण अ० १५–१६ में है। १७ वें अध्याय में "लक्षण" तथा "अलंकार" का निरूपण है। यद्यपि इनका संबंध पूर्णतः साहित्य से है, तथापि "गीत" के पाठ्य अंश अर्थात् "पद" के संदर्भ में इनका संगीत से संबंध माना जा सकता है। अध्याय १९ "काकुस्वर व्यञ्जनं" के नाम से मिलता है। इसका संगीत संबंधी महत्त्व भी है। जिस प्रकार नाट्य अथवा साधारण बोलचाल में काकुभेद होना आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण होता है, उसी प्रकार गीतादि में भी। स्वरों का किस प्रकार उच्चारण करने से कैसी अनुभूति, कैसा रस एवं भाव उत्पन्न होगा इस विषय में विस्तृत सूचना यह अध्याय प्रदान करता है।

सात्त्विक अभिनय के विषय में अध्याय ६–७ (नाट्यशास्त्र के) में प्रकाश डाला गया है।

हमने देखा कि अभिनय के प्रकारों में से "वाचिक" तथा "आहार्य" में गीत तथा वाद्य को, एवं आंगिक में नृत्य को आंशिक स्थान मिल जाता है एवं नाट्य के चार तत्त्वों में "गीत" का स्वतंत्र अस्तित्व तथा अभिनय में नृत्य के मुख्य अंग का समावेश भी पाया जाता है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

भरत का संगीतसंबंधी उल्लेख हम भरतोल्लिखित क्रम में ही देखेंगे। सर्व प्रथम काकु संबंधी अध्याय तत्पश्चात् स्वर एवं तत सुषिर वाद्याध्याय अर्थात् अ० २८–३० तक एवं तालाध्याय, ध्रुवा तथा अवनद्ध वाद्य यथा–३१–३२ एवं ३३ देखेंगे। अन्त में भरत के नृत्य संबंधी महत्वपूर्ण उल्लेखों का संकेत करेंगे। नृत्य पर विस्तृत विवेचन अनावश्यक है क्योंकि अभिनय नृत्य का प्रधान अंग है जिसका अत्यन्त विस्तृत विवरण भरत करते हैं। संक्षिप्त संकेतमात्र ही पर्याप्त होगा। नृत्य का विवरण तो स्वतंत्र शोध की भी अपेक्षा रखता है।

काकुस्वर व्यञ्जन—[1]

पाठ्य में कण्ठ स्वर के उतार-चढ़ाव अथवा काकुभेद, लयभेद आदि तत्त्व संगीत के भी अभिन्न तत्त्व हैं। अतः भरतकृत नाट्य-शास्त्र का अध्याय १६ प्रत्यक्ष रूप से संगीत संबंधी न होने पर भी नाट्य में, नाट्य ही में क्यों? दैनिक जीवन में ओतप्रोत संगीत-तत्त्वों के निरूपण के कारण संगीत की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

इस अध्याय में पाठ्य के गुणों का उल्लेख किया गया है। इसके अन्तर्गत निम्नोक्त तत्त्व आते हैं–यथा–सप्त स्वर, त्रिस्थान, चार वर्ण, दो काकुभेद, षट् अलंकार एवं षट् अंग। इनकी व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है।

सप्त स्वर—सप्त स्वरों का विभिन्न रसों के साथ संबंध जाति प्रकरण में[2] भी तथा इस अध्याय में भी दिखाया गया है। सप्त स्वरों की स्थिति निश्चित स्वरान्तलों पर होती है। बातचीत एवं पाठ्य में इस प्रकार के निश्चित अन्तरालों का प्रयोग संभव नहीं। भरत ने इसे संभवतः नाट्य के अन्तर्गत सस्वर काव्यपाठ या पद्यपाठ के लिये स्वरोपयोगिता के कारण ले लिया है।

त्रिस्थान—त्रिस्थान से तात्पर्य आवाज के उरः कण्ठ एवं शिरः से निकलने से है। मनुष्य शरीर एवं वीणा दोनों ही में सप्त स्वर एवं उनकी तारता उपर्युक्त तीन स्थानों से ही निकलती है। यदि किसी दूर खड़े व्यक्ति को पुकारना हो तो शिरः स्थानीय, कोई मध्य दूरी पर

१—१६।३८–५८।

२—देखिये–भरत का जाति प्रकरण पृ०

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हो तो कण्ठः स्थानीय, एवं अत्यन्त समीप वाले को उरः स्थानीय स्वरों का प्रयोग करना चाहिये। पाठ्यारंभ के समय जो वाक्यारंभ करना चाहिये वह उरः स्थानीय हो एवं क्रम से शिरः स्थानीय में बढ़ाया जा सके, परंतु अन्त में कण्ठ स्थानीय स्वर ही प्रयुक्त किये जाने चाहिये। पाठ्योच्चार के भी चार भेद बताये गये हैं, जिनका रसों के साथ संबंध जोड़ा गया है। उदात्त, अनुदात्त, स्वरित एवं कम्पित ये चार भेद हैं। हास्य व शृंगार में स्वरित, वीर, रौद्र एवं अद्भुत में कम्पित तथा करुण, बीभत्स एवं भयानक में अनुदात्त स्वरित एवं कम्पित का प्रयोग किया जाना चाहिये।

द्विविध काकुभेद—इसका साधारण एवं व्यापक दोनों अर्थों में प्रयोग किया गया है। भरत ने साधारणतया बोलचाल में प्रयुक्त होने वाले काकुओं का दो भागों-साकांक्ष एवं निराकांक्षमें विभाजित किया है। साकांक्ष काकु के अन्तर्गत वे वाक्य आएंगे जिनका अर्थ अपूर्ण हो, जिज्ञासा बनी ही रह जाये एवं जिनमें कण्ठ एवं उरः स्थानीय स्वरों का प्रयोग एवं तार से प्रारम्भ होकर मंद्र सप्तक में खत्म हों तथा जिनमें वर्ण या अलंकार अपूर्ण होते हैं। निराकांक्ष काकु उन वाक्यों से संबंधित होता है जिनका अर्थ स्पष्ट हो, शिरः स्थानीय स्वर प्रयुक्त होते हों एवं मन्द्र सप्तक से प्रारंभ होकर तार में समाप्ति तथा उसके वर्ण एवं अलंकार पूर्ण हों।

षट् अलंकार—पाठ्य में स्वरों के ६ अलंकार होते हैं। यथा उच्च, दीप्त, मंद्र, नीच, द्रुत एवं बिलंबित होना चाहिये।

षट् अलंकारो के प्रयोग—उच्च स्वर शिरः स्थान से उत्पन्न होता है तथा तार होता है। इसका प्रयोग किसी दूरस्थ व्यक्ति को बुलाने के लिये, प्रत्युत्तर, घबराहट, किसी को डराने में तथा दुःखादि में होता है।

दीप्त स्वर शिरस्थान से उत्पन्न होता है तथा तारतर होता है। इसका प्रयोग आक्षेप, कलह, विवाद, अमर्ष, क्रोध, दर्प, तीक्ष्ण, रुद्र कर्कश शब्द, शोकादि में किया जाता है।

मंद्र स्वर उरःस्थान से उत्पन्न होता है तथा इसका प्रयोग निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, औत्सुक्य, दैन्य, व्याधि, क्षत एवं मूर्च्छा आदि में होता है।

CC-0. Agamnigam Digital Preseyation Foundation, Chandigarh

नीच स्वर उर: स्थान से उत्पन्न होता है, परन्तु यह मन्द्र तार या अत्यंत नीचा होता है। इसका प्रयोग स्वाभाविक बातचीत, व्यथित श्रान्त, त्रस्त, पतित, मूर्च्छादि में होता है।

द्रुत स्वर कण्ठ स्थान से उत्पन्न होता है एवं तीव्र होता है। इसका प्रयोग बच्चों को चुप कराने में, प्रेमी के प्रस्ताव को अस्वीकार करने में, क्रोध, भय, शीत, ज्वर, वेदनादि में होता है।

बिलंबित स्वर कण्ठ स्थानीय तथा कुछ कम मंद्र होते हैं। इसका प्रयोग शृंगार, वितर्क, विचार, अमर्ष, ईर्ष्या, क्रोध, घृणा, प्रमाद, लज्जा, चिन्ता, विस्मय एवं रोषादि में होता है।

अनेक भावों एवं रसों के उपयुक्त काकुओं का प्रयोग हमेशा उच्च, दीप्त एवं द्रुत अलंकारों में होना चाहिये तथा तीक्ष्ण, रूक्ष, अभिनय, आवेग, क्रन्दन, दूरस्थ भाषणादि में प्रयोग करना चाहिये।

मन्द्र एवं नीच काकुओं का प्रयोग बीमारी, ज्वर, दु:ख, भूख, प्यास नियम के निरीक्षण, सूझ बूझ, शस्त्रों से हुआ घाव, गुप्त शब्दों को व्यक्त करना, चिन्तादि में होना चाहिये।

मां का बच्चों को चुप कराने में, प्रेम प्रस्ताव को अस्वीकार इत्यादि करने में मंद्र व द्रुत काकुओं का प्रयोग होना चाहिये।

किसी वस्तु के दिखने के बाद खो जाने पर, इच्छित व्यक्ति या वस्तु विषयक बुरी बात सुनने पर, इच्छित बात कहने के लिये' घृणा, कथा कहने में, घबराहट, रोग, व्याधि, चोट, दु:ख, आश्चर्य, ईर्ष्या वा शोकादि में विलंबित, मंद्र एवं दीप्त काकु भेद अपनाना चाहिये।

आनंद एवं खुशी से संबंधित शब्दों के लिये विलंबित व मंद्र काकुओं का प्रयोग करना चाहिये।

रूक्षता एवं तेजस्विता की अभिव्यक्ति से संबंधित शब्दों के लिये दीप्त व उच्च काकुओं का प्रयोग किया जाता है।

भिन्न-भिन्न रसों में काकु-भेद—विलंवित काकु का प्रयोग हास्य, शृंगार व करुण रस में, वीर, रौद्र, अद्भुत में दीप्त काकु तथा द्रुत एवं विलंबित काकु का प्रयोग भयानक, बीभत्स में करना चाहिये। इस प्रकार काकुओं का प्रयोग भाव व रसानुकरण से करना चाहिये।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

काकुभेद में विरामों के भी रस भाव एवं परिस्थिति के अनुकूल प्रयोग निहित होते हैं। पाठ्य में उचित स्वर, कला, ताल एवं लय का भी उचित समावेश होना चाहिये।

संगीत बिना किसी प्रत्यक्ष गीत एवं वाद्य के भी किस प्रकार जीवन में व्याप्त है, अर्थात् केवल स्वर भेद, स्वर प्रयोग, लय भेदादि से जीवन में व्याप्त है, इसका बड़ा ही मार्मिक चित्रण भरत के इस अध्याय में मिलता है, जो कि प्रत्येक मनुष्य के स्वानुभवों से सिद्ध है। व्यापक अर्थ में "काकु" का क्षेत्र सार्वभौम है, सार्वकालिक है तथा देशकाल के बंधनों से परे है। किसी भी काल में, देश में व्यक्तियों के भाव कभी नहीं बदलते। खुशी में गद्गद् होना, शोक विह्वल होने पर गला भर जाना आदि ऐसे ही उदाहरण हैं।

वाल्मीकि रामायण में लव कुश का गायन संभवतः ऐसे ही भावों से पूर्ण था, जिसका श्रोताओं पर उचित प्रभाव देखा जा सकता है।[1]

भरत का संगीत संबंधी उल्लेख उसके ग्रन्थ के अट्ठाइसवें अध्याय से प्रारंभ होता है, जिसमें नाट्य के अन्तर्गत गीत वाद्य के प्रयोग के संक्षिप्त विवरण से संगीत का आरंभ होता है। यह प्रकरण उनके द्वारा आतोद्य विधि कहा गया है। आतोद्य से तात्पर्य वाद्य से होता है।[2] वाद्य चार प्रकार के बताये गये हैं—तत, आनद्ध, घन एवं सुषिर।

भरत ने संगीत के लिये गांधर्व संज्ञा प्रयुक्त की है जिसके अन्तर्गत स्वर ताल एवं पद आते हैं।[3] स्वर चूँकि कण्ठ एवं वाद्य दोनों से निकाले जाते हैं अतः वाद्य भी इसी के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाता है।

कण्ठ संगीत——

यद्यपि कण्ठ-संगीत मानवीय कलाओं में प्राचीनतम है, तथापि इसका विश्लेषणात्मक अध्ययन संगीत संबंधी वाद्यों के आविष्कार के पश्चात् ही प्रारंभ हुआ एवं उन्नत हुआ। नाट्य-शास्त्र में भी ऐसा कहा गया है कि संगीत के स्वरों के आधार दो होते हैं—मनुष्य की

१—देखिये अध्याय ३।

२—ना० शा० अ० २८।१ पृ० ३१६

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

कण्ठ रूपी वीणा एवं लकड़ी की वीणा, एवं इसी लकड़ी की वीणा पर श्रुतियों की उत्पत्ति होती है। भारतीय संगीत शास्त्र की दृष्टि से "श्रुति" संज्ञा बहुत महत्त्वपूर्ण है।[1]

स्वर—संगीत में सातस्वर होते हैं। इनकी संज्ञाएँ भरत इस प्रकार देते हैं—षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत=एवं निषाद।[2] सात स्वरों के पारस्परिक अन्तराल संबंधीं भेद के विषय में भरत कहते हैं कि ये चार प्रकार के होते हैं—वादी, संवादी, अनुवादी, विवादी। इन भेदों की व्याख्या श्रुतियों के द्वारा की है। दूसरे शब्दों में श्रुतियों के योग से ही ये चार भेद निर्मित होते हैं।[3]

श्रुति—संगीत के व्यवहार में नाद के तीन भेद माने गये हैं, मन्द्र, मध्य, तार। इनका स्थान क्रमशः हृदय, कण्ठ एवं मूर्धा में माना गया है। शरीर रूपी वीणा में ये क्रमशः नीचे से ऊपर जाते हैं। परन्तु काष्ठ वीणा में उल्टा क्रम रहता है। प्रत्येक स्थान में संगीतोपयोगी नाद, के शास्त्रकारों ने सामान्यतः २२ भेद माने हैं। ये २२ श्रुतियों के नाम से प्रसिद्ध हैं। यह तो सभी जानते हैं कि श्रुतियाँ संगीत का मूल आधार होती है। स्वरों की शुद्ध एवं विकृत अवस्थाओं अथवा स्थानों का तथा उनके परस्पर अन्तर का निदर्शन ये श्रुतियाँ ही करती हैं। ग्रामों का आधार भी ये श्रुतियाँ मानी जाती जाती हैं। परवर्त्ती आचार्यों नें श्रुतियाँ बाइस मानी हैं एवं श्रुतियों के अन्तराल की नौ संख्या भी, जैसा भरत ने भी माना है। भरत ने स्पष्ट कहा कहा है "द्विकास्त्रिकचतुष्कास्तु ज्ञेया वंशगताः स्वराः। इति तावन्मया प्रोक्ताः सवंशश्रुतयो नव।[4]

नव श्रुतियों से तात्पर्य है कि स्वरान्तराल तीन प्रकार के होते हैं—चतुःश्रुति, त्रिश्रुति तथा द्विश्रुति। इन तीनों को जोड़ने से ४+३+२=९ "नव" संख्या बन जाती है।

१—वही २८ १२

२—२८-१३ ना० शा० पृ० ३१७।

३—२८।१६।

४—२८।पृ० ३१८।

५—अ. २८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

"सर्वंशश्रुतयो" संज्ञा महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन स्वरज्ञों ने वंश, मुरली आदि सुषिर वाद्यों के छिद्रों से निकलने वाली ध्वनि को सुना एवं तीन प्रकार के अन्तर को देखा जो चतुःश्रुतिक, त्रिश्रुतिक एवं द्विश्रुतिक अन्तर के रूप में प्रसिद्ध है, सा-म-प ये चार श्रुति के, रे-ध तीन श्रुति के एवं ग-नि दो श्रुति के स्वर हैं। इनको जोड़ने से ९ स्वरान्तर ही बनेंगे।[1] इस प्रकार=सप्तक में ४ श्रुत्यन्तर वाले तीन, तीन श्रुत्यन्तर वाले दो एवं दो श्रुत्यन्तर वाले दो स्वर मिलाकर २२ श्रुतियाँ होती हैं।

भरत के नाट्य शास्त्र के २९ वें अध्याय में पांच श्रुति—जाति नामों का उल्लेख मिलता है परन्तु उसका आशय कुछ अस्पष्ट सा है। "सम" नामक अलंकार को समझाते समय भरत का कथन है :—

सर्वसाम्यात्समो ज्ञेयः स्थितस्त्वेकस्वरेऽपि यः।
श्रुतयोऽन्या द्वितीयस्ता मृदुमध्यायताः स्मृताः।
आयतत्वं तु चेन्नीचं मृदुत्वं तु विपर्ययम्।
स्वस्वरे मध्यमत्वं च श्रुतीनामेष निर्णयः।
दीप्त्यायते करुणानां मृदुमध्यमयोस्तथा॥[2]

मृदु, मध्या एवं आयता की व्याख्या इन श्लोकों के आधार पर इस प्रकार की जा सकती है कि स्वर जिस श्रुति पर स्थित रहता है वह मध्या, उसके नीचे वाली आयता एवं ऊपर वाली को मृदु समझना चाहिये। दीप्ता एवं करुण की व्याख्या संबंधी कोई संकेत नहीं प्राप्त होता है। "अभिनव भारती" की हस्तलिखित प्रति में उक्त अंश के भ्रष्ट होने से कोई समुचित व्याख्या नहीं मिल पाती। मध्या, मृदु और आयता की अस्फुट सी व्याख्या के आधार पर यह श्रुतियों की परस्पर ऊंचाई नीचाई की स्थिति को दिखाने वाला प्रतीत होता है, इसका भाव रूप से कोई संबंध नहीं दिखता। "प्रमाणश्रुति" के उल्लेख में भी भरत ने "मार्दव" और 'आयतत्व' अथवा मृदु एवं आयता नामक श्रुति जातियों के नामों का प्रयोग किया है यथा— "पंचमस्य श्रुत्युत्कर्षापकर्षाभ्यां यदन्तरं मार्दवादायतत्वाद्वा तावत्

१—२८-२७-२८।
२—(२९।३८-४०) निर्णयसागर संस्करण।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रमाणश्रुतिः ।[1] उक्त कथन का आशय यह माना जाता है कि प जिस श्रुति पर स्थित है उससे एक श्रुति नीचे के अन्त को "आयतत्व" कहते हैं उससे विपरीत अवस्था 'मार्दव' कहलाती है। मध्यम से पंचम तक का चार श्रुति का अन्तर है। प को दो प्रकार से त्रिश्रुतिक बनाया जा सकता है। एक तो म से एक श्रुति चढ़ाने से दूसरे प को एक श्रुति उतारने से। इसे समझाने के लिये ही उक्त दो संज्ञाएँ प्रयुक्त की गई है। उक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि आयतत्व एवं मार्दव श्रुतिकी जातियों का संबंध श्रुति के परिमाण से है न कि उसके भावरूप से।

संगीत की २२ श्रुतियों की सिद्धि अथवा उसका नाप जानने के लिये ग्रन्थकारों ने चतुःसारणा—प्रक्रिया का उपयोग किया है। इस सारणा को समझाते समय सप्त स्वरों में श्रुतियों के विभाजन का विषय तत्क्षण सम्मुख आता है, किन्तु इससे पूर्व क्रमिकता के लिये स्वर की परिभाषा एवं श्रुति स्वर के संबंध को देखना आवश्यक है।

स्वर—स्वर की परिभाषा या लक्षण का उल्लेख भरत के ग्रन्थ में प्राप्त नहीं होता। मतंग आदि परवर्ती ग्रन्थकारों के इस विषय में कथन का सार इस प्रकार है—

'जो ध्वनि या नाद स्वयं रंजक हो, जो ध्वनि राग की जनक हो'[2]

उपर्युक्त लक्षणों को ध्यान में रखते हुए स्वर की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है—'यह वह अनुरणनात्मक नाद है जो किसी प्रकार के आघात से स्वयं उद्भूत होता हो, जो अनुरंजक हो, नियत श्रुति स्थान पर स्थित होने पर भी अपने स्थान से अधो-ऊर्ध्व गति पाने से विकृत होता हो एवं आत्मा की अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने में जो सहायक हो।'[3] आज स्वर कहने मात्र से उनकी शुद्ध अथवा कोमल संज्ञा के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न होती है। किन्तु भरत मुनि स्वर के लिये इन संज्ञाओं का प्रयोग नहीं करते। ग्राम और मूर्च्छना-पद्धति से विभिन्न स्वरान्तरालों का सहज संकेत हो जाता था, अतः पृथक् रूप से 'शुद्ध' 'विकृत' स्वरों का उल्लेख अनावश्यक

१—ना० शा० २८ अ०।

२—बृहद्ददेशी—श्लोक ६३

—सं० र० १।३। २४–२५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

था। ग्राम-मूर्च्छना पद्धति के लोप के इतिहास के साथ ही 'शुद्ध' 'विकृत' स्वरों के उद्भव का इतिहास जुड़ा हुआ है। भरत ने सप्त स्वरों के नामों के अतिरिक्त मात्र दो प्रकार के स्वर-साधारण का ही उल्लेख किया है। द्वैग्रामिक द्विविध स्वर-साधारण से सभी सूक्ष्म स्वरान्तराल प्राप्त हो जाते थे। इस प्रसंग में यह शंका स्वाभाविक है कि यह नामकरण कब व किसने किया। ऐसी मान्यता है कि संभवत: शारङ्गदेव के काल से यह विचारधारा प्रारंभ हुई। शारंगदेव ने भरत के षड्ज-ग्रामिक स्वरों को ही शुद्ध संज्ञा प्रदान की है एवं उन्हीं स्वरों के अतिरिक्त अन्य स्वरान्तरालों को विकृत संज्ञा दी है। उपर्युक्त कथन को मान लें तो यह शंका उठती है कि क्या षड्ज-ग्राम ही क्रियागत 'शुद्ध स्वर सप्तक' रहा होगा ? एवं भरत को षड्ज-ग्राम ही क्रियागत शुद्ध स्वर सप्तक के रूप में मान्य था ? (जब कि भरत को यह षड्जग्राम शुद्ध नामकरण के नाम होने पर भी उक्त रूप में मान्य था, ऐसा कहीं उल्लेख नहीं मिलता।)

उक्त शंका एकदम निराधार ही माननी चाहिये क्योंकि भरत को षड्जग्राम का षड्ज नहीं वरन् मध्यम ही प्रयोग में स्वरित[1] के रूप में स्वीकार्य था। मध्यम को इस महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होने के कारण ही उसे अविलोपी, अविनाशी एवं सब स्वरों में प्रवरादि विशेषणों से पुकारा गया है यथा—

मध्यमस्य विनाशस्तु कर्तव्यो न कदाचन
सर्वस्वराणां प्रवरो ह्यविनाशी तु मध्यमः।
गान्धर्वकल्पेऽभिमतः सामगैश्च महर्षिभिः॥[2]

उक्त तथ्य के आधार पर यह कहा जाना अनुचित न होगा कि भरत को भी प्राचीन में परम्परा ही मान्य थी जिसके आधार पर ही उन्होंने षड्जग्रामिक मध्यम को स्वरित माना था। यही परंपरा दक्षिण भारत को छोड़कर समस्त भारत में अखण्ड रूप से चली आ रही है। इसी मध्यम से आज के हमारे शुद्ध स्वर सप्तक का घनिष्ठ व निकट संबंध है यथा—

१—आधार स्वर के अर्थ में यहाँ "स्वरित" का प्रयोग किया गया है। वेद के "स्वरित" से यहाँ कोई संबंध नहीं।

२—ना० शा० अ० २८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

षड्जग्रामिक मध्यम की मूर्च्छना—म प ध नि सा रे ग म
४ ३ २ ४ ३ २ ४

मध्यम को सा मानने से प्राप्त स्वरावली–सा रि ग म प ध नि सा
४ ३ २ ४ ३ २ ४

यह स्वरावली आज के कोमल नी युक्त एवं शुद्ध नि रहित समाज की स्वरावली है। आधुनिक शुद्ध स्वरावली बिलावल की तुलना में केवल नी का भेद है। म से म तक की उक्त मूर्च्छना में ग का जो स्थान है, उस मूर्च्छना का सा से वही अन्तराल है जो मूल षड्जग्राम में अन्तर गांधार का है, उत्तरांग में उस ग के साथ संवाद करने वाला आधुनिक शुद्ध नि, संवाद-दृष्टि से स्वतः स्वाभाविक रूप से आता है जो आज के बिलावल के शुद्ध सप्तक को पूर्ण करता है इस प्रसंग में एक बात महत्त्वपूर्ण है कि षड्जग्राम का मध्यम ही मध्यम ग्राम में नि का स्थान प्राप्त करता है। इसको ध्यान में रखकर वीणा पर आधुनिक "सा" को यदि मध्यम ग्राम का "नि" मानकर मध्यम ग्राम का निषादादि मूर्च्छना बनाई जाये तो बिलावल के स्वर उसी रूप में प्राप्त हो जाते हैं।

म० ग्रा० की नी की मूर्च्छना—नि सा रे ग म प ध नि
४ ३ २ ४ ३ ४ २

नि को सा मानकर प्राप्त स्वरावली—सा रे ग म प ध नि सा
४ ३ २ ४ ३ ४ २

इस प्रकार षड्जग्राम एवं मध्यम ग्राम की क्रमशः म की उत्तर-मन्द्रा एवं मार्गी मूर्च्छना दोनों एक ही स्थान का संकेतक हैं, एव बिलावल से संबंध स्थापित करती हैं। उक्त तथ्य इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि हमारे संगीत में दो ग्रामों को अभी भी जीवित देखा जा सकता है।

उक्त स्पष्टता के पश्चात् भी कुछ समस्यायें शेष रह जाती है। प्रथम यदि "सा" या षड्ज संज्ञा ही अधिक व्यवहारोपयोगी थी तो भरत ने उस स्थान को मध्यम क्यों कहा? द्वितीय—भरत का मध्यम सा कब कहलाया—इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि षड्ज ग्राम की मौलिक स्वरावली का वीणा पर आरंभ स्थान कहाँ है यह तथ्य ओझल न हो जाये अतः षड्ज की अपेक्षा मध्यम संज्ञा दी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विकृत स्वर—इस विषय में पहले ही कहा जा चुका है कि भरत ने इस प्रकार की संज्ञा का प्रयोग नहीं किया है। भरत ने जो स्वर विशेष बताये हैं वे दो ग्रामों के अन्तर्गत आने वाली अन्तर, काकली संज्ञाएँ हैं। उक्त दो स्वर साधारण के अतिरिक्त एक अन्य भी स्वर साधारण भरत स्वर विशेष रूप से उल्लेख करता हैं, इसे "कैशिक" संज्ञा दी है दोनों ग्रामों के उक्त स्वर साधारण द्वारा वीणा पर हमारे परिचित सभी स्वर स्थान मिल जाते हैं यथा—द्विश्रुति रे, त्रिश्रुति रे, चतुःश्रुति रे, पंचश्रुति ग, सप्तश्रुति ग, षट्श्रुति म, त्रिश्रुति एवं चतुःश्रुति प, द्विश्रुति ध, त्रिश्रुति ध, चतुःश्रुति ध, पंचश्रुति नि, षट् एवं सप्तश्रुति नि।[1] स्वरसाधारणं द्विविधं द्वै ग्रामिक्यं कस्मात्? षड्ज-ग्रामे षड्जसाधारणं मध्यमग्रामे मध्यमसाधारणं साधारणोऽत्र स्वर-विशेष इति स्वरसाधारणाम्। एवं मध्यमग्रामेऽपि साधारणत्वं अस्य तु प्रयोगसौक्ष्म्यात् कैशिकमितिनाम निष्पद्यते।[2]

अर्थात् स्वर साधारण दो ग्रामों का होने के कारण दो प्रकार का होता है। म० ग्रा० में षड्ज-साधारण मध्यम ग्राम में मध्यम साधारण। यहाँ साधारण से स्वर-विशेष अभिप्रेत है। अतः स्वरसाधारण कहलाता है। इस प्रकार म० ग्रा० में भी साधारणत्व होता है। प्रयोग की सूक्ष्मता के कारण इस स्वरसाधारण का कैशिक नाम उचित प्रतीत होता है। ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट है कि भरत दो प्रकार के स्वर साधारण का उल्लेख करता है। एक का अन्तरस्वरता कहा जिससे अन्तर ग व काकलीनी की सिद्धि होती है। (मूर्च्छना के अन्तर्गत अधिक विस्तार) दूसरा वह जिसे 'स्वर-विशेष' कहा है। प्रथम प्रकार का स्वरसाधारण दोनों ग्रामों में चतुःश्रुति अन्तरालों वाले स्वरों के मध्य बताया गया है तथा दूसरे प्रकार का स्वर साधारण त्रिश्रुति स्वरों के बीच होता है।

वादी संवादी अनुवादी विवादी[3] स्वर—

संगीत की इन पारिभाषिक शब्दावलियों का उल्लेख भरत ने स्वरों के साथ किया है। इनके उल्लेख के पीछे भरत का मुख्य उद्देश्य

१—ना० शा० अ० २८; देखिये उद्धरण, तालिका (प्रणव भारती पृ० ११३)

२—ना० शा० अ० २८।

३—२८।२०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्वरान्तराल दिखाना था, अथवा इनके माध्यम से भरत ने स्वरान्तरालों को निर्देशित किया है। संवादी, विवादी एवं अनुवादी तो स्पष्टतः ही स्वरान्तरालों के द्योतक हैं। जिन दो स्वरों में स म भाव या ६ श्रुत्यन्तर तथा सप्त भाव १३ श्रुत्यन्तर[४] हो वे परस्पर संवादी स्वर होते हैं। ये संवाद स्थूल कानों से भी सुने जा सकते हैं। विवादी[५] स्वर के विषय में भरत का निम्नोक्त कथन है—"विवादिनस्तु—।" जिन स्वरों में २० श्रुतियों का अन्तर हो जैसे रे-ग और ध-नि। भरत के अनुसार अनुवादी स्वर वे हैं जो वादी संवादी विवादी के अतिरिक्त हैं। जैसे सा के अनुवादी रे ग ध नि, रे के म प नी, ग के म प ध इत्यादि।

वादी—संवादी स्वर जोड़ी का पहला सिरा वादी कहलाता है जिसे आधार मानकर संवाद अनुवाद या विवाद स्थिर किया जाता है। सभी मूर्च्छनाओं का आरम्भ सा ही मानकर करते हैं, चाहे वह कोई स्वर हो। अतः आधार स्वर ही वादी है। सा म में सा वादी है पर जब म सा करेंगे तो म वादी होगा क्योंकि म के आधार पर सा का संवाद देखते हैं। इसी वादी स्वर में जब १० लक्षणों का योग होता है तब वह 'अंश' कहलाता है। मध्ययुगीय ग्रन्थकारों ने वादी संवादी—आदि को स्वरान्तराल द्योतक न मान उन्हें रागों की पारिभाषिक शब्दावली मान लिया।

ग्राम

ग्राम संज्ञा भारतीय संगीत की प्राचीन परंपरा के साथ जुड़ी हुई है। ग्राम की व्याख्या भरत के संगीत संबंधी अध्यायों के अन्तर्गत नहीं मिलती। वहाँ तो सीधे २ दो ग्रामों का ही उल्लेख मिल जाता है, किन्तु नाट्य शास्त्र के संगीताध्याय से भिन्न एक अध्याय में 'ग्राम' के विषय की कुछ सूचना मिलती है। बीसवें अध्याय में कहा गया है :—

४—२८।पृ० ३१८।

५—ना० शा० २८।प० ३१८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जातिभिः श्रुतिभिश्चैव स्वरा ग्रामत्वमागताः ।
यथातथा वृत्तिभेदैः काव्यबंधा भवन्ति हि ।
ग्रामौ पूर्णस्वरों द्वौ तु यथा वैषड्जमध्यमौ ।
सर्ववृत्तिनिष्पन्नौ काव्यबन्धे तथा त्विमौ ।
ज्ञेयं प्रकरणं चैव तथा नाटकमेव च ।
सर्ववृत्तिनिष्पन्नं नाट्यावस्थासमाश्रयम् ॥ १ ॥

ना० शा० २० । ५–७

अर्थात् जाति एवं श्रुतियों से स्वर ग्राम बनते हैं। जिस प्रकार श्रुति भेद संगीत में ग्राम की सृष्टि करता है उसी प्रकार वृत्ति भेद साहित्य में काव्यबंध की सृष्टि करता है। षड्ज एवं मध्यम ही जिस प्रकार दो पूर्ण स्वर ग्राम हैं उसी प्रकार प्रकरण एवं नाटक भी मात्र दो ही काव्यबंध है।

उक्त उल्लेख ग्राम की कोई सीधी व्याख्या नहीं प्रदान करता, क्योंकि यहाँ स्वयं उसका ही उल्लेख उदाहरण-स्वरूप हुआ है। अतः ग्राम की संक्षिप्त व्याख्या के लिये मतंग अथवा शारंगदेव जैसे परवर्त्ती ग्रंथकारों की ओर दृष्टिपात करना होगा। मतंग का कथन इस विषय में संक्षेप में इस प्रकार है, यथास्वर श्रुति आदि का समूहवाची नाम ही ग्राम है, अर्थात् एक विशिष्ट प्रकार की स्वर-श्रुति-व्यवस्था के अन्तर्गत जितने भी परस्पर भिन्न स्वर-समूह बनते हैं, वे सब एक ग्राम के अन्तर्गत आते हैं। साधारण अर्थ में भी ग्राम का अर्थ समूहवाची ही है। संगीत में प्रसिद्ध दो ग्राम ऐसे हैं, षड्ज एवं मध्यम ग्राम, गांधार ग्राम नामक तीसरे ग्राम का उल्लेख नारद ने किया था, किन्तु वह इस लोक में प्रयुक्त नहीं होता। (गांधार ग्राम का उल्लेख सम-कालीन अन्य साहित्यों तथा जैन सूत्रों में भी देखा जा सकता है) सामवेद से स्वरों की एवं स्वरों से ग्रामों की उत्पत्ति हुई है।[1]

उक्त व्याख्या के अतिरिक्त शारंगदेव कुछ संक्षिप्त रूप से भी इसकी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं यथा—'ग्रामः स्वरसमूहः स्यान्मूर्च्छनादेः समाश्रयः।'[2] अर्थात् मूर्च्छनाओं का आश्रय स्वर समूह ही ग्राम है, या

१—बृहद्देशी—पृ० २०–१ ।

२—प्र० भा० पृ० ८० ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्वरान्तराल दिखाना था, अथवा इनके माध्यम से भरत ने स्वरान्तरालों को निर्देशित किया है। संवादी, विवादी एवं अनुवादी तो स्पष्टतः ही स्वरान्तरालों के द्योतक हैं। जिन दो स्वरों में स म भाव या ६ श्रुत्यन्तर तथा सप्त भाव १३ श्रुत्यन्तर[४] हो वे परस्पर संवादी स्वर होते हैं। ये संवाद स्थूल कानों से भी सुने जा सकते हैं। विवादी स्वर के विषय में भरत का निम्नोक्त कथन है—"विवादिनस्तु—।[५] जिन स्वरों में २० श्रुतियों का अन्तर हो जैसे रे-ग और ध-नि। भरत के अनुसार अनुवादी स्वर वे हैं जो वादी संवादी विवादी के अतिरिक्त हैं। जैसे सा के अनुवादी रे ग ध नि, रे के म प नी, ग के म प ध इत्यादि।

वादी—संवादी स्वर जोड़ी का पहला सिरा वादी कहलाता है जिसे आधार मानकर संवाद अनुवाद या विवाद स्थिर किया जाता है। सभी मूर्च्छनाओं का आरम्भ सा ही मानकर करते हैं, चाहे वह कोई स्वर हो। अतः आधार स्वर ही वादी है। सा म में सा वादी है पर जब म सा करेंगे तो म वादी होगा क्योंकि म के आधार पर सा का संवाद देखते हैं। इसी वादी स्वर में जब १० लक्षणों का योग होता है तब वह 'अंश' कहलाता है। मध्ययुगीय ग्रन्थकारों ने वादी संवादी—आदि को स्वरान्तराल द्योतक न मान उन्हें रागों की पारिभाषिक शब्दावली मान लिया।

ग्राम

ग्राम संज्ञा भारतीय संगीत की प्राचीन परंपरा के साथ जुड़ी हुई है। ग्राम की व्याख्या भरत के संगोत संबंधी अध्यायों के अन्तर्गत नहीं मिलती। वहाँ तो सीधे २ दो ग्रामों का ही उल्लेख मिल जाता है, किन्तु नाट्य शास्त्र के संगीताध्याय से भिन्न एक अध्याय में 'ग्राम' के विषय की कुछ सूचना मिलती है। बीसवें अध्याय में कहा गया है :—

४—२८।पृ० ३१८।

५—ना० शा० २८।प० ३१८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जातिभिः श्रुतिभिश्चैव स्वरा ग्रामत्वमागताः ।
यथातथा वृत्तिभेदैः काव्यबंधा भवन्ति हि ।
ग्रामौं पूर्णस्वरों द्वौ तु यथा वैषड्जमध्यमौ ।
सर्ववृत्तिनिष्पन्नौ काव्यबन्धे तथा त्विमौ ।
ज्ञेयं प्रकरणं चैव तथा नाटकमेव च ।
सर्ववृत्तिनिष्पन्नं नाट्यावस्थासमाश्रयम् ॥ १ ॥

ना० शा० २० । ५–७

अर्थात् जाति एवं श्रुतियों से स्वर ग्राम बनते हैं। जिस प्रकार श्रुति भेद संगीत में ग्राम की सृष्टि करता है उसी प्रकार वृत्ति भेद साहित्य में काव्यबंध की सृष्टि करता है। षड्ज एवं मध्यम ही जिस प्रकार दो पूर्ण स्वर ग्राम हैं उसी प्रकार प्रकरण एवं नाटक भी मात्र दो ही काव्यबंध है।

उक्त उल्लेख ग्राम की कोई सीधी व्याख्या नहीं प्रदान करता, क्योंकि यहाँ स्वयं उसका ही उल्लेख उदाहरण-स्वरूप हुआ है। अतः ग्राम की संक्षिप्त व्याख्या के लिये मतंग अथवा शारंगदेव जैसे परवर्त्ती ग्रंथकारों की ओर दृष्टिपात करना होगा। मतंग का कथन इस विषय में संक्षेप में इस प्रकार है, यथास्वर श्रुति आदि का समूहवाची नाम ही ग्राम है, अर्थात् एक विशिष्ट प्रकार की स्वर-श्रुति-व्यवस्था के अन्तर्गत जितने भी परस्पर भिन्न स्वर-समूह बनते हैं, वे सब एक ग्राम के अन्तर्गत आते हैं। साधारण अर्थ में भी ग्राम का अर्थ समूहवाची ही है। संगीत में प्रसिद्ध दो ग्राम ऐसे हैं, षड्ज एवं मध्यम ग्राम, गांधार ग्राम नामक तीसरे ग्राम का उल्लेख नारद ने किया था, किन्तु वह इस लोक में प्रयुक्त नहीं होता। (गांधार ग्राम का उल्लेख समकालीन अन्य साहित्यों तथा जैन सूत्रों में भी देखा जा सकता है) सामवेद से स्वरों की एवं स्वरों से ग्रामों की उत्पत्ति हुई है।[1]

उक्त व्याख्या के अतिरिक्त शारंगदेव कुछ संक्षिप्त रूप से भी इसकी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं यथा—'ग्रामः स्वरसमूहः स्यान्मूर्च्छनादेः समाश्रयः।'[2] अर्थात् मूर्च्छनाओं का आश्रय स्वर समूह ही ग्राम है, या

१—बृहद्देशी—पृ० २०-१ ।

२—प्र० भा० पृ० ८० ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

जिस आधार पर मूर्च्छनाएँ बनाई जाती हैं। (मूर्च्छना पर पृथक् रूप से विचार किया गया है[1]) भरत ने केवल दो ही ग्राम बताए हैं। अतः उनकी स्पष्टता ही संगत होगी।

षड्ज ग्राम—षड्ज ग्राम के विषय में भरत का निम्नोक्त श्लोक देखा जा सकता है।

'षड्जग्रामे च षड्जस्य संवादः पंचमस्य च।
संवादो मध्यमग्रामे पंचमस्यर्षभस्य च।[2]

अर्थात् षड्ज ग्राम में सा प संवाद है और मध्यम ग्राम में रे प संवाद है। सा प नहीं। विस्तार से देखें तो यह कह सकते है कि षड्ज ग्राम में सा प १३ श्रुति के अन्तर से संवाद करता है। मध्यम ग्राम में प त्रिश्रुतिक हो जाने से सा प संवाद १२ श्रुति के अन्तर के कारण म ग हो जाता है, किन्तु सा-प भाव से रे-प ६ श्रुतियों के अन्तर से संवाद करने लगता है। भारतीय संगीत में भी ये ही दो श्रुत्यन्तर वाली स्वर जोड़िया मुख्य संवादी जोड़ियाँ मानी गई है। उक्त उल्लेख को देखने पर एक बात तत्काल ध्यान में आती है कि दोनों ग्रामों में केवल "प" की अवस्था ही परस्पर भिन्न है। इसी के भेद से दोनों श्रुत्यंतर सिद्ध होते हैं। षड्ज ग्राम की श्रुति व्यवस्था में भरत का निम्नोक्त कथन द्रष्टव्य है—

"षड्जश्चतुःश्रुतिर्ज्ञेयः ऋषभस्त्रिश्रुतिः स्मृतः
द्विश्रुतिश्चापि गांधारो मध्यमश्च चतुःश्रुतिः।
चतुःश्रुतिः पंचमः स्यात् त्रिश्रुतिर्धैवतस्तथा
द्विश्रुतिस्तु निषादः स्यात् षड्जग्रामे स्वरान्तरे॥[3]

अर्थात् सा, म, प चार-चार श्रुति के, रे ध तीन श्रुति के, एवं ग नी दो श्रुति के, षड्जग्राम में होते हैं। श्रुतियों की गिनाई अवरोही क्रम में अभिप्रेत है क्योंकि अंतिम श्रुति पर स्वरों की स्थिति होती है। सा के चार श्रुति का होने से यह तात्पर्य नहीं कि सा रे के मध्य का अन्तर चार है, किन्तु नी सा का अन्तर समझना चाहिये। षड्ज-

---

१—देखिये पृ० (१६२)।
२—ना० शा० २८।१२।
३—२८।२३–२४।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

ग्रामिक उक्त श्रुति-स्वर-व्यवस्था को पूर्वांग उत्तरांग दो भागों में विभक्त करें तो एक समान ही श्रुति व्यवस्था दिखती है। यथा—

सा रे ग म प ध नि सा। यह श्रुतिव्यवस्था बहुत कुछ
४ ३ २ ४ ४ ३ २ ४

आधुनिक काफी सदृश दिखाई देती है। अन्तर केवल रे का है, काफी का रे चतुःश्रुतिक होता है। इसके कारण ग भी षड्जग्राम के रे से पाँच श्रुति के अन्तर पर आता है, जब कि काफी में वह षट्श्रुति होता है। अतः स्थूल रूप से काफी सा दीखने पर भी सूक्ष्म श्रुति व्यवस्था दोनों का भिन्न ही है। षड्ज ग्रामिक स्वर व्यवस्था को वीणा पर भली भाँति देखा जा सकता है। वीणा के मेरु के बाद दूसरे पर्दे या आज के मन्द्र प को सा मानकर सप्तस्वर बनायें तो बिना परिवर्त्तन षड्जग्रामिक व्यवस्था दृष्टिगत हो जायगी।

मध्यमग्राम—मध्यम ग्रामोत्पत्ति के विषय में भरत के निम्नोक्त सूत्र को ही परवर्त्ती ग्रंथकारों ने भी आधार माना है—

मध्यमग्रामे तु श्रुत्यपकृष्टः पंचमः कार्यः[1] अर्थात् मध्यमग्राम में प को एक श्रुति अपकर्ष किया जाता है।

उक्त कथन से यह भ्रामक धारणा या अर्थ नहीं निकालना चाहिये कि षड्जग्राम के प को एकश्रुति उतारने से मध्यमग्राम बनेगा। (इस प्रकार का अर्थ अधिकांश परवर्त्ती ग्रन्थकारों ने लगाया है एवं उससे प्राप्त स्वरावली को क्रिया प्रयोग इत्यादि से रहित बताया है) क्योंकि षड्जग्राम में मिली वीणा में ऐसा करने से संपूर्ण वीणा ही बेसुरी हो जायगी। अपकर्ष करने की क्रिया साधारण प्रक्रिया ("सारणाक्रिया" की व्याख्या विवरण सहित आगे की गई है।) में लागू होती है। सारणाक्रिया का यह प्रथम सोपान है। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि इसी मात्र अपकर्ष से वीणा मध्यम ग्राम में गायन वादन योग्य हो जायेगी, क्योंकि सारणा में यह क्रिया बार बार की जाती है। प्रथम सारणा के उल्लेख के समय ग्रामोल्लेख को इसलिये भरत करते हैं कि यह स्पष्ट हो जाय कि मध्यम ग्राम में प तीन श्रुति का है एवं उसका सा से संवाद न होकर त्रिश्रुति 'रे' से है।

१—ना० शा० २८।२३-३५ पृ० ३१८।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

भरत के मध्यमग्राम संबंधी उक्त श्लोक से एक अन्य भ्रान्त धारणा भी संभव है, जैसा कुछ परवर्त्ती ग्रंथकारों ने समझा है कि षड्जग्राम के म को सा मानकर सप्तक में जो प आये उसका अपकर्ष करने से मध्यमग्राम बन जायगा। इस भ्रान्त धारणा के दो मुख्य कारण हो सकते हैं। प्रथम तो मध्यमग्राम में 'मध्यम' संज्ञा का होना, द्वितीय 'मध्यम ग्राम के मूर्च्छना क्रम का आरंभ मध्यम से करने का उल्लेख, अर्थात् इस ग्राम की प्रथम मूर्च्छना का आरंभ मध्यम से होना। इस भ्रान्त उलझनों से बचने एवं मध्यमग्राम की व्यवस्था समुचित रूप से जानने के लिये निम्नलिखित ढंग अपनाना होगा। षड्जग्रामिक 'म' हमारा आज सा है यदि उसे मध्यम ग्राम का प्रारंभ स्थान मानकर सप्तक बनायें तो इस प्रकार का स्वरान्तर मिलेगा।—

ष० ग्रा० स्वर—	म	प	ध	नि	सा	रे	ग	म
		४	३	२	४	३	२	४

म को सा मानने से प्राप्त स्वर—	सा	रे	ग	म	प	ध	नि	सा
		४	३	२	४	३	२	४

यह स्वरावली आधुनिक समाज की भाँति है। इसमें न तो 'प' ही और न 'रे' ही त्रिश्रुतिक है, एवं 'मध्यमग्राम में अपेक्षित चतुः-श्रुतिक 'ध' भी इसमें नहीं है। अतः इस विधि की अपेक्षा यदि षड्ज-ग्रामिक 'प' अर्थात् आज के 'रे' से प्रारंभ करे तो हम वीणा पर सहज ही "मध्यम" ग्राम के स्वरों को सिद्ध करने में समर्थ हो जायेंगे।

षड्जग्राम के स्वर—	प	ध	नि	सा	रे	ग	म	प
आज के स्वर—	रे	ग	म	प	ध	नि	सा	रे
मध्यमग्राम के स्वर—	सा	रे	ग	म	प	ध	नि	सा
		४	३	२	४	३	४	२ ४

मध्यग्राम की स्वर व्यवस्था को वीणा पर दूसरे प्रकार से भी सिद्ध किया जा सकता है। वीणा के जोड़ के तारों के नीचे मेरु से दूसरे पर्दे को आरंभिक स्थान मानकर चलने से भी म० ग्रा० बनता है। उस पर्दे को "सा" मानकर एक पर्दा छोड़ दूसरा पर्दा जो आधुनिक शुद्ध ध एवं ष० ग्रा० का "रे" बनता है। अब पुनः बाज की तार पर मुक्त तार का नाद द्विश्रुति गांधार बनेगा एवं मेरु से दूसरा पर्दा जो मंद्र "प" एवं षड्ज ग्रा० का "सा" है, यहाँ चतुःश्रुति

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

"म" बनेगा। पुनः षड्जग्राम० का त्रिश्रुति "रे" का पर्दा, आधुनिक मंद्र "ध", वह यहाँ चतुःश्रुति त्रिश्रुति "प" बनेगा। इसी प्रकार षड्जग्राम का अन्तर गांधार आज का तीव्र "नि," चतुश्रुति "ध" बनेगा। म० ग्रा० का दो श्रुति का म नि एवं ष० ग्रा० का रे या आज का प तार सा हो जायेगा। इस प्रकार बिना हेरफेर म० ग्रा० की स्वरावली प्राप्त हो जाती है। इससे यह दिखता है कि दोनों ग्रामों में नाम भेद ही है, अन्यथा पर्दे वही हैं जो ष० ग्रा० में प्रयुक्त है। ष० ग्रा० का काकली नी म० ग्रा० में अन्तर ग एवं ष० ग्रा० का अन्तर ग म० ग्रा० में चतुश्रुति ध बनता है। इसकी पुष्टि स्वयं भरत का निम्नोक्त उद्धृत बचन कर देता है—

द्विविधैकमूर्च्छनासिद्धि–द्विश्रुतिप्रवर्तकैर्द्विवतीकृते गांधारे—प्राप्नुवन्ति ॥[1]

उक्त वचन मूर्च्छनाओं के चार भेदों के संदर्भ में कहा गया है। चार भेद बताने के तुरन्त बाद ही उक्त अंश लिखा गया है। इस अंश से यह निष्कर्ष" निकलता है कि एक ग्राम की मूर्च्छना विशेष में ही दूसरे ग्राम की मूलभूत स्वरावली स्थित होती है या प्राप्त की जा सकती है। उक्त अंश का तात्पर्य संक्षेप में इस प्रकार है। यथा—

भरत ने यह कहा है कि षड्जग्राम की उन मूर्च्छनाओं में जिनमें अन्तर ग का प्रयोग किया गया हो, उन्हीं में यह मूर्च्छना जिसमें अन्तर "ग," "ध" बन जायेगा, वह स्वरावली षड्जग्राम की मूर्च्छना भी होगी एवं साथ ही दूसरा ग्राम भी। यह बात केवल एक ही मूर्च्छना में सिद्ध होती है जिसे ऊपर दिखाया जा चुका है अर्थात् ष० ग्रा० के "प" की अन्तर "ग" युक्त मूर्च्छना–इस प्रकार "धैवती-कृते गांधारे" (ग को ध बनाने पर) तथा "मूर्च्छनाग्रामयोरन्यतरत्वम्" (एक ही स्वरावली मूर्च्छना व ग्राम दोनों रूप लेती है) दोनों ही अत्यंत महत्वपूर्ण कथन हैं। भरत ने यह भी कहा है कि इस अवस्था में षड्जग्राम के मध्यमादि स्वर म० ग्रा० में निषादादि बन जाते हैं, जिसकी पुष्टि ऊपर की जा चुकी है।

जिस प्रकार ष० ग्रा० में म० ग्रा० की स्थिति है, उसी प्रकार म० ग्रा० में भी ष० ग्रा० की स्थिति भरत बताते हैं,। जिस प्रकार

१—ना० शा० २८। पृ० ३२०

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

ष० ग्रा० में चढ़े हुए "ग" को "ध" बनाने से म० ग्रा० मिलता है, उसी प्रकार म० ग्रा० म ध का अमार्दव। मार्दव, आयतत्व क्रमशः चढ़ाने, उतारने के लिये भरत ने प्रयुक्त किये हैं। अमार्दव यानि उत्कर्ष का अभाव या चतुःश्रुति[1] से द्विश्रुति बनाने से भिन्न भिन्न मूर्च्छनाओं की सिद्धि होती है। उन्हीं मूर्च्छनाओं में से एक में ष० ग्रा० की प्राप्ति हो जायगी। जब म० ग्रा० का "म" "सा" बन जाय "प" "रे" बन जाए तथा इसी प्रकार अन्य स्वर भी हो जाये तब षड्ज ग्राम की सहज प्राप्ति हो जायेगी। इस प्रकार "म" को "सा" मानने में "ध" का अमार्दव आवश्यक है—

म० ग्रा०—म प ध नि सा रे ग
ष० ग्रा०—सा रे ग म प ध नि
श्रुत्यन्तर—४ ३ २ ४ ४ ३ २

यों देखा जाये तो दोनों ग्रामों में श्रुत्यन्तर एक समान हैं। केवल नाम भेद ही उनके पृथक् रूप का परिचायक बनता है। नाम भेद का उदाहरण भरत ने इस प्रकार दिया है कि ष० ग्रा० में 'रे' व अन्तर 'ग' का जो श्रुति का अन्तर है, वही म० ग्रा० में 'प' और 'ध' के बीच का अन्तर बनता है, इस प्रकार 'तुल्यश्रुत्यन्तर' होने पर भी 'संज्ञाभेद' हो जाता है। भरत ने केवल इसी का उदाहरण इसलिये दिया है कि यही ग्राम परिवर्त्तन का मूल है। म० ग्राम का त्रिश्रुतिक 'प' और चतुःश्रुतिक 'ध' यहीं दिखाई देता है।

जिस प्रकार 'गांधारोत्कर्ष' का महत्त्व है जिससे म० ग्रा० का रूप प्राप्त होता है, उसी प्रकार 'निषादोत्कर्ष' का भी महत्त्व है जहाँ से नवीन स्वर स्थान की प्राप्ति होती है। म० ग्रा० का काकली 'नी' ष० ग्रा० का तीव्र 'म' बनेगा जो आधुनिक कोमल 'रे' है—

म० ग्रा०———	सा	रे	ग	म	प	ध	नि (का०)	नी	सा
ष० ग्रा०———	प	ध	नि	सा	रे	ग	म	म्	प
आधुनिक स्वर—	रे	ग	म	प	ध	नि	सा	रे	रे
	४	३	२	४	३	४	२	२	२

इस प्रकार भरत द्वारा निर्दिष्ट दोनों ग्रामों की स्वर-व्यवस्था विशुद्ध शास्त्रीय है एवं वीणा पर आसानी से सिद्ध की जा सकती है।

१—यह चतुःश्रुति 'ध' नहीं, वरन् 'अमार्दव' से प्राप्त २श्रुति का 'ध' है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

भरत की ग्राम व्यवस्था पर की गई विवेचना को दूसरी दृष्टि से भी देखा जा सकता है। सूक्ष्म रूप से देखने पर यह कहा जा सकता है कि भरत ने ग्राम की रचना के मूल में दो मुख्य स्वर संवादों को रखा है। सा-प एवं साम संवाद। दोनों प्रकार के संवाद किसी एक ग्राम में नहीं प्राप्त हो सकते अतः दोनों में सम्मिलित रूप से यह देखना आवश्यक है।

चतुःसारणा—चतुःसारणा का उल्लेख भरत ने २२ श्रुतियों की सिद्धि के लिये किया है। यद्यपि इसमें आधुनिक गणित की कोई भी प्रक्रिया निहित नहीं है, तथापि इसका आधार संवादतत्त्व की दृढ़ता है। षड्ज-पंचम एवं षड्ज-मध्यम संवाद मुख्य है, इसकी शुद्धता जाँचने का प्रबल आधार सूक्ष्मग्राही कान है। गणित में कभी-कभी भूल संभव है, किन्तु अभ्यस्त कानों को संवाद जाँचने में नहीं। भरत ने सारणा विधि का उल्लेख नाट्य शास्त्र के अट्ठाइसवें अध्याय में किया है।[1] यथा-द्वे वीणे तुल्यप्रमाणतन्त्र्युपवादन दण्ड—प्रत्यवगन्तव्याः ॥[2]

उक्त अंश के सूक्ष्मावलोकन से यह बात तत्काल ही ध्यान में आती है कि भरत ने चतुःसारणा विधि ग्राम की भाषा में एवं अत्यन्त सूत्र रूप में बताई है, किन्तु उनका विवेचन इतना क्रमबद्ध व स्पष्ट है कि उसे समझना काफी आसान है। भरत का कथन है कि सर्व प्रथम एक-सी दो वीणा ली जाये। उसे षड्ज ग्रामिकी बनाने का तात्पर्य है उस पर षड्जग्राम के स्वरों की स्थिति स्थिर कर ली जाये। भरत काल की वीणा के पर्दों की परंपरा आज भी किंचित नामभेद के साथ वैसी ही चली आ रही है। अतः पर्दों में कोई परिवर्तन अपेक्षित नहीं है। भरतकाल का स्वरित षड्ज ग्राम का मध्यम था उसी 'म' को आज 'सा' का स्थान प्राप्त है। इसी से ष० ग्रा० का 'सा' हमारा 'प' कहलाता है। वीणाओं को षड्ज-ग्रामिकी बनाने के लिये कोई परिवर्तन नहीं करना पड़ता। केवल आज के मंद्र 'प' के पर्दे पर 'सा' मानने से ष० ग्रामिक व्यवस्था आसानी से मिल जाती है। दोनों वीणाओं में एक को अचल बना देना चाहिये।

१—पृ० ३१८ पर

२—ना० शा० अ० २८। पृ० ३१८

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चल वीणा में 'प' के अपकर्ष से उसे मध्यम ग्रामिकी बना दें। पंचम का अपकर्ष करने के लिये वीणा पर दो विधि अपनाई जा सकती है। एक तो तारों को उतारने चढ़ाने से, दूसरे पर्दे खिसकाने से। पर्दे के लिये भी दो विधि अपनाई जा सकती है। प्रथम तो अपेक्षित स्थान पर नवीन पर्दा बांधकर, द्वितीय उसे खिसकाकर। भरत ने तार या पर्दे का उल्लेख न करके केवल अपकर्ष का ही उल्लेख किया है। अतः पर्दे अथवा तार के माध्यम का चुनाव प्रयोगकर्ता पर निर्भर है। हमें नवीन पर्दा बांधना अधिक प्रशस्त एवं सुविधाजनक प्रतीत होता है।

सारणा की प्रक्रिया चार-बार की जाती है, क्योंकि स्वरों का सबसे बड़ा अन्तराल ४ श्रुति का है। अतः एक श्रुति का चार बार अपकर्ष तो आवश्यक ही है। प्रथम सारणा की क्रिया का प्रारंभ 'प' के एक श्रुति अपकर्ष से होता है। इसके द्वारा 'प' को त्रिश्रुतिक बनाकर मध्यम ग्रामिक स्वर व्यवस्था बनाने का उल्लेख किया गया है। यह विधान ही संपूर्ण सारणा क्रिया का आधार है। सप्तक में चार श्रुत्यन्तर वाले अन्तराल 'सा' 'म' 'प' तीन हैं। तीनों ही महत्व-पूर्ण है, किन्तु भरत ने 'प' को ही प्रारंभक क्यों चुना; इसकी स्पष्टता देखने पर यह अत्यंत सूक्ष्म वैज्ञानिक विधि का संकेत करती है।

संवादों में 'सा'—प' संवाद मुख्य है। इसी के आधार पर षड्जग्राम एवं भंगीकरण से मध्यम ग्राम की रचना होती है। अपकर्ष क्रिया में दोनों ही की आवश्यकता श्रुति सिद्धि के लिये जरूरी है। यही कारण था कि भरत ने ग्राम–भाषा का प्रयोग किया है। प्रथम सारणा पंचम के अपकर्ष से प्रारंभ होती है। 'प' को एक श्रुति कम करके पुनः सभी स्वरों का अपकर्ष करके चल वीणा पुनः षड्ज ग्रामिकी बना लेनी चाहिये। 'प' ही ऐसा स्थान है, जिसके अपकर्ष को संवाद के आधार पर जाँचने के लिये साधन विद्यमान है। इस समय किसी श्रुति का माप नहीं मालूम रहता। किन्तु 'प' का अपकर्ष उतना ही करे जिससे वह अचल वीणा के त्रिश्रुति 'रे' से 'सा--म' भाव से संवाद करे। इस संवाद--आधार से अन्य सारणाएँ भी सरल हो जाती है। 'प' के अपकर्ष से जब वीणा म० ग्रामिकी हो जायेगी तब अन्य स्वरों का भी पुनः अपकर्ष करके वीणा को षड्ज ग्रामिकी बनाने के लिये अन्य स्वरों के अपकर्ष का नाप अपकृष्ट पंचम

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के आधार पर स्थिर किया जा सकता है। उदाहरणस्वरूप--षड्ज का अपकर्ष षड्ज को उतना ही उतार कर करें जिससे अपकृष्ट प के साथ वह अपकृष्ट 'सा' 'सा--प' भाव से संवाद करे, फिर उतरे 'सा' के सा--म' भाव से 'म' को उतारा जाये। इसी क्रम से अन्य स्वर भी उतारे जायेंगे। यह क्रिया बिना प्रथम पंचम के अपकर्ष के असंभव है। इसी से भरत ने इसे प्रथम अपकर्ष को प्रमाण श्रुति कहा है। इस सारणा के पश्चात् पूर्ण चल वीणा अचल से १ श्रुति नीची हो जाती है। दुबारा पुनः 'प' के अपकर्ष से प्रारंभ करे। इस बार इस 'प' को उतना उतारे जितना कि वह अचल वीणा के काकली 'नी' के साथ 'सा--प' भाव से संवाद करे। इसी प्रकार अन्य स्वरों के साथ भी जांच लें। यथा—उतरे 'सा' से उतरे 'प' को' स-प' संवाद से देखें, या अचल वीणा के काकली 'नी' के पर्दे से मिलाकर देख लें। इस द्वितीय सारणा में अपकृष्ट 'म' अचल वीणा के अंतर 'ग' में लीन हो जायेगा तथा 'ग' का अपकर्ष करने के लिये मूल 'रे' के पर्दे पर ही 'ग' की स्थिति हो जायगी। दूसरे शब्दों में यह 'ग' अचल वीणा के 'रे' में लीन हो जायेगा। इसकी जांच अचल वीणा के 'ध' से 'सा प' संवाद द्वारा की जा सकती है। इस प्रकार इस द्वितीय सारणां में दो श्रुति उतारने के कारण चल वीणा के 'ग—नि' अचल वीणा के रे-ध में लीन हो जाते हैं 'रे ग' 'ध—नि' का श्रुत्यन्तर दो हैं। इस प्रकार यहाँ चार श्रुतियों की प्राप्ति होती है। तृतीय सारणा भी पंचम ही के अपकर्ष से प्रारंभ करेंगे। यहाँ भी सब स्वर पुनः अपकृष्ट होते हैं। इस सारणा में चल वीणा के 'रे--ध' अचल के 'सा प' में लीन हो जाते है। इससे यह सिद्ध हुआ कि 'रे--सा' एवं 'ध--प' के मध्य तीन श्रुतियों का अन्तर है। यहाँ ६ श्रुतियों की प्राप्ति होती है। चतुर्थ सारणा का भी प्रारंभ 'प' के अपकर्ष से ही होता है। इस सारणा में 'सा--म--प' का चतुःश्रुतिक होना प्रामाणित होता है अतः २२ श्रुतियों की प्राप्ति होती है। इस प्रकार भरत ने २२ श्रुतियों की सिद्धि ग्राम की भाषा में सारणा द्वारा बताई है।

मूर्च्छना—प्राचीन ग्रन्थकारों ने 'ग्राम' के रूप में अपनी मूल स्वरावलि निश्चित की है। जिसके आधार पर मूर्च्छनाओं का निर्माण किया था। 'मूर्च्छना' की व्याख्याएँ भरत एवं परवर्त्ती ग्रन्थकारों ने स्पष्ट रूप से की है यथा—

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

क्रमयुक्ताः स्वराः सप्तमूर्च्छनास्त्वभिसंज्ञिताः ।[1]
क्रमात्स्वराणां सप्तानामारोहश्चावरोहणम् ।[2]

एक व्याख्या के आधार पर यह कह सकते है कि क्रम से सप्त स्वरों का आरोहावरोह करने से मूर्छनाओं का निर्माण होता है। सात स्वर कोई भी हों, अर्थात किसी भी अन्तराल वाले हों, उनका प्रयोग मूर्च्छना-निर्माण के निमित्त किया जा सकता है। किन्तु भरत ने ग्राम के सप्त स्वरों का उल्लेख किया है। इसका प्रमाण संगीत रत्नाकर के निम्न उल्लेख से भी प्राप्त हो जाता है—

'ग्रामः स्वरसमूहः स्यान्मूर्च्छनादेः समाश्रयः ।[3]

यानी-ग्राम उस स्वर समूह को कहेंगे जो मूर्च्छनादि का आश्रय हो।

ग्राम के अन्तर्गत सन्निहित मूल स्वर सप्तक से मूर्च्छना बनाते समय कुछ बातें ध्यान में रखनी चाहिये। प्रथम एक निश्चित श्रुति व्यवस्था से युक्त स्वर समूह की स्थापना करनी होगी। द्वितीय इसी के प्रत्येक स्वर का क्रम से आरोहावरोह करना होगा। तृतीय जिस स्वर को प्रारंभिक स्थान माना हो उसे षड्ज या स्वरित मानकर तदनुसार अन्य स्वरों की अवस्था देखनी चाहिये। चतुर्थ ध्यान में रखने की बात यह है कि प्राप्त स्वरावलि का उपयोग मध्य सप्तक में करना चाहिये।

मूर्च्छनाएँ बनाने से प्रत्येक से भिन्न-भिन्न स्वरान्तराल मिलेंगे यथा—

षड्जग्राम—सा रे ग् म प ध नि्
४ ३ २ ४ ४ ३ २

रे की मूर्च्छना—रे ग् म प ध नी् सा रे अन्तराल भिन्न हो जाने
३ २ ४ ४ ३ २ ४ ३ से स्वर जिसे हम कोमल
सा रे् ग् म प ध नि सा कहते हैं मिलते हैं।

१—ना० शा० २८।

२—संगीत रत्नाकर—१।

३—संगीत रत्नाकर १।४।१।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उक्त क्रियाओं के द्वारा ही भिन्न-भिन्न नवीन स्वरान्तरालों का निर्माण होता है। क्रियागत उपयोग के लिये उसका निर्माण मध्यसप्तक में करना चाहिये। हम रागों के उदाहरण इस प्रसंग में देख सकते हैं। जैसे मारवा से कुछ देर तक "सा" को छोड़ दें तो 'रे' से 'रे' तक की स्वरावली मालकंश का आभास देगी, इसी प्रकार अन्य कई रागों को देखा जा सकता है। मूल राग की रक्षा के लिये उपर्युक्त कारण से षड्ज दिखाना आवश्यक होता था। यही कारण था कि भरत जैसे आचार्यों ने अपने निम्नोक्त कथन से यह संकेत किया है कि मध्यसप्तक में ही मूर्च्छना गेय होती है यथा—

मध्यमस्वरेण वीणेव मूर्च्छनानिर्देशः कार्यः अनाशित्वान्मध्यमस्य[1]

अर्थात् वीणा के मध्यम स्वर से मूर्च्छनाओं का निर्देश करना चाहिये क्योंकि मध्यम अविनाशी है। भरत का म से तात्पर्य वीणा पर षड्जग्रामिक म से है जो आधुनिक सप्तक का षड्ज है। वीणा का यही पर्दा ऐसा है जहाँ से तार पर मन्द्र-मध्य तार इन तीनों ही स्थानों की सिद्धि एवं मूर्च्छना प्रयोग हो सकता है।

षड्ज एवं मध्यम ग्राम की मूर्च्छनाओं का नाम तथा आरंभ स्वर भरत के निम्नोक्त कथन से प्राप्त होता है। परवर्त्ती आचार्यों ने इन्हीं नामों का प्रयोग किया है।

आद्या ह्युत्तरमन्द्रा स्याद् रजनी चोत्तरायता।
चतुर्थी शुद्धषड्जा तु पंचमी मत्सरी कृता॥
अश्वक्रान्ता तु षष्ठी स्यात सप्तमी चाभिरुद्गता।
षड्जग्रामाश्रिता ह्येते विज्ञेयाः सप्त मूर्च्छनाः॥

तत्र षड्जग्रामे षड्जेनोत्तरमन्द्रा निषादेन रजनी धैवतेनोत्तरायता पंचमेन शुद्धषड्जा मध्यमेन मत्सरीकृता गांधारेणाश्वक्रान्ता ऋषभेणाभरुद्गता इति॥

सौवीरी हरिणाश्वा च स्यात् कलोपनता तथा।
चतुर्थी शुद्धमध्या तु मार्गवी पौरवी तथा······॥

अथ मध्यम ग्रामे मध्यमेन सौवीरी गंधारेण हरिणाश्वा·········।

१—ना० शा० २८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस प्रकार दो ग्रामों की १४ मूर्च्छनाएँ होती हैं। भरत ने गंधार ग्राम का उल्लेख ही नहीं किया है। परवर्त्ती ग्रन्थों व कुछ जैन ग्रन्थों में तृतीय ग्राम की मूर्च्छनाओं का भी उल्लेख किया गया है। इसी से २१ मूर्च्छना व तीन ग्राम की कथा अभी भी चली आ रही है। भरत ने मूर्च्छना क्रम अवरोही ही रखा है इसका विशेष हेतु था।

भरत ने दोनों ग्रामों का मूर्च्छना क्रम म से आरंभ करने के लिये इसलिये कहा है कि इसमें जिस भी स्वरावली को आधार मानकर मूर्च्छना बनाएँगे वह स्वरावलि स्वयं भी उन सात मूर्च्छनाओं में से एक स्थान पायेगी, अर्थात् ग्राम से बनी मूर्च्छना में स्वयं ग्राम भी आ जायेगा एवं दोनों ग्रामों की सात-सात मूर्च्छनाओं के ठीक बीचो-बीच उन ग्रामों की मूल स्वरावलि आयेगी।

दो ग्रामों की १४ मूर्च्छनाओं में प्रत्येक के चार भेद बनाकर ५६ भेद बनाये गये हैं।

षाडवोडुवितसंज्ञिताः पूर्णाः साधारणीकृताश्चेति चतुर्विधाश्चतुर्दशमूर्च्छनाः[1]

अर्थात् मूर्च्छना चार प्रकार की है :—

(१) पूर्णा—जिसमें सातो स्वर हों, (२) षाडवीवृता—जिसमें ६ स्वर हों, (३) ओडवीकृता—जिसमें ५ स्वर हों, (४) साधारणीकृता—स्वर साधारण का प्रयोग हो। स्वर साधारण से तात्पर्य अन्तर काकली स्वरों से है।

साधारणीकृताश्चैव काकलीसमलंकृताः।
अन्तरस्वरसंयुक्ता मूर्च्छना ग्रामयोर्द्वयोः।[2]

यानि दोनों ग्रामों में साधारणीकृता मूर्च्छना अन्तर और काकलीनी से युक्त होती है। अन्तर काकली स्वर के लिये स्वर साधारण संज्ञा क्यों कहा इस विषय पर भरत की व्याख्या इस प्रकार है:—

साधारणं नामान्तरस्वरता······न मध्यमः।[3]

अर्थात्-अन्तर स्वरता को साधारण कहते हैं क्योंकि अन्तर स्वर स्वरों के मध्य में स्थित होने के कारण 'उभयसाधारण' होता है। दो

१—ना० शा० २८।
२—ना० शा० २८।
३—ना० शा० २८।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

ऋतुओं के संधिकाल अवस्था से तुलना की है, काल साधारण सदृश ही स्वर साधारण भी समझना चाहिये। नि सा के मध्य तथा ग म के मध्य स्वर साधारण काकलीनी व अन्तर ग की प्राप्ति होती है। दो श्रुति उत्कर्ष से काकलीनी मिलता है, यहाँ अंतर स्वर होने के कारण 'नी'व'सा' दोनों ही से उसका साधारणत्व रहता है। इसी प्रकार 'ग' को भी समझना चाहिये। चतुःश्रुतिक अन्तरालो के मध्य स्थित उक्त दो स्वर ही आज के हमारे शुद्ध ' ग नी' हैं।

षड्ज ग्राम की मूर्च्छनाएं—

भरत द्वारा बताये गये षड्जग्राम के मूर्च्छनाक्रम में जो चौथी मूर्च्छना है वह ' शुद्धषाड्जी है। इसके लिये 'पंचमेन शुद्धषाड्जी' कहा गया है जो कि इस बात का संकेत देता है कि इस मूर्च्छना का प्रारंभ षड्जग्राम का मूल स्थान या शुद्ध सा होना चाहिये। किन्तु इसके सर्वदा विपरीत यह भी देखने में आता है कि 'शुद्धषाड्जी 'मूर्च्छना का स्थान इसके क्रम में चौथा है। इसकी संगति कैसे हो? दूसरी ओर प्रथम मूर्च्छना 'उत्तर मन्द्रा' का आरंभक ' सा' कौन सा है यह भी निश्चित करना होगा। इसकी संगति भरत के मूर्च्छनाक्रम के सूक्ष्मावलोकन से मिल जायेगी। शुद्धशाड्जी का ठीक स्थान तभी मिल पायेगा जब प्रथम मूर्च्छना का प्रारंभिक स्थान षड्जग्रामिक 'सा' नहीं वरन् 'म' को मानेंगे। ऐसा करने से अवरोही क्रम में चौथी मूर्च्छना मूल षड्ज पर मिलेगी। इसी 'म' को जब 'सा' मानते हैं तब शुद्ध षाड्जी का आरंभक स्थान 'सानिधप' इस क्रम में चौथा बनता है एवं भरत का 'पंचमेन शुद्ध षाड्जी' वचन भी सार्थक होता है। ष० ग्रा० के 'म' को 'सा' कहने का कारण यह था कि संगीत के व्यावहारिक पक्ष में भरत ने उस 'म' को ही स्वरित माना था। इसी से उसे अविनाशी एवं प्रवर कहा गया है। उसका महत्व इससे भी और स्पष्ट होता है कि जातियों के औडुवादि प्रकारों में सा-प का लोप संभव दिखाया है परन्तु 'म' को अविलोपी ही कहा गया है। इससे 'म' का स्वरित होना सिद्ध है। इसी स्पष्टता के हेतु प्रथम मूर्च्छना का आरंभ स्थान यानी षड्जग्रामिक 'म' को 'म' न कहकर 'सा' कहा है। इसे सा कहते ही षड्जग्राम का मूल प्रारंभिक स्वर 'प' बन जाता है। इसी से उस स्थान से बनने वाली मूर्च्छना

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

को शुद्ध षाड्जी संज्ञा दी है, ताकि षड्जग्राम का मौलिक आरंभ का स्थान ओझल न हो जाये। दूसरी बात यह भी है कि ष० ग्रा० का 'म' ही स्वरित बनता है जिसकी स्पष्टता के लिये ही प्रथम मूर्च्छना के आरंभ स्थान को 'म' न कह कर 'षड्जेन उत्तरमन्द्रा' कहा गया है। इस प्रकार यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि ष० ग्रा० के 'म' को 'सा' मानने से जो 'प' आयगा, वही शुद्ध षाड्जी का प्रारंभ स्थान होगा, एवं 'म' को 'सा' मानकर बनने वाला मूर्च्छना उत्तर-मन्द्रा होगी। जब इसी क्रम से अन्य मूर्च्छनाओं को भी देख सकते हैं। सातों मूर्च्छनाओं से जो स्वर रूप मिलते हैं वे आधुनिक किन किन रागों से साम्य रखते हैं ?

षड्जग्रामिक स्वर—	म प ध नि सा रे ग म
उत्तर मन्द्रा—म को सा मानने	सा रे ग म प ध नी सा
से बनी मूर्च्छना	४ ४ ३ २ ४ ३ २ ४

यह स्वरूप हमारे समाज सा मालूम होता है।

षड्जग्रामिक स्वर—ग म प ध नि सा रे ग

	+ +	
रजनी ग को सा—	सा रे ग म् प ध ऩि सा	कल्याण
	२ ४ ४ ३ २ ४ ३ २	सदृश
षड्जग्रामिक रे	रे ग म प ध नि सा रे	भैरवी
से प्रारंभ उत्तरायता	सा रे॒ ग म प ध॒ नी॒ सा	सदृश
	३ ३ ४ ४ ३ २ ४ ३	
षड्जग्रामिक सा	सा रे ग म प ध नि सा	(षड्जग्रामिक
	+	
से शुद्ध षाड्जी	सा रे ग म प ध नि सा	मूल स्वर)
	४ ३ २ ४ ४ ३ २ ४	काफी सदृश
	+	
षड्जाग्रामिक नी	नि सा रे ग म प ध नि	बिलावल
से मत्सरी कृता	सा रे ग म प ध नि सा	सदृश
	२ ४ ३ २ ४ ४ ३ २	
षड्जग्रामिक ध	ध नि सा रे ग म प ध	प वर्ज्य दो म
	+	
से अश्वक्रान्ता	सा रे॒ ग॒ म म् ध॒ नी॒ सा	की भैरवी या
	३ २ ४ ३ २ ४ ४ २	बहादुरी तोड़ी
		के समान

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

षड्जग्रामिक प	प	ध	नि	सा	रे	ग	म	प	आसावरी
		+				+	+		
से अभिरुद्गता	सा	रे	ग्	म	प	ध्	नी्	सा	सदृश
	४	३	२	४	३	२	४	४	इस मूर्च्छना में

सा प संवाद भंग होता है क्योंकि १३ श्रुत्यन्तर के स्थान पर १२ ही है और यही मध्यमग्राम का प्रारंभ स्थान है।

चिन्हित स्वरान्तराल कुछ ऐसे हैं जिन्हे उसी रूप में मध्यम सप्तक में नहीं लाया जा सकता उसके लिये वीणा के पर्दों की संवादमय स्थिति रखने की सीमा के भीतर ही उसका प्रयोग होना चाहिये।

मध्यम ग्रामिक मूर्च्छना—

षड्जग्राम की भाँति मध्यमग्राम की भी सात मूर्च्छनाएँ भरत ने बताई हैं। मध्यम ग्राम के मूर्च्छना क्रम में सौवीरी प्रथम है। जिसके लिये भरत का कथन है कि मध्यम ही उसका आरंभक स्थान है। प्राय: लोग उस कथन से यह तात्पर्य निकालते हैं कि षड्जग्राम के 'म' से प्रारंभ की मूर्च्छना सौवीरी होगी, किन्तु यह नितान्त भ्रामक धारणा है। ष० ग्रा० का 'प' ही ऐसा स्थान है जहाँ म० ग्रा० 'सा म' अथवा 'रे प' संवाद मिलता है। अत: उसे 'सा' मानकर प्राप्त स्वरावली को आधार बनाना होगा। इसी के 'म' से प्रारंभ की गयी मूर्च्छना सौवीरी होगी जिसे भरत 'मध्यमेन सौवीरी' के रूप में निदर्शित करते हैं। इन तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि जिस प्रकार ष० ग्रा० की प्रारंभिक मूर्च्छना उस ग्राम के मूल स्थान से न होकर 'म' से होती है, उसी प्रकार 'म' ग्राम की भी। एक बात पुन: द्रष्टव्य है कि भरत ने म० ग्रा० के 'म' को 'म' ही कहा, 'सा' नहीं क्यों कि इस 'म' को स्वरित स्थान नहीं प्राप्त है। म० ग्रा० की मूर्च्छना-क्रम में चौथी शुद्ध मध्यमा है। यह नाम शुद्ध षाड्जी ही की भाँति सार्थक भी है, जो कि स्पष्ट ही है।

दोनों ग्रामों की मूर्च्छना-क्रम का आरंभ 'म' होने के पीछे भरत का विशेष ध्येय था। किसी भी स्वरावली को आधार मानकर बनाई गई मूर्च्छनाओं में एक स्थान स्वयं आधारभूत स्वरावली को भी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मिलेगा ही। अर्थात् ग्रामों के आधार पर बनी मूर्च्छनाओं में एक स्थान स्वयं उस ग्राम का भी होगा ही। भरत ने दोनों ग्रामों की मूल स्वरावली को उस-उस ग्राम की सात-सात मूर्च्छनाओं के ठीक मध्य स्थान में स्थित किया है। इसका दूसरा हेतु प्रयोगगत सुविधा भी मानी जा सकती है। दोनों ग्रामों के मूर्च्छनाक्रम का आरंभ 'म' होने के कारण ही अवरोही क्रम रखा गया है। तभी मूल स्वरावली चौथी मूर्च्छना पर आ पायेगी। मध्यम ग्राम की निम्नोक्त सात मूर्च्छनाओं का क्रम व स्वरूप इस प्रकार है :—

सौवीरी—म० ग्रा० स्वर	म प ध नि सा रे ग म	खमाज के
	×	
'म' को 'सा'	सा रे ग म प ध नी सा	समान
मानकर	४ ३ ४ २ ४ ३ २ ४	
म० ग्रा० के 'ग' को	ग म प ध नि सा रे ग	
	+	
'सा' मानकर	सा रे ग म् प ध नि सा	कल्याण
हरिणाश्वा	२ ४ ३ ४ २ ४ ३ २	सदृश
म० ग्रा० के 'रे' से	रे ग म प ध नि सा रे	
प्राप्त कलोपनता	सा रे॒ ग॒ म प ध॒ नी॒ सा	भैरवी
	३ २ ४ ३ ४ २ ४ ३	सदृश
म० ग्रा० के 'सा' से	सा रे ग म प ध नि सा	म० ग्रा० की
	+	
शुद्ध मध्यमा	सा रे ग॒ म प ध नी॒ सा	मौलिक श्रुति
	४ ३ २ ४ ३ ४ २ ४	व्यवस्था काफी
		सदृश
म० ग्रा० के 'नी'	नि सा रे ग म प ध नि	
की मूर्च्छना	सा रे ग म प ध नि सा	विलावल
मार्गी	२ ४ ३ २ ४ ३ ४ २	सदृश
म० ग्रा० के ध से	ध नि सा रे ग म प ध	कार्य म युक्त
पौरवी	सा रे॒ ग॒ म म् ध॒ नी॒ सा	बहादुरी तोड़ी
	४ २ ४ ३ २ ४ ३ ४	सदृश
म० ग्रा० के प से	प ध नि सा रे ग म प	
	+	
हृष्यका	सा रे ग॒ म प ध॒ नी॒ सा	आसावरी
	३ ४ २ ४ ३ २ ४ ३	सदृश

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चिन्हित स्वरों के अन्तराल उसी रूप में मध्य सप्तक में नहीं लाये जा सकते। यहाँ भी हम देखते हैं कि 'प' की मूर्च्छना में 'सा–म' संवाद उसी प्रकार भंग होता है जैसे ष० ग्रा० के 'प' की मूर्च्छना में 'सा-प' संवाद म० ग्रा० में यह संवाद 'सा-म' में १० श्रुत्यन्तर के कारण भंग होता। अतः दोनों ग्रामों में 'प' ही उन ग्रामों की मूल स्वरावली को भंग करता है। दोनों ग्रामों की मूर्च्छनाओं में स्थूल सादृश्य के साथ सूक्ष्म भेद भी है जो अन्तराल एक में विवादी है वे ही दूसरे ग्राम में संवादी हैं, ग्रामों को संगीत में इस दृष्टि से जीवित देखा जा सकता है कि उनमें आज के रागों के कुछ संवाद सिद्ध अन्तराल निहित है। इस प्रकार ग्राम-रचना विद्वानों की वैज्ञानिकता का प्रतीक मानी जा सकती है।

मूर्च्छना तान—भरत ने मूर्च्छना तानों के ८४ प्रकार बताये हैं। ४६ षाडव ३५ औडव ताने बताई है। षाडव तानें ७ प्रकार का बताई हैं। रे, नि, से रहित चार तान ष० ग्रा० की सा, रे, ग से रहित, तीन तान मध्यम ग्राम की ये सात षाडव प्रकार की तानें हैं। इन सात प्रकारों का षाडव मूर्च्छनाओं में प्रयोग करने से ४६ ताने बनती है। पाँच स्वरों की ५ प्रकार की तानें होती है यथा-सा प रहित, ग नि रहित-ऐसे तीन प्रकार ष० ग्राम० में तथा सा ध रहित, नी ग रहित, दो मध्यम ग्राम में। उक्त पाँच प्रकारों का पाँच स्वर युक्त सभी मूर्च्छनाओं में प्रयोग करने से ३५ तानें बनेगी इसमें २१ ष० ग्रा० की १४ म० ग्रा० की कुल मिलाकर ८४ ताने होती हैं।

तत्र मूर्च्छनांतानाश्चतुरशीतिर्भवन्ति ॥
एवमेते एकत्र गम्यमानश्चतुरशीतिर्भवन्ति ॥[1]

जाति—भरत के काल में जिस प्रकार के गीत प्रयोग नाट्य के अन्तर्गत प्रचलित होंगे अथवा गायन क्रिया जो व्यवहार में होगी। संभवतः भरत ने उन सभी का विभाजन नाट्य शास्त्र में 'जाति' के अन्तर्गत किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि भारत व अन्य देशों में जो विशेष स्वर समूह प्रचार में होंगे उनको शास्त्रीय रूप से एक स्थान पर नियमबद्ध करने के लिये भरत ने जातियों का विवेचन किया है।

१—ना० शा० । २८पृ० ३२०

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भरत ने जाति की व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या कहीं भी नहीं दी है। परवर्ती ग्रन्थकार मतंग का कथन ही इस पर कुछ प्रकाश डालने के लिये देखा जा सकता है।

श्रुतिगृहस्वरादिसमूहाज्जायन्त इति जातयः[1]

अर्थात् श्रुति-ग्रहस्वरादि के समूह से उत्पन्न 'जाति' होती है।

अथवा—यस्माज्जायते रसप्रतीतिरारभ्यते इति जातयः' अर्थात् जिससे रस की अभिव्यक्ति, अनुरति होती है वह जाति है।

अथवा—'जातस्य इति जातयः,' जिस प्रकार मनुष्यों में ब्राह्मणादि जाति होती है।

जाति का यों तो सामान्य अर्थ समष्टि है। जाति में वर्ग का महत्व होता है, जो जाति को व्यक्त करता है। उपर्युक्त परिभाषाओं से यह तो भली भांति समझा जा सकता है कि कोई विशिष्ट स्वर समूह ही जाति के द्योतक बन सकते हैं। भरत ने जाति की व्याख्या न करके उसके लक्षण बताये जोकि जाति के दस लक्षण कहे गये हैं। सप्तक के जिस स्वर समूह में दस लक्षण लगेंगे वे ही जाति कहलायेंगे। इसके विपरीत केवल मूर्च्छना की भांति मात्र सप्त स्वर जाति नहीं बन सकते, जब उसमें कुछ नियमबद्धता की जायगी तभी वह स्वर समूह 'जाति' बनेगा। सामान्य दृष्टिकोण से देखें तो यह कहना अनुचित न होगा कि एक स्वर समूह में कोई एकता (unity) का तत्व रहने पर उस समूह की व्यक्ति को एक जाति के अन्तर्गत रख सकते हैं।

भरत ने अपने ग्रन्थ में जाति के दस लक्षणों का निरूपण इस प्रकार किया है—

"ग्रहांशौ तारमन्द्रौ च न्यासोऽपन्यास एव च,
अल्पत्वं च बहुत्वं च षाडवौडुविते तथा॥[2]

अर्थात् ग्रह, अंश, न्यास, अपन्यास, अल्पत्व, बहुत्व, षाडवत्व एवं औडुवत्व ये दस लक्षण हैं। जिनको जाति के निर्माण में प्रमुख तत्व माना गया है। अर्थात् लक्षणों से युक्त स्वर समूह जाति कहलाता है

१—वृहद्देशी पृ० ५५।
२—ना० शा० २८।८०।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

जो रस प्रतीति में समर्थ होता है। भरत ने इन लक्षणों की व्याख्या भी इसी अध्याय में की है।

> ग्रहस्तु सर्वजातीनामंश एव प्रकीर्त्तितः,
> यत्प्रवृत्तं भवेद्गानं सोंऽशो ग्रहविकल्पितः।[1]

जातियों का अंश स्वर ग्रह कहलाता है। जिस स्वर से गायन प्रवृति आरंभ होती है उसे ही कभी कभी ग्रह भी कहते है। एवं कभी-कभी विकल्प से अंश भी। जहाँ से जातियों का प्रयोग आरंभ करते हैं, वह ग्रह स्वर कहलाता है।

दूसरे लक्षण के विषय में नाट्य शास्त्र में कुछ विशद वर्णन मिलता है। भरत ने इस 'अंश' स्वर के भी १० लक्षण बताये हैं:—

यस्मिन्वसति रागस्तु यस्माच्चैव प्रवर्त्तते, येन वै तारमंद्राणां योऽत्यर्थमुपलभ्यते। मृदूच्चतारविषया पंचस्वरपरा गतिः। अनेक-स्वरसंयोगो योऽत्यर्थमुपलभ्यते ॥

अन्यच्च बलिनो यस्य संवादी चानुवाद्यपि ॥ ग्रहोपन्यासविन्यास-सन्यासाभ्यासगोचरः। परिवार्य स्थितो यस्तु सोंऽशःस्यादशलक्षणः ॥[2]

१ अर्थात् जिस स्वर में राग या रंजकत्व रहता है अर्थात् जाति का रंजक स्वरूप जिस स्वर पर आधारित रहता है। २-राग, रंग, रस की जिस स्वर से उत्पत्ति हो। ३-४ मन्द्रतार सप्तक में जिसकी पाँच-पाँच स्वर तक ऊपर नीचे गति हो। ५-जो स्वर अन्य स्वरों से घिरा या आवृत हो। ६-जिस स्वर के संवादी व अनुवादी स्वर भी पर्याप्त बलवान हो। ७-१०-ग्रह, न्यास, उपन्यास व विन्यास का बारंबार गायन करते समय जो स्वर लगातार दिखता रहे-उक्त दस लक्षणों से युक्त स्वर अंश स्वर कहलाता है। अंश स्वर के लिये 'ग्रहविकल्पित' संज्ञा महत्वपूर्ण है। 'अंश' का प्रयोग भिन्न २ प्रकरणों में देखा जा सकता है।

"अंश" स्वर का उल्लेख वादी, संवादी, विवादी तथा अनुवादी स्वरान्तरालों के प्रकरण में किया गया है। उक्त संज्ञाएँ स्वरों के

१—ना० शा० २८।८०।

२—ना० शा० २८।७२-७४

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अन्तराल की द्योतक है। इन स्वरान्तराल संबंधों के लिये दो स्वरों की जोड़ियाँ होना आवश्यक है। इसी जोड़ी का प्रथम स्वर जिसे आधार मानकर दूसरे स्वर का संवाद विवाद या अनुवाद जाँचा जाये वह वादी होगा। भरत का कथन इस विषय में इस प्रकार प्राप्त होता है—"यो यत्र अंशः स तस्य (तत्र ?) वादी"[1]

जाति के दस लक्षणों के अन्तर्गत 'अंश' का उल्लेख देखा ही जा चुका है। इसके अतिरिक्त अलंकार प्रकरण में भी 'अंश' का उल्लेख मिलता है। अलंकारों के प्रत्येक टुकड़े का आरंभक स्वर 'अंश' कहलाता है। उदाहरण के लिये—भरत ने 'अंश' का जाति-प्रकरण में तीन प्रकार का उपयोग बताया है। प्रथम, 'ग्रहविकल्पित' कहकर उसे जाति के प्रारंभ स्थान में रखा। द्वितीय, 'यस्मिन्वसति रागस्तु' आदि दस लक्षणों के द्वारा जाति के प्राण स्वर को अंश कहा। तृतीय अंश ही न्यास भी कहा गया। यथा 'अथ न्यासः। अंशसमाप्तौ स चैकविंशतिविधः'।[2]

३-४ तारमंद्र

तार, मंद्र स्थानों का उल्लेख अंश के दस लक्षणों के अन्तर्गत किया गया है। जिससे यह प्रतीत होता हैं कि जातिगान मध्य स्थान ही नहीं, मंद्र एवं तार सप्तकों के स्वरों में भी विहित था। भरत उक्त स्वरों की व्याख्या इस प्रकार करते हैं :—

'अथ पंच स्वराः कण्ठ्यांशात् तारगतिः।

अंशातारगतिं विद्यादाचतुर्थस्वरादिह पंचमं त्वथवा गच्छेत्ततोऽऽ-शविहितं त्विह। आपंचमात्पञ्चमाद्वा (सप्तमाद्वा) नातः परमिहेष्यते ॥[3]
त्रिविधा मंद्रगतिः—अंशपरा न्यासपरा चेति अपन्यासपरा चेति वा ॥

उक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि जाति गान में तीन प्रकार की तार व तीन प्रकार की मंद्र गति होती थी। ये तीन प्रकार ऐसे थे। यथा—अंश (न्यास अपन्यास) स्वर से चौथे, पाँचवें एवं सातवें स्वर तक तार की गति होती है एवं इसी प्रकार न्यास, अपन्यास, अंश

१—ना० शा० २८।

२—ना० शा० २८।

३—ना० शा० २८।९२-३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्वर से नीचे भी। भरत ने इस स्थल पर अंश, न्यास व अपन्यास से ऊपर चढ़ने को तार, व नीचे आने को मंद्र कहा है। इन्हें यहाँ त्रिस्थान द्योतक नहीं समझना चाहिये।

राग गायन में आज भी इस प्रकार की मर्यादा हमीर, कल्याण, दरबारी, सोहिनी आदि अनेक रागों में देखा जा सकता है। जिस प्रकार आधुनिक राग गायन में यह मर्यादा देखी जाती है संभवतः वही प्राचीन जाति गायन में भी बरती जाती थी जिसका संकेत भरत के वचनों से पुष्ट हो जाता है।

५—६ न्यास-अपन्यास—

इसकी परिभाषा तो उसकी संज्ञा ही भली भाँति स्पष्ट कर देती है। न्यास जहाँ गान समाप्त होता है अथवा जहाँ जाति गायन के मध्य बीच-बीच में विश्राम जिस स्वर पर करें वही न्यास अपन्यास है।[1]

७-८ अल्पत्व-बहुत्व—

भरत ने इनकी व्याख्या २८ वें अध्याय में दी है।[2] यथा—

अल्पत्व दो प्रकार से किया जाता है। एक लंघन अथवा छोड़ देने से, दूसरा अनभ्यास या आवृत्ति न करने से। आज गायन की षाडव-औडुवित क्रिया में जिन स्वरों का लंघन या अनभ्यास द्वारा कम उच्चार होता है अथवा अभ्यास व अलंघन द्वारा बार-बार उच्चार होता है वे अल्पत्व व बहुत्व का द्योतक है।

अल्पत्व बहुत्व का प्रयोग आधुनिक रागों में भी देखा जा सकता है यथा—केदार में ग का अल्पत्व बिहाग में रे ध का यथा कल्याण में ग का बहुत्व जब कि इसके अंश ग्रहादि स्वर ग नहीं है।

९—१० षाडवत्व औडुवत्व—भरत इस प्रकार व्याख्या करता है-

पंचमस्वरमौडवितं विज्ञेयं दशविधं प्रयोगज्ञैः।
षट्स्वरस्य प्रयोगोऽयं तथा पंचस्वरस्य च।
चतुःस्वरप्रयोगोऽपि देशापेक्षः प्रयुज्यते॥[3]

१—ना० शा० २८।९६।

२—ना० शा० २८।९०-९१

३—२८।९५।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सप्तक के सात स्वरों में से एक निकाल देने से षाडव एवं दो निकालने से औडुव प्रकार बनते हैं। कहीं-कहीं चार स्वरों का भी प्रयोग प्रचलित है। इन चार स्वर वाले वर्ग को आधुनिक रागों में देखा जा सकता है—जैसे मालश्री, धवलश्री आदि।

जाति के यही दस लक्षण बाद में 'रागलक्षण' में भी स्थान पागए। शार्ङ्गदेव के समय में 'सन्यास' विन्यास' तथा 'अन्तरमार्ग' ये तीन लक्षण बढ़ाकर जाति—लक्षण की संख्या १३ बना दी गई थी। मध्ययुग में जाकर 'ग्रह—अंश—न्यासादि' के स्थान पर 'वादी-संवादी' आदि को 'रागलक्षण' में स्थान मिल गया।

जाति के शुद्ध एवं विकृत दो भेद—

भरत ने जातियों का शास्त्रीय रूप से प्रथम बार विवेचन किया है। जाति गायन प्रचार में था इसका उल्लेख रामायण में 'जातिगान' के रूप में देखा जा चुका है।[1] भरत ने जातियों के दो भेद—शुद्धा एवं विकृता किये हैं। ये भेद जैसा इनकी संज्ञा से स्पष्ट है, जातियों की अवस्था के संकेतक हैं। जाति सदा किसी न किसी स्वर सप्तक ही को लेकर चलती है। इसलिये जाति का मूर्च्छना से घनिष्ठ संबंध है। यों तो जाति के दस लक्षणों को यदि दोनों ग्रामों की चौदहो मूर्च्छनाओं में लगा दें तो वे जातियाँ बन जायेंगी। किन्तु भरत ने ७ ही शुद्धा जातियाँ दोनों ग्रामों में लीं। इसके पीछे भरत का क्या उद्देश्य था यह स्पष्ट ही है। दोनों ग्रामों की स्वर व्यवस्था में मात्र यही अन्तर है कि षड्जग्राम में म-प अन्तर चतुश्रुतिक तथा प ध त्रिश्रुतिक है। मध्यम ग्राम म-प अन्तर त्रिश्रुतिक प-ध चतुःश्रुतिक है। वीणा पर दोनों ग्रामों की मूर्च्छनाओं को साधा जाये, तो परस्पर बहुत साम्य मिलता है। कुछ सूक्ष्म श्रुति भेद ही मिलेंगे। स्वर सप्तकों की स्थूल रूप से या सूक्ष्म किसी प्रकार पुनरावृत्ति न हो यही कारण था भरत ने शुद्ध जातियों दोनों ग्रामों में केवल सात ही मानीं। शुद्धा जातियों के नाम स्वरों पर रखे गये हैं तथा-षाड्जी आर्षभी, गांधारी, मध्यमी, पंचमी, धैवती एवं निषादवती। इन शुद्धा जातियों का आधार क्या हो, इस पर भी भरत का कथन प्रकाश डालता है।

१—देखिये पृष्ट (६८)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१—अन्यूनस्वराः—आरोह-अवरोह पूर्ण हो।[1]

२—नामस्वरांशग्रहन्यासाः—जिस स्वर से जिस जाति का नाम हो, वही उसका ग्रह, अंश, न्यास भी हो जैसे षड्जग्राम की षाड्जी जाति का आरंभ सा से है इसलिये सा ही ग्रह अंश न्यास होना चाहिये। ये आधार रूप लक्षण दोनों ग्रामों की जातियों पर लागू होते हैं।

३—शुद्धा जातियों का न्यास सदा मंद्र में होना चाहिये। यथा—"न्यासविधावप्यासां मंद्रो नियमात् भवति शुद्धासु।' मंद्र से भरत का तात्पर्य मंद्र सप्तक से न होकर मंद्र सप्तक जिस स्वर पर पूर्ण होता है यानि मध्य सा से था। आज भी गायन वादन में अधिकांश रागों में इसी मध्य सा पर पूर्ण न्यास करते हैं। यही नियम संभवतः भरत के जाति गायन में भी बरता जाता होगा।

इस प्रकार भरत ने ७ शुद्धा जातियां एवं उसके आधार रूप लक्षण बताए हैं। षाड्जी, आर्षभी, धैवती, निषादवती षड्ज ग्रामकी तथा गांधारी, मध्यमा, पंचमी मध्यम ग्राम की है।[2]

विकृत जातियाँ—

उसके विषय में भरत का यह कथन है कि शुद्धा जातियों के लक्षणों में से एक या दो अथवा इससे अधिक लक्षणों को विकृत बना करके जातियों की उत्पत्ति की जाती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि दो प्रकार से विकृता जातियां बनेगी यथा-पूर्णत्व का नियम भंग करके, अर्थात् औडव, षाड्वादि भेद करके, दूसरा जिस स्वर से नाम हो उसी को ग्रह अंश अपन्यास मानने के नियम को भंग करते। 'न्यास' का नियम भंग नहीं किया जा सकता।

एभ्योऽन्यतमेन द्वाभ्यां बहुभिर्वा लक्षणैर्विक्रियामुपगता
न्यासवर्ज्यं विकृतसंज्ञा भवन्ति॥[3]

१—अ० २८-४३ पृ० ३२१।

२—ना० शा० २८।४३ पृ० ३२२।

३—वही।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सप्तक के सात स्वरों में से एक निकाल देने से षाडव एवं दो निकालने से औडुव प्रकार बनते हैं। कहीं-कहीं चार स्वरों का भी प्रयोग प्रचलित है। इन चार स्वर वाले वर्ग को आधुनिक रागों में देखा जा सकता है—जैसे मालश्री, धवलश्री आदि।

जाति के यही दस लक्षण बाद में 'रागलक्षण' में भी स्थान पागए। शार्ङ्गदेव के समय में 'सन्यास' विन्यास' तथा 'अन्तरमार्ग' ये तीन लक्षण बढ़ाकर जाति—लक्षण की संख्या १३ बना दी गई थी। मध्ययुग में जाकर 'ग्रह—अंश—न्यासादि' के स्थान पर 'वादी-संवादी' आदि को 'रागलक्षण' में स्थान मिल गया।

जाति के शुद्ध एवं विकृत दो भेद—

भरत ने जातियों का शास्त्रीय रूप से प्रथम बार विवेचन किया है। जाति गायन प्रचार में था इसका उल्लेख रामायण में 'जातिगान' के रूप में देखा जा चुका है।[1] भरत ने जातियों के दो भेद—शुद्धा एवं विकृता किये हैं। ये भेद जैसा इनकी संज्ञा से स्पष्ट है, जातियों की अवस्था के संकेतक हैं। जाति सदा किसी न किसी स्वर सप्तक ही को लेकर चलती है। इसलिये जाति का मूर्च्छना से घनिष्ठ संबंध है। यों तो जाति के दस लक्षणों को यदि दोनों ग्रामों की चौदहो मूर्च्छनाओं में लगा दें तो वे जातियाँ बन जायेंगी। किन्तु भरत ने ७ ही शुद्धा जातियाँ दोनों ग्रामों में लीं। इसके पीछे भरत का क्या उद्देश्य था यह स्पष्ट ही है। दोनों ग्रामों की स्वर व्यवस्था में मात्र यही अन्तर है कि षड्जग्राम में म-प अन्तर चतुश्रुतिक तथा प ध त्रिश्रुतिक है। मध्यम ग्राम म-प अन्तर त्रिश्रुतिक प-ध चतुःश्रुतिक है। वीणा पर दोनों ग्रामों की मूर्च्छनाओं को साधा जाये, तो परस्पर वहुत साम्य मिलता है। कुछ सूक्ष्म श्रुति भेद ही मिलेंगे। स्वर सप्तकों की स्थूल रूप से या सूक्ष्म किसी प्रकार पुनरावृत्ति न हो यही कारण था भरत ने शुद्ध जातियों दोनों ग्रामों में केवल सात ही मानीं। शुद्धा जातियों के नाम स्वरों पर रखे गये हैं तथा-षाड्जी आर्षभी, गांधारी, मध्यमी, पंचमी, धैवती एवं निषादवती। इन शुद्धा जातियों का आधार क्या हो, इस पर भी भरत का कथन प्रकाश डालता है।

१—देखिये पृष्ठ (९८)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१—अन्यूनस्वरा:—आरोह-अवरोह पूर्ण हो।[1]

२—नामस्वरांशग्रहन्यासा:—जिस स्वर से जिस जाति का नाम हो, वही उसका ग्रह, अंश, न्यास भी हो जैसे षड्जग्राम की षाड्जी जाति का आरंभ सा से है इसलिये सा ही ग्रह अंश न्यास होना चाहिये। ये आधार रूप लक्षण दोनों ग्रामों की जातियों पर लागू होते हैं।

३—शुद्धा जातियों का न्यास सदा मंद्र में होना चाहिये। यथा—"न्यासविधावप्यासां मंद्रो नियमात् भवति शुद्धासु।' मंद्र से भरत का तात्पर्य मंद्र सप्तक से न होकर मंद्र सप्तक जिस स्वर पर पूर्ण होता है यानि मध्य सा से था। आज भी गायन वादन में अधिकांश रागों में इसी मध्य सा पर पूर्ण न्यास करते हैं। यही नियम संभवत: भरत के जाति गायन में भी बरता जाता होगा।

इस प्रकार भरत ने ७ शुद्धा जातियां एवं उसके आधार रूप लक्षण बताए हैं। षाड्जी, आर्षभी, धैवती, निषादवती षड्ज ग्रामकी तथा गांधारी, मध्यमा, पंचमी मध्यम ग्राम की है।[2]

विकृत जातियाँ—

उसके विषय में भरत का यह कथन है कि शुद्धा जातियों के लक्षणों में से एक या दो अथवा इससे अधिक लक्षणों को विकृत बना करके जातियों की उत्पत्ति की जाती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि दो प्रकार से विकृता जातियां बनेगी यथा-पूर्णत्व का नियम भंग करके, अर्थात् औडव, षाड्वादि भेद करके, दूसरा जिस स्वर से नाम हो उसी को ग्रह अंश अपन्यास मानने के नियम को भंग करते। 'न्यास' का नियम भंग नहीं किया जा सकता।

> एभ्योऽन्यतमेन द्वाभ्यां बहुभिर्वा लक्षणैर्विक्रियामुपगता
> न्यासवर्ज्यं विकृतसंज्ञा भवन्ति ॥[3]

१—अ० २८-४३ पृ० ३२१।

२—ना० शा० २८।४३ पृ० ३२२।

३—वही।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उक्त नियमों से कितने भेद बनेंगे यह भरत ने नहीं बताये हैं, इसके विषय में परवर्त्ती ग्रन्थकारों ने पर्याप्त लिखा है।[1]

शुद्धा विकृता भेद से संबंधित 'न्यास' स्वर की अपरिवर्त्तनशीलता पर भी संक्षिप्त विवेचन आवश्यक है। जहाँ एक ओर भरत ने 'न्यास-वर्ज्य' कहकर न्यास को अपरिवर्त्तनशील कहा, वहीं "न्यासविधा-वण्यासां' में उसकी परिवर्त्तनशीलता का भी संकेत मिलता है। इसे भरत के कथन में विरोधाभास समझना भ्रामक होगा। वास्तव में न्यास का भिन्न अर्थ भरत को यहाँ अभिप्रेत था। यथा—ठहराव या मुकाम। इस अर्थ में न्यास की परिवर्त्तनशीलता से उसमें निहित जाति के स्वरों का नियामकत्व किसी प्रकार नष्ट नहीं होता। नियामक न्यास तो अपरिवर्त्तित रहता है किन्तु ठहराव रूप में वह परिवर्त्तित हो सकता है। जहाँ वह अपरिवर्त्तनीय हो, वहाँ न्यासकत्व को प्राप्त अंश ही जाति का नियामक बनता है। शास्त्र सम्मत भी यही है कि जो प्राप्त अंश है, वही न्यास है—'अथन्यासः अंशसमाप्तौ स चैकविंशतिविधः'।[2]

ग्रह अंश बदलने के लिये क्षेत्र-निर्धारण-हेतु शुद्धा जातियों में एक से ज्यादा अंश (ग्रह) बताये हैं। यह ध्यान देने की बात है कि प्रत्येक जाति का न्यास जो अंश समाप्ति में प्रयुक्त हो वही न्यास है।

संसर्गजा विकृता जातियाँ—

उपर्युक्त प्रकारों के अतिरिक्त संसर्गजा विकृता नामक जातियों का भी उल्लेख भरत ने किया है। संसर्गजा विकृता जातियाँ भरत ने ग्यारह बताई हैं। इस प्रकार ११ संसर्गजा विकृता एवं ७ शुद्धा मिलाकर १८ जातियाँ बनती हैं। शुद्धा जातियों एवं उनके विकृत भेदों के अतिरिक्त ११ संसर्गजा विकृता जातियों के संबंध में भरत का कथन इस प्रकार है—'तत्रैकादश जातयोऽधिकृता······।[3]

भरतोल्लिखित 'पुनरेवाशुद्धकृता' अथवा 'समवायात् पुनरेवा-शुद्धकृता' से यह स्पष्ट होता है कि समवाय द्वारा या समूह रचना

१—द्रष्टव्य संगीत रत्नाकर १३।

२—ना० शा० २८।

३—२८।४३-४४।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

द्वारा जिन शुद्धा जातियों को अशुद्ध बनाया जाता है, वे ही अशुद्ध कृता जातियां समूह में होकर ११ बनती हैं। इससे यह बात तत्काल ही ध्यान में आ जाती है कि शुद्धा जातियों को ही जब निश्चित समूह रूप में प्रयोग किया जाय यानि एक से अधिक शुद्धा जातियों का स्वतंत्र-रूप से प्रयोग न करके समूह रचना की जाती है, तब उनकी शुद्ध अवस्था खण्डित हो जाती है। यह खण्डितावस्था पूर्वोक्त विकृतावस्था से नितांत भिन्न है। इसी से इसे विकृता न कहकर "पुनरेवाशुद्धकृता" कहा है।

ये संसर्गजा जातियाँ निम्नोक्त हैं—

प्रथम संसर्गजा विकृता जाति षड्ज मध्यमा है जो षड्ज ग्राम की है एवं षाड्जी व मध्यमा के संसर्ग से बनी है।

दूसरी षड्जोदीच्वा	षड्जग्राम की	षाड्जी	गांधारी	धैवती	के संसर्ग से
तीसरी षड्जकैशिकी	,,	,,	,,		
चौथी गांधारोदीच्वा	मध्य ग्राम	,,	,,	मध्यमा	
पाँचवीं मध्यमोदीत्वा	,,	गांधारी	पंचमी	धैवती	मध्यमा
छठी रक्तगांधारी	,,	,,	,,	नैषदी	,,
सातवीं आंध्री	,,	,,	षड्जा		
आठवीं नदयन्तो	,,	,,	पंचमी	आर्षभी	
नवीं गांधारपंचमी	मध्य ग्राम	गांधारी		पञ्चमी	
दसवीं कर्मारवी	,,	नैषादी		आर्षभी	पञ्चमी
ग्यारवीं कौशिकी	,,	षाड्जी		गांधारी	मध्यमा पञ्चमी नैषादी।[1]

आज के रागों में भी हम इस प्रकार के मिश्रण देख सकते हैं।

१८ जातियों के लक्षण—

भरत ने ६३ ग्रह अंश, २१ न्यास, ५६ अपन्यास तथा अल्पत्व बहुत्व बताये हैं।

भरत द्वारा बतायी गई अठारह जातियों, उनके ग्रह अंशादि की तालिका निम्नोक्त है:—

१—ना० शा० २८।४५-५२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जाति[1]	ग्राम	ग्रह	अंश	न्यास	अपन्यास	अल्पत्व बहुत्व	षाड्वऔडुव	वि.उ.[2]
१ षाड्जी	षड्ज	सा,म, ग,प,ध,		सा	ग,प	रे, नि का अल्पत्व सा,ग,सा,ध का संचार	नि वर्ज्य से षाडव नि प वर्ज्य से औड़व	+
२–आर्षभी	,,	रे,नी,ध		रे	रे,नि ध	नि का अल्पत्व	नी वर्ज्य षाड्व तथा नि प वर्ज्य औडव	+
३–गांधारी	मध्यम	सा,ग, म,प, नि		ग	सा,प	रे,ध का अल्पत्व	रे वर्ज्यसे षाडव रे धसे औडव	रे ध की संगति
४–मध्यमा	,,	सा,रे, म,प,ध		म	सा,रे,म, प ध	साम का बहुत्व तथा ग का अल्पत्व	गवर्ज्य से षाडव ग नि से औडव	
५–पंचमी	मध्यम	रे, प			प नि, प, रे	नि का अल्पत्व	ग लोप से षाडव गनिसे औडव	नि म की संगति
६–धैवती	षड्ज	रे, ध		ध	रे,ध,म	सा प का अल्पत्व आरोह में ध,रेकालंघन	सापरहित औडव	
७–नैषादी	,,	नि,रे,ग		नि	नि,रे,ग	सा-प का अल्पत्व	पलोपषाडव सापलोपऔड्व	
८–षड्ज-मध्यमा	,,	सातो स्वर		सा-म	सातो-स्वर	निका अल्पत्व	निलोप षाड्व ग नि से औड्व	सभी स्वरों का संचार

१—जाति–जाति नाम। २—वि. उ. विशेषोल्लेख।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जाति	ग्राम	ग्रह अंश	न्यास	अपन्यास	अल्पत्वबहुत्व	षाड्वऔड्व वि.उ.
९–षड्ज-कौशिकी	,,	सा,ग,प,		गसा,प नि	रे, ध का अल्पत्व	नित्यपूर्णा
१०-षड्जोदीच्यवा	,,	सा,म, नि,ध	म	ध,रे	ग का बहुत्व	रे लोप से षा० रेप से औड़व
११–कौशिकी	मध्यम	सा,ग, म, प ध, नि	ग नि कभी२ प भी जबध नि अंश होंगे	सापनि शायद रे भी	रे ध दुर्बल सभी स्वरों का संचार	नित्यपूर्णा
१२–कर्माखी	,,	प,रे,नि, ध	प	प,रे,नि,	धगका बाहुल्य	नित्यपूर्णा
१३–आन्ध्री	,,	प,रे,ग,नी	ग	प,रे,ग, नी	गरे तथा धनीसंगीत	सालोप से षाड़व
१४–रक्त-गंधारी	मध्यम	परेगमनी	ग	म	निधकाबहुत्व सा न का संचार	रे लोप से षाड़व रे धसेऔड़व+
१५–मध्यमोदीच्यवा	,,	प	म	सा ध	गकाबहुत्व	रेधरहित षाड़व
१६–गांधार-पंचमी	,,	प	ग	रे प	ग प द्वारा संचार	+
१७–गांधारी दीच्यवा	,,	सा म	म	सा ध	गकाबहुत्व	रे लोप से षाड़व
१८–नन्दयन्ती	,,	ग ग्रह प अंश	ग	म	रेगतथाधनि का संचार।[1]	सालोप से षाड़व

उक्त जातियों के ग्रह अंशादि के विशद उल्लेख को देखते हुए एक तथ्य तुरंत ही ध्यान में आता है वह यह कि म को कभी भी लुप्त करने का विधान नहीं मिलता। यह हमारे आज के सा को भाँति है

१—ना० शा० २८।४३-६८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हम भी रागों में सा का लोप कभी नहीं करते। प्राचीन काल का 'म' ही स्वरित स्थान था जहाँ से प्रयोगगत गायन होता था। अतः इसे भरत अविलोपी, अविनाशी कहते हैं, इसे सब स्वरों में प्रवर कहा है तथा गांधर्व एवं सामगान दोनों ही में स्वर प्रवर था।[१]

जातियों के रस—

भरत ने जातियों के रस का भी विवेचन नाट्य शास्त्र के उन्तीसवें अध्याय में किया है। भरत ने जातियों के रस निर्धारण हेतु निम्नोक्त आधारभूत सिद्धांतों का उल्लेख किया है।

सर्व प्रथम स्वरों के रस—निर्धारण कर दिये हैं। भिन्न-भिन्न स्वर बाहुल्य भिन्न २ रसों की अभिव्यक्ति में समर्थ है। यथा—

मध्यपंचमभूयिष्ठं हास्यश्रृंगारयोर्भवेत्।
षड्जर्षभप्रायकृतं वीररौद्राद्भुतेषु च॥
गांधारसप्तमप्रायं करुणं गानमिष्यते।
तथा धैवतभूयिष्ठं बीभत्से समयानके॥[२]

अर्थात् 'म प' का बाहुल्य हास्य श्रृंगार में, 'सा रे' का वीर, रौद्र एवं अद्भुत में, 'ग नि' का करुणा में, एवं 'ध' का बीभत्स—भयानक रस में कहा गया है।

जिस जाति में जो स्वर बलवान हो तब प्रयोक्ताओं को उसी स्वर के अनुरूप रस में गायन करना चाहिये यथा—

'यो यदा बलवान् यस्मिन् स्वरो जातिसमाश्रयात्।
तत्प्रयुक्तं रसे गानं कार्यं गेये प्रयोक्तृभिः॥[3]

उक्त आधार पर भरत ने १८ जातियों के रस इस प्रकार बताये हैं-

(१) षड्जोदीच्यवती, षड्जमध्यमा का रस 'म प' बाहुल्य के कारण हास्य श्रृंगार॥[४]

१—ना० शा० २८।६६।

२—ना० शा०० २६।१३-१४।

३—ना० शा० २६।१२।

४—ना० शा० २६।१।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आर्षभी तथा षाड्जी का 'सा रे' ग्रह स्वर होने के कारण वीर अद्भुत रस।[1]

षड्ज कौशिकी का करुण रस क्योंकि ग नि अंश स्वर।[2]
धैवती का बीभत्स–भयानक 'ध' अंश स्वर के कारण

नैषादी का करुण नि ग अंश के कारण। ऐसा ही गांधारी व रक्त गांधारी का भी।

मध्यमा, पंचमी, नन्दयन्ती का म प बाहुल्य से शृंगार हास्य,
मध्यमोदीच्यवा, गांधारोदीच्यवा का सा रे अंश स्वर के कारण
वीर—रौद्र—रस।
कर्मारवी एवं आंध्री नि अंश स्वर के कारण अद्भुत रस।
गांधारी पंचमी का बीभत्स भयानक 'ध' अंश स्वर के कारण।
कौशकी षड्ज मध्यमा का सर्वरस, क्योंकि सभी स्वर अंश।[3]

भरतोक्त जातियों का रस सिद्धान्त यथार्थ प्रतीत होता है। आज भी हमारे विभिन्न राग विभिन्न रसों एवं भावों के परिचायक देखे जा सकते हैं।

जाति साधारण—

जाति से संबद्ध एक अन्य विषय का भी भरत ने २८ वें अध्याय में उल्लेख किया है। यथा—द्वे साधारणे—स्वरसाधारणं जातिसाधारणं चेति। जातिसाधारणमेकग्रामांशानां जातीनां जात्योर्वा अन्यस्मिन् ग्रामे प्रत्यंगदर्शनं स्वराणामवगमात्॥[4]

अर्थात् 'साधारण' दो प्रकार के होते हैं। एक स्वरसाधारण दूसरे जातिसाधारण। एक ग्राम (षड्ज या मध्यम ग्राम) के अंशवाली दो या अधिक जातियों का दूसरे ग्राम (म० या षड्जग्राम) में स्वरों के अवगम से जो प्रत्यंग दर्शन होता है वह 'जाति साधारण' है।

१—२९।२।

२—२९-३।

३—२९।१-११।

४—ना० शा० २८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भरत ने जो जाति साधारण बताई है वे दोनों ग्रामों के परस्पर संबंध या उभय ग्राम पर आधारित है। किसी एक ग्राम की जाति का दूसरे ग्राम में दीखना या प्रत्यक्ष दर्शन ही जाति-साधारण है। दोनों ग्रामों का परस्पर संबंध पहले भी दिखाया जा चुका है। जहाँ यह बताया गया है कि षड्जग्राम की किस मूर्च्छना में मध्यम ग्राम अथवा मध्यम ग्रामकी किस मूर्च्छना में षड्ज ग्रामिक स्वर मिलते हैं ?[1]

जातियों में प्रयुक्त स्वर साधारण के विषय में भी भरत का कथन है कि स्वर साधारणों का प्रयोग केवल तीन ही जातियों मध्यमा, पंचमी व षड्जमध्या ही में होता है। इन जातियों के मुख्य अंग दिखाने वाले स्वर सा, म, और प हैं।[2] दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि अन्तर काकली स्वर साधारण का प्रयोग सभी जातियों में नहीं किया जाता। सप्त स्वरों में जिस प्रकार केवल 'ग—नी' का ही अन्तर काकली स्वर-साधारण होता है। उसी प्रकार जातियों में भी केवल तीन ही में उनका प्रयोग अपेक्षित है। संभवतः इन्हीं तीनों को इसलिये चुना कि इनके मुख्य स्वरों का अन्तर चार श्रुतियों का है और स्वर-साधारण इतने ही अन्तर में संभव भी है। भरत का इस संबंध में यह भी कथन है कि 'नि ग' के अल्पत्व वाली ही जातियों में अन्तर काकली का प्रयोग हो एवं 'स्वरसाधारणं अस्याल्पनिषादं गंधारासु जातिषु प्रयोगः।' अन्तरस्वरसंयोगो नित्यमारोहिसंश्रयः कार्यस्त्वल्पो विशेषेण नावरोही कदाचन ॥[3]

अर्थात् अन्तर, काकली प्रयोग सदा आरोह में हो, अवरोह में नहीं। यह ठीक भी नहीं है, क्योंकि आरोह ही में स्वरों के चढ़ने की प्रवृत्ति होती है, अवरोह में नहीं। दो नी ग वाले रागों में सर्वदा उतरते समय कोमल ग—नी लगते हैं, एवं चढ़ते समय शुद्ध या तीव्र ग—नी लगते हैं।

१—ना० शा० २८।पृ० ३२०

२—ना० शा० २८।३६-७

३—ना० शा० २८।३४

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भरत काल में राग—

भरत के ग्रन्थ में जातियों का जो विवरण मिलता है, उससे यह प्रतीत होता है कि आज जिस अर्थ में 'राग' भारतीय संगीत का आवश्यक तत्त्व है, उस विस्तृत अर्थ में तो निश्चित ही प्रचार में न था। 'राग' स्वर एवं भाव का ऐसा समन्वय है जो कि उसे विशिष्ट स्वरूप प्रदान करता है। राग भारतीय क्या विश्व संगीत का ही एक अद्वितीय तत्त्व है। पाश्चात्य 'मेलोडी' तो इसका बाह्य रूप ही माना जा सकता है। 'राग' के आज जो तत्त्व पाये जाते हैं, उनका कुछ अविकसित रूप भरत में जातियों के रूप में मिलता है। जातियों के जो लक्षण भरत ने कहे हैं, वे रागों पर ही लागू होते है। किन्तु 'जाति' जिस प्रकार एक समष्टि या सामान्यत्त्व की द्योतक है, राग एक विशिष्ट व्यक्तित्त्व का द्योतक है। रागों की संख्या विपुल होती है, जब कि जातियों की सीमित संख्या होती थी एवं प्रत्येक जाति के अन्तर्गत कुछ सामान्य स्वरूप वाली स्वरावलियाँ निहित होती थीं। जाति एवं राग के मूलभूत तत्त्व एक ही है। किन्तु राग विकसित तत्त्व एवं जाति उसका पूर्व रूप है। 'जातियों' का ही उल्लेख रामायण में भी देखा जा चुका है।[1] रागों का उल्लेख भरत ने यद्यपि कुछ स्थलों पर किया है तथापि इस प्रकार जाति का विपुल उल्लेख मिलता है वह रागों का नहीं अतः यह कहना जहाँ उचित नहीं कि रागों से भरत का परिचय ही न था अथवा भरत काल में रागों का प्रचलन नहीं था, वहीं यह भी कहना अनुचित होगा कि जाति के समान रागों का भी उतना ही विपुल प्रचार था। भरत के जाति व रागों के उल्लेखों का सूक्ष्म अध्ययन यही सिद्ध करता है कि भरत राग परंपरा से अवगत थे परन्तु रागपरंपरा अभी जाति की भाँति प्रचलित नहीं हो पाई थी। रागों की परंपरा विकसित होती हुई अवस्था में थी।

भरत काल में रागों का किस रूप में उल्लेख आता है तथा वास्तव में रागों का किस रूप में प्रचार था यह देखने के लिये भरत के निम्नोक्त कुछ उद्धरणों को देखना पड़ेगा।

१—२८।७२

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भरत ने जो जाति साधारण बताई है वे दोनों ग्रामों के परस्पर संबंध या उभय ग्राम पर आधारित है। किसी एक ग्राम की जाति का दूसरे ग्राम में दीखना या प्रत्यक्ष दर्शन ही जाति–साधारण है। दोनों ग्रामों का परस्पर संबंध पहले भी दिखाया जा चुका है। जहाँ यह बताया गया है कि षड्जग्राम की किस मूर्च्छना में मध्यम ग्राम अथवा मध्यम ग्रामकी किस मूर्च्छना में षड्ज ग्रामिक स्वर मिलते हैं ?[1]

जातियों में प्रयुक्त स्वर साधारण के विषय में भी भरत का कथन है कि स्वर साधारणों का प्रयोग केवल तीन ही जातियों मध्यमा, पंचमी व षड्जमध्या ही में होता है। इन जातियों के मुख्य अंग दिखाने वाले स्वर सा, म, और प हैं।[2] दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि अन्तर काकली स्वर साधारण का प्रयोग सभी जातियों में नहीं किया जाता। सप्त स्वरों में जिस प्रकार केवल 'ग—नी' का ही अन्तर काकली स्वर-साधारण होता है। उसी प्रकार जातियों में भी केवल तीन ही में उनका प्रयोग अपेक्षित है। संभवतः इन्हीं तीनों को इसलिये चुना कि इनके मुख्य स्वरों का अन्तर चार श्रुतियों का है और स्वर-साधारण इतने ही अन्तर में संभव भी है। भरत का इस संबंध में यह भी कथन है कि 'नि ग' के अल्पत्व वाली ही जातियों में अन्तर काकली का प्रयोग हो एवं 'स्वरसाधारणं अस्याल्पनिषादं गंधारासु जातिषु प्रयोगः।' अन्तरस्वरसंयोगो नित्यमारोहिसंश्रयः कार्यस्त्वल्पो विशेषेण नावरोही कदाचन ॥[3]

अर्थात् अन्तर, काकली प्रयोग सदा आरोह में हो, अवरोह में नहीं। यह ठीक भी नहीं है, क्योंकि आरोह ही में स्वरों के चढ़ने की प्रवृत्ति होती है, अवरोह में नहीं। दो नी ग वाले रागों में सर्वदा उतरते समय कोमल ग—नी लगते हैं, एवं चढ़ते समय शुद्ध या तीव्र ग—नी लगते हैं।

१—ना० शा० २८।पृ० ३२०

२—ना० शा० २८।३६-७

३—ना० शा० २८।३४

CC-0. Agamnigam Digital Preseyation Foundation, Chandigarh

भरत काल में राग—

भरत के ग्रन्थ में जातियों का जो विवरण मिलता है, उससे यह प्रतीत होता है कि आज जिस अर्थ में 'राग' भारतीय संगीत का आवश्यक तत्त्व है, उस विस्तृत अर्थ में तो निश्चित ही प्रचार में न था। 'राग' स्वर एवं भाव का ऐसा समन्वय है जो कि उसे विशिष्ट स्वरूप प्रदान करता है। राग भारतीय क्या विश्व संगीत का ही एक अद्वितीय तत्त्व है। पाश्चात्य 'मेलोडी' तो इसका बाह्य रूप ही माना जा सकता है। 'राग' के आज जो तत्त्व पाये जाते हैं, उनका कुछ अविकसित रूप भरत में जातियों के रूप में मिलता है। जातियों के जो लक्षण भरत ने कहे हैं, वे रागों पर ही लागू होते है। किन्तु 'जाति' जिस प्रकार एक समष्टि या सामान्यत्त्व की द्योतक है, राग एक विशिष्ट व्यक्तित्त्व का द्योतक है। रागों की संख्या विपुल होती है, जब कि जातियों की सीमित संख्या होती थी एवं प्रत्येक जाति के अन्तर्गत कुछ सामान्य स्वरूप वाली स्वरावलियाँ निहित होती थीं। जाति एवं राग के मूलभूत तत्त्व एक ही है। किन्तु राग विकसित तत्त्व एवं जाति उसका पूर्व रूप है। 'जातियों' का ही उल्लेख रामायण में भी देखा जा चुका है।[१] रागों का उल्लेख भरत ने यद्यपि कुछ स्थलों पर किया है तथापि इस प्रकार जाति का विपुल उल्लेख मिलता है वह रागों का नहीं अतः यह कहना जहाँ उचित नहीं कि रागों से भरत का परिचय ही न था अथवा भरत काल में रागों का प्रचलन नहीं था, वहीं यह भी कहना अनुचित होगा कि जाति के समान रागों का भी उतना ही विपुल प्रचार था। भरत के जाति व रागों के उल्लेखों का सूक्ष्म अध्ययन यही सिद्ध करता है कि भरत राग परंपरा से अवगत थे परन्तु रागपरंपरा अभी जाति की भाँति प्रचलित नहीं हो पाई थी। रागों की परंपरा विकसित होती हुई अवस्था में थी।

भरत काल में रागों का किस रूप में उल्लेख आता है तथा वास्तव में रागों का किस रूप में प्रचार था यह देखने के लिये भरत के निम्नोक्त कुछ उद्धरणों को देखना पड़ेगा।

१—२८।७२

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अंशस्वर के दस लक्षणों को देते समय "यस्मिन्वसति रागस्तु यस्माच्चैव प्रवर्त्तते"[1] इस प्रकार राग का उल्लेख मिलता है। रंजकत्त्व के अर्थ में ही यह संज्ञा प्रतीत होती है। यह ध्यान रहे कि इसे वर्त्तमान 'राग' का मूल उल्लेख समझना भ्रामक होगा।

इसके अतिरिक्त अन्य स्थल पर भी एक उल्लेख आया है जिससे विद्वान यह निष्कर्ष निकालते हैं कि भरत ने ग्राम रागों का उल्लेख किया है।[1]

"मुखे तु मध्यमग्रामः षड्जः प्रतिमुखे स्मृतः।
साधारितं तथा गर्भेऽमर्शे कैशिकमध्यमः॥[2]

मत्तंग ने बृहद्देशी में पाठभेद सहित इसी श्लोक का उद्धरण दिया है[3] एवं इसी में कही गई संज्ञाओं को शुद्धा गीति के अन्तर्गत ग्रामरागों के रूप में स्वीकार कर लिया है। इसी अंश से अनुमान किया जाता है कि भरत काल में रागों का प्रचलन प्रारंभ हो रहा था।

यहाँ यह संदेह किया जा सकता है कि यदि इस प्रसंग में 'राग' से ही अभिप्राय होता तो भरत ने 'राग' संज्ञा क्यों नहीं जोड़ी ? साथ ही शंका भी हो सकती है कि ठीक इसी अंश के पूर्ववर्त्ती श्लोक में 'राग' को रंजकता के अर्थ में प्रयोग किया है।[4] उक्त शंकाओं को यदि अन्य उपलब्ध उद्धरणों के प्रकाश में देखें तो उनका समाधान स्वयं ही हो जायगा। इसलिये पंचसंधियों के साथ जिन पाँच संज्ञाओं का संबंध भरत में प्राप्त होता है, उसे स्पष्ट रूप से रागों का उल्लेख मानने के लिये अधुना उपलब्ध पाठ में कोई प्रबल संकेत नहीं मिलता। ऊपर हमने मतंग के जिस उद्धरण की चर्चा की है उस से अवश्य ही इन श्लोकों का 'राग' से संबंध मानना पड़ता है!

भरत न अट्ठाइसवें अध्याय में एक स्थल पर 'राग' संज्ञा का प्रयोग किया है यथा:—

१—३२।४५-५५

२—वही काशी सं. पृ० ४२६ ३२-४५३

३—वृहद्देशी पृ० ८७

४—३२।४५० एवमेनं विना गानं नाट्यं रागं न गच्छति।
पूर्वरागविधाने तु कर्त्तव्यो गानजो विधिः॥

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'जातिरागं श्रुतिं चैव नयन्ते त्वन्तरस्वराः।'[1] इसी पंक्ति का बड़ौदा संस्करण में 'जातिरागं श्रुतिं चैव हन्यन्ते त्वन्तरस्वराः' इस प्रकार पाठ मिलता है। प्रथम पाठानुसार कुछ लोगों ने ऐसा अर्थ लगाया है कि जाति के नियमों में ही कुछ शिथिलता कर देने से 'जाति राग' बन जाता है, जिसे जाति का ही विकृत रूप समझने का यत्न किया गया है। परन्तु बड़ौदा संस्करण के पाठानुसार 'जातिराग' शब्द का अर्थ जाति की रंजकता से लिया जा सकता है एवं यही अर्थ प्रकरण के अनुकूल है। अन्तर स्वरों का प्रयोग अवरोह में कभी नहीं होना चाहिये यही भरत का विधान है। यदि इनका प्रयोग अवरोह में किया जायगा तो 'जातिराग' या जाति की रंजकता का हनन होगा ऐसा अर्थ इस पाठ से निकलता है और यही प्रसंगानुकूल भी है।

'कुतपविन्यास' के अन्तर्गत 'ग्रामराग' शब्द का उपयोग भरत ने किया है।[2] मृदंगवादक के लिये यह 'आवश्यक होता था कि अभीष्ट मार्जना की स्थापना करके ग्रामराग व मूर्च्छनादि के अनुकूल वादन प्रयोग करें।

इसी अध्याय में मृदंग की मार्जनाओं के संदर्भ में 'जातिराग' का उल्लेख किया है।[3] यहाँ 'जातिरागस्वर' का विग्रह जाति× रागस्वर यों किया जा सकता है जिसका अर्थ जाति का रागस्वर यथा अंशस्वर होता है अतः इस उल्लेख से भी 'राग' का स्वर-सन्निवेश अर्थ नहीं समझा जा सकता।

मृदङ्ग वादन में कानी ऊँगली का प्रयोग करते समय 'राग' संज्ञा का पारिभाषिक अर्थ में उपयोग भरत ने किया है।[4] अर्थात् मृदंग के

१—२८-२५.

२—३३ पृ० ४४६

आतोद्येषु यथा ग्रामरागमूर्च्छनामार्जनानु लिप्तेषुमृदंगेषु"।

३—३३-९६ एतेषामनुवादी तु जातिरागस्वरान्वितः।

आलिंगे मार्जनं प्राप्य निषादस्तु विधीयते॥

४—३३-६० पृ० ४३६ वादककनिष्ठिकाभ्यां शीघ्रगताभ्यां तु करणरागवर्णाः।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

करणों एवं रागों के स्थायी संचारी आदि वर्णों का वादन कानी ऊँगली से करना चाहिये। आज भी गायकों के स्वरों का अनुकरण तालवाद्यों पर देखा जा सकता है।

इसी प्रकार तालाध्याय में पातों के संदर्भ में भी 'ध्रुव' नामक पात को भरत ने रागप्रणाली के उपयुक्त बताया है।

'ध्रुवः तु मद्रकं पातः रागमार्गप्रयोजकः।'

उपर्युक्त विवरण से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है[1] कि भरत-काल में जाति एवं राग दोनों परंपराओं का प्रचलन था, यद्यपि रागों का प्रचलन जाति की भाँति विपुलरूप से न था।

भरतोक्त राग संबंधी विवरणों ने, इस प्रकार इतना तो अवश्य स्पष्ट कर दिया कि भरत ने कहीं भी जमकर ग्रामराग या जातिराग का निरूपण १८ जातियों की भाँति नहीं किया है। भरत के परवर्त्ती विद्वानों ने रागपरंपरा का सविस्तार विवेचन किया है, जिनमें मतंग का नाम सर्व प्रथम है।

वर्ण, अलंकार—

भरत ने अपने ग्रन्थ में नाटकोपयोगी वर्ण अलंकारादि अथवा नाटक के अन्तर्गत प्रयुक्त होने वाले संगीत में वर्ण, अलंकारों का उल्लेख किया है। नाट्य से भिन्न स्वतंत्र संगीत में भी भरत द्वारा बताये गये वर्ण, अलंकारों का रसोत्पत्ति में विशेष महत्त्व है। जिस प्रकार नाट्य का उद्देश्य रस की उत्पत्ति होता है, उसी प्रकार संगीत का भी मुख्य उद्देश्य रस निष्पत्ति होता है।

भरत ने जिस प्रकार पाठ्योपयोगी चार वर्ण उदात्त, अनुदात्त, स्वरित एवं कम्पित आदि बताए हैं,[2] उसी प्रकार संगीतोपयोगी भी चार वर्ण आरोही, अवरोही, स्थायी एवं संचारी बताये हैं। आरोही वर्ण का तात्पर्य स्वरों के चढ़ते क्रम या आरोह क्रम से है। इसके विपरीत अवरोही वर्ण स्वरों के उतरने की गति का द्योतक है, स्थायी

१—३१-३९

२—ना० शा० १९।४३

CC-0. Agamnigam Digital Preseyation Foundation, Chandigarh

वर्ण वह है जहाँ स्वरों का स्थिर व सम उच्चारण अथवा एक ही स्वर का दीर्घोच्चार एवं बारंबार उच्चार होता है तथा संचारी वर्ण का तात्पर्य स्वरों के उपर्युक्त सभी उलटफेर से युक्त संचरण से है। यथा—

अथ उर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वर्णालंकारलक्षणम् ।
आरोही चावरोही च स्थायिसंचारिणौ तथा ॥
वर्णाश्चत्त्वार एवैते अलंकारास्तदाश्रयाः ।
आरोहन्ति स्वरा यत्र आरोहीति स मन्यते ॥[1]

भरत ने जिस प्रकार नाट्य के वर्णों से रसों का संबंध जोड़ा है[2] उसी प्रकार संगीत के सप्त स्वरों का भी।

हास्यश्रृंगारयोः कार्यौ स्वरौ मध्यमपंचमौ ।
षड्जर्षभौ तथा चैव वीररौद्राद्भुतेषु च ॥
गांधारश्च निषादश्च कर्त्तव्यौ करुणे रसे ।
धैवतश्चैव कर्त्तव्यो बीभत्से सभयानके ॥[3]

अर्थात् म, प में हास्य श्रृंगार, 'सा रे' में वीर, रौद्र,अद्भुत, ग-नि में करुण, ध में बीभत्स व भयानक रस निहित है। उक्त रसों की अभिव्यक्ति के लिये उपयुक्त स्वर गाने, बजाने चाहिए।

संगीतोपयोगी स्वरों का एवं पाठ्योपयोगी वर्णों का रसों के साथ संबंध देखने पर यह सिद्ध होता है कि संगीत में स्वरों का जो विभिन्न प्रकार का उलटफेर होता है, जो वर्ण कहलाता है, तथा पाठ्य में कण्ठ ध्वनि के उतार-चढ़ाव से निष्पन्न वर्ण-इन दोनों का रसाभिव्यक्ति के साथ गहरा संबंध था।

भरत ने पाठ्य में भी त्रिस्थानों का उल्लेख किया है तथा काकुभेदों के उपयोग का भी निरूपण किया है जिसे पाठ्य का आवश्यक तत्त्व माना था। भरत का कथन है कि शरीर वीणा में उर, कण्ठ एवं शिर ये तीन स्थान होते हैं। इन्हीं स्थानों से काकुभेद का प्रयोग होता है।[4]

१—ना० शा० २६।१६–२१
२—ना० शा० १६।३८–३६
३—ना० शा० १६।३८–३६
४—मा० शा० १६।४०–१

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

संगीत में स्थान, उच्चार एवं गतिभेद से उत्पन्न परिवर्त्तन काकु की संज्ञा प्राप्त करता है। एक ही स्थान में एक ही स्वर अपने विभिन्न उच्चारणों द्वारा भिन्न अर्थ की उत्पत्ति करे वह 'काकु' है। कभी धीरे, कभी तेज, कभी कम्प, कभी सीधा, इत्यादि स्वर भेद जब भाव अभिव्यक्ति के लिये कण्ठ द्वारा किया जाता है वही काकु है। नाट्य में संवाद बोलते समय, संगीत में गीत या स्वर गाते समय एक ही प्रकार का उच्चार बार-बार होता रहे तो एकरसता एवं नीरसता आ जाती है। यथोचित, यथास्थान किया गया स्वरभेद दूसरे शब्दों में काकु भेद प्रयोग ही मनचाहे भावों की सृष्टि कर सकता है।

शान्ति, क्रोध, चिन्तादि प्रसंग दर्शन के लिये इस प्रकार का काकुभेद नाट्य व संगीत दोनों ही में नितांत अनिवार्य होता है।

अलंकार—

अलंकारों के विषय में भरत का यह कथन है कि ये वर्णों के आश्रित या उन पर आधारित होते हैं। यथा—

एते वर्णास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो गानुयोगतः।
एतान् समाश्रितान् सम्यगलंकारान्निबोधत ॥[१]

भरत ने अलंकारों को संगीत में एक आवश्यक तत्त्व माना है। अलंकार का सामान्य अर्थ सजावट से लिया जाता है। भरत का इसकी आवश्यकता संबंधी यह कथन है कि जिस प्रकार चन्द्ररहित रात्रि, जलविहीन नदी, पुष्परहित लता एवं भूषणहीन स्त्री की अवस्था होती है वही अवस्था बिना अलंकार के गीत की होती है।[२] स्पष्ट ही है कि संगीत में अलंकारों का अत्यधिक महत्त्व था। जिस प्रकार यथास्थान ही अलंकार उपयोगी है संगीत में भी इस दृष्टि से यथास्थान उपयोगी है।[3] उक्त सिद्धांत के अनुकूल भरत ने कुछ अलंकारों को कुछ गीत प्रकारों में उपयोगी या अनुपयोगी बताया है। यथा—'सप्त(१)रूपगता ज्ञेया[४]

१—ना० शा० २९।२४

२—ना० शा० २९।७५

३—ना० शा० २९।७४

४—ना० शा० २९।३८–४०

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अर्थात् सप्त रूपगत ये अलंकार 'ध्रुवा' गीत के लिये उपयोगी नहीं, बिन्दु वेणु इत्यादि जो अलंकार कहे हैं, उनका "ध्रुवा" में प्रयोग न हो क्योंकि 'ध्रुवा' द्वारा अभीष्ट अर्थ का बोध करना ही ध्येय है। अतः ध्रुवा गान में वर्णों को दुर्बल ही रखना चाहिये। भरत ने गीतियों के लिये जो विधान दिया वही हम रागों में भी कुशलता-पूर्वक प्रयोग कर सकते हैं। सभी प्रकार के वर्णालंकार सभी रागों में शोभा नहीं देते वरन् कण्ठ का व्यायाम सा प्रतीत होते हैं। अतः रागानुकूल उचित सूझबूझ आवश्यक है। संगीत के उपयोगी ३३ अलंकार भरत ने बताये हैं, यों तो स्थायी वर्णान्तर्गत ७ अवरोही वर्ण के अन्तर्गत १२ अवरोही के ५ एवं संचारी के १३ कुल ३३ संख्या है। भरत ने ४ अलंकार जो किसी न किसी वर्ण में आ जाते हैं उन्हें छोड़ कर ३३ ही उपयोगी कहे हैं, परवर्त्ती ग्रन्थकारों ने ज्यों का त्यों उतार दिया है।

भरत ने इन अलंकारों के लक्षणों का कोई स्पष्ट स्वरूप उल्लिखित नहीं किया है। अतः इनका स्वरूप एवं लक्षण व स्वरूप की संगति देखना अत्यंत कठिन व असंभव-प्राय सा है। फिर भी भरतोक्त अलंकारों को एक सारिणी-रूप में उद्धृत किया जाता है।

भरतोक्त अलंकारों के नाम	भरतोक्त बताये गये लक्षण
१—प्रसन्नादिः	क्रमशः दीप्त
२—प्रसन्नान्तः	व्यस्त (क्रमभंग से उच्चरित)
३—प्रसन्नाद्यन्तः	आदिअन्त में प्रशमित
४—प्रसन्नमध्यः	मध्य में प्रसन्न (मन्द्र)
५—समः	सर्व साम्य, एक स्वर पर स्थिर
६—बिन्दुः	एक कलातक तार को स्पर्श करके पुनरागत
७—निवृत्तः	निवृत्त
८—वेणुः	जिसकी लय आक्रीड़ित हो
९—कम्पितः	उरोगत पवन निरोध, कलात्रय का निरोध
१०—कुट्टरितः	कण्ठ में निरुद्ध पवन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

११—रेचितः	शिरोगत पवन--निरोध
१२—प्रेंखोलितः	गतागत प्रवृत
१३—तारमंद्रप्रसन्नः	क्रम से पांच या छ स्वरों का आरोह करके पुनः मंद्र में आना
१४—मंद्रतारप्रसन्नः	जिससे आरंभ हो उसके बाद वाले स्वरों का लंघन करके तार में पहुँच-कर अवरोह करना
१५—प्रस्तार या प्रस्वारः	एक एक स्वर से आरोह करके क्रमशः अवरोह ।
१६—प्रसादः	क्रमशः प्रसन्न मंद्र की ओर निवृत्त
१७—उद्वाहितः	द्विकल स्वरों का संचरण
१८—उपलोक या अवलोकितः	उद्वहित का दो दो बार अभ्यास
१९—क्रमः	एक दो या तीन स्वरों का क्रम से आरोहावरोह ।
२०—निष्कूजितः	प्रत्येक स्वर में एक एक अन्तर छोड़-कर आरोह ।
२१—लादमानः	निष्कूजित के द्विस्वरों को तीन २ आवृत्तियों द्वारा अवरोह में षट् स्वर बनाना ।
२२—रंजितः	अनन्तर स्वर पर दो कला स्थित होकर अर्ध कलाओं से आरोह करके पुनः अवरोह ।
२३—आवर्तकः	(क) चार अनन्तर स्वरों में आरोहावरोह से संचरण, अष्ट कला युक्त ।
	(ख) एक एक के अन्तर से आरोहावरोह करने से । चतुष्कलायुक्त ।
२४—परिवर्त्तकः	तीन स्वरों का आरोह करके चौथे का लंघन कर पाँचवें से अवरोह । अष्टकलायुक्त
२५—उद्घाटितः	एक कल-यथा-पर अन्तर स्वरों का प्रयोग (?)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

२६—आक्षिप्तकः	तीन २ स्वरों के क्रमिक प्रकार पहले एक कल पुनः षट्कल।
२७—संप्रदाय या संप्रदानः	आक्षिप्तक की ही भाँति तीन की अपेक्षा चार-चार स्वरों के टुकड़े, जिनमें एक स्वर का लंघन हो।
२८—हसितम्	आक्षिप्तक व संप्रदान का विकल(?) प्रयोग।
२९—हुंकारः	समनन्तर तीन या चार स्वरों का आरोह व एककल प्रयोग।
३०—संधिप्रच्छादनः	अनन्तर कल से आरोह करके चतुष्कल रूप से अवरोह।
३१—विधूतः या विधूनम्	आदिमें पद (?) की रचना करके दो वर्णों का लघु वर्ण रूप में आरोह, एक कल प्रयोग।
३२—उद्गीतः	आरोही में 'प्रस्वार' अलंकार व अवरोही में 'क्रम' अलंकार का प्रयोग।
३३—गात्र वर्णः	ओंकारवत् तीन तीन स्वरों का आरोह करके दो दो कंप्यमान स्वरों से अवरोह।[१]

अलंकारों के पश्चात् भरत ने गीतियों का विवरण दिया है।

गीतियां—

साधारणतया गीति से गान क्रिया के साथ संबंध होगा, ऐसा मालूम होता है, परन्तु भरत की गीतियों का स्वर विन्यास या स्वर प्रयोग के साथ संबंध नहीं दिखता वरन् गायन क्रिया में प्रयुक्त पदों या पद्यों की वर्ण संघटना से संबद्ध जान पड़ता है। इस दृष्टि में भरत द्वारा बताई गयी चार गीतियाँ विभिन्न गेय छन्दों के अन्तर्गत अक्षर विन्यास से संबंध रखती हैं। चार गीतियाँ एवं उनकी संक्षिप्त सी व्याख्या भरतोक्त निम्नोक्त उद्धृत अंश में देखी जा सकती है :—

१—२६।२५–७२ तक।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि गीतीनामपि लक्षणम् ।
प्रथमा मागधी ज्ञेया द्वितीयाचार्धमागधी ।
संभाविता तृतीया च चतुर्थी पृथुला स्मृता ।
भिन्नवृत्तिप्रगीता या सा गीतिर्मागधी मता ।
अर्थकालनिवृत्ता च विज्ञेया त्वर्धमागधी ।
संभाविता च विज्ञेया गुर्वक्षरसमन्विता ।
लघ्वक्षरकृता नित्या पृथुला संप्रकीर्तिता ॥[1]

संक्षेप में इससे यही तात्पर्य लिया जा सकता है कि गीत के पदों (शब्दों) में अक्षरों की संघटना से 'संभाविता' गीति एवं लघु अक्षरों की संघटना से 'पृथुला' गीति की उत्पत्ति होती है। मागधी एवं अर्ध मागधी गीतियों का संबंध गीत के पदों (शब्दों) की आवृत्ति या पुनरावृत्ति (पुनरोक्त) की प्रक्रिया के साथ है।

उक्त गीतियाँ ध्रुवाओं के साथ संबंधरहित रूप में भी ज्ञात थीं।[2] किन्तु ये गीतियाँ संगीतकारों या गायकों द्वारा मात्र गांधर्व में व्यवहृत होती थीं।[3] ध्रुवा में छन्द निश्चित रहता है। ये गीतियाँ संभवतः छन्द-सम्बन्धी अनियतावस्था में भी लघु-गुरू के क्रम भेद मात्र से कार्य करती होगी।

धातु—

धातु के तंत्री वाद्यों के वादन में प्रयुक्त होने वाले विभिन्न पहलुओं से संबंधित है।

तत वाद्यों से संबंधित धातु—

तत वाद्यों पर आधारित भरत ने चार प्रकार की धातुओं का उल्लेख किया है। चूँकि धातु का तत वाद्यों से संबंध था, अतः वादित्र संज्ञा से तत वाद्य का तात्पर्य लेना अनुचित न होगा।[4] ऐसी चार

१—ना० शा० २६।७६–७६

२—ना० शा० २६। ८०–१ इस अंश से 'ध्रुवा' गायन के प्रकार रूप में दिखता है।

३—ना० शा० २६। ८२–८६

४—२६। ९५, ६६ वीणा वाद्ये करण धातुः ॥ वीणायां व्यञ्जनो धातुः ॥

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

धातुओं का उल्लेख भरत ने किया है। विस्तार, करण, आविद्ध एवं व्यञ्जन।[1]

विस्तार धातु—विस्तार धातु के अन्तर्गत चार प्रकार के आघात आते हैं। यथा—संघातज (जो विरोध से उत्पन्न हो) Going-out of Contrast समवायज या संमिश्रण से उत्पन्न (Combination से उत्पन्न), बिस्तारज (विस्तार से उत्पन्न) तथा अनुबंधन (मात्र क्रमिकता से उत्पन्न)।[2] विस्तार धातु के नियमों के विषय में ग्रंथकार कहता है कि विस्तार एक प्रहार या आघात का होता है, संघातज एवं समवायज के अन्तर्गत क्रमशः दो एवं तीन प्रहार निहित हैं। प्रथम चार प्रकार का, द्वितीय आठ प्रकार का होता है। अपनी उत्पत्ति के विशेष विधान के अनुसार उनके भिन्न भिन्न नियम होते हैं।[3]

लघु एवं गुरु आघात द्वारा उत्पन्न स्वर भी निम्न व उच्चतारता के रूप में ज्ञात होते हैं। यह आघात करने का ऐसा नियम है जिसे प्रत्येक तत-वादक को जानना चाहिये।[4]

संघातज आघात भी कई प्रकार के होते हैं दो तार, दो मंद्र तार एवं तार मंद्र आघात।[5]

समवायज आघातों के भी कई प्रकार होते हैं यथा-तीन उच्च, तीन निम्न, दो मन्द्र, एक तार, दो तार, एक मन्द्र एक तार, दो मन्द्र एक मन्द्र तार एक मन्द्र एक तार, एक मन्द्र एवं एक तार एक मन्द्र एक तार।

अनुबंधज चूँकि उपरोक्त उल्लिखित आघातों के मिश्रण व भेद (Contrast) के द्वारा बनते हैं, अतः अनियमित होते है। सर्वदा विस्तार धातुओं के चौदह प्रकार होते हैं।

करण धातु—वीणा वादन में ५ प्रकार के करण धातुओं का प्रयोग किया जाता था। यथा-रूभित, उच्चय, नीरटित, ह्राद एवं अनुबंध।

१—२६। ८१

२—ना० शा० २६। ८१–८२

३—२६। ८४–५

४—६२। ८६–७

५—२६। पृ० ३३७ लघु गुरु मात्रा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करण धातु के अन्तर्गत क्रमशः ३, ५, ७, एवं ९ लघु प्रहार निहित हैं तथा उनका सम्मिश्रण तथा उन सभी का गुरु प्रहार में खत्म होना निहित है। यानि उसकी समाप्ति उनके मिश्रण एवं गुरु प्रहार से है।

आविद्ध धातु —यह पांच प्रकार की होती है यथा-क्षेप, प्लुत, अतिपात, अतिकीर्ण, एवं अनुवंध। आबिद्ध धातु के अन्तर्गत क्रमशः २, ३, ४, एवं ६ प्रहार, धीरे धीरे एवं उनका सम्मिश्रण निहित है।

व्यंजन धातु[2]—वीणा वादन में प्रयुक्त व्यंजन धातु १० प्रकार की कही गई है। यथा-कल, तल, निष्कोटित-उन्मृष्ट, रेफ, अवमृष्ट, पुष्प, अनुस्वनित, बिन्दु एवं अनुबंध। इनकी व्याख्याएं भी भरत ने दी हैं। उदाहरण स्वरूप—

कल—तार को दो अंगूठों द्वारा एक साथ स्पर्श करना।

तल—दायें अंगूठे से दबाने के बाद बाएं अंगूठे से तार पर आघात करना।

निष्कोटित—केवल बायें अंगूठे से प्रहार।

उन्मृष्ट—बायें हाथ की प्रदेशिनी उंगली से प्रहार।

रेफ—हाथ की सभी उंगलियों से एक अकेला प्रहार।

अवमृष्ट—तार में नीचे की ओर छोटी उंगली एवं दाये हाथ के अंगूठे द्वारा तीन प्रहार।

पुष्प—छोटी उंगली एवं अंगूठे द्वारा एक प्रहार।

अनुस्वनित—तल की अपेक्षा तार में नीचे प्रहार करना।

बिन्दु— अकेले तार में गुरु प्रहार।

अनुबंध— उक्त सभी का एक अनियमित सम्मिश्रण होता है, एवं यह सभी धातुओं को संबद्ध करता है अथवा सभी से संबद्ध है।

ये सभी उपर्युक्त १० व्यंजन धातुएँ हैं जो वीणा वादन में प्रयुक्त की जाती है। भरत ने इस प्रकार चार धातु उनकी विशेषताओं आदि का उल्लेख किया है जो कि तीन वृत्तियों से संबद्ध हैं, जिन पर तत वाद्यों का वादन निर्भर होता है।

१—२६। ६८–६९

२—२६। ८६–९५

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

तीन वृत्तियाँ—

भरत ने गति वृत्ति के नाम से तीन वृत्तियाँ कही हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—चित्रा, वृत्ति और दक्षिणा। बाद में चलकर ये तीनों वृत्तियाँ वाद्य व गीत की सापेक्ष प्रधानता या गौणता से संबद्ध हो गई थीं।[२] भरत ने इन तीनों वृत्तियों में ताल, लय[३], गीति, यति[४] और मार्ग—इतने तत्त्वों का समावेश किया है और इन्हीं के अनुसार तीन वृत्तियों का लक्षण दिया है। चित्रा वृत्ति में संक्षिप्त वाद्य, एककल ताल, द्रुत लय, समायति मध्य तथा अनागत ग्रह की प्रधानता कही है, वृत्ति में द्विकल ताल, मध्य लय, स्रोतोगता यति तथा ताल के सभी मार्गों की प्रधानता तथा दक्षिणावृत्ति में चतुष्कल ताल, विलंबित लय, गोपुच्छायति तथा अतीत ग्रह की प्रधानता कही है। चित्रा में वाद्य की प्रधानता वृत्ति में गीत एवं वाद्य की तथा दक्षिणा में गीत की प्रधानता—ये लक्षण जो संगीत रत्नाकर में मिलते हैं इनका बीज भरत के उपर्युक्त वृत्ति निरूपण में इस रूप में मिलता है कि चित्रा में गीति का नामोल्लेख नहीं है, एवं वृत्ति तथा दक्षिणा में गीति का उल्लेख किया गया है।[५]

ये तीनों वृत्तियाँ—वाद्य संगीत एवं गायन दोनों को गुण प्रदान करती है। वृत्ति शैलियों की ललितादि जातियाँ जब धातुओं में सम्मिश्रित कर दी जाती है तो गुण और भी वृद्धि हो जाती है।

जातियाँ—

धातुओं के सम्मिश्रण से उदात्त, ललित, रिभित एवं घन नामक जातियों की निष्पत्ति होती है। उदात्त विस्तार धातु से संबद्ध होती है।

१—२६। पृ० ३३८

२—सं० र० ६। १६५–६७

३—लय तीन प्रकार की विलंबित मध्य द्रुत मानी गई है।

४—यति का अर्थ गति के विभिन्न प्रकारों का क्रम है जैसे पूर्ण गीत में प्रथम विलंबित फिर मध्य व बाद में द्रुत रखते हैं। कलाकार इनका प्रयोग कुशलता से अन्य व्यवस्था में भी कर सकता है।

५—ना० शा० २६। पृ० ३३८

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ललित व्यंजन से। ऐसा इसलिये कहा गया है कि यह बहुत ही सुन्दर होती है। रिभित आविद्ध धातु से संबद्ध होती है, एवं इसकी विशेषता प्रहारों का समूह है, अर्थात् इसमें बहुत से सामूहिक प्रहार किये जाते हैं। घन करण धातु से संबद्ध है एवं उसकी मात्रा पर आधारित होता है अर्थात् दीर्घ व ह्रस्व स्वरों के संयोग पर आधारित होता है।

वीणा के संगीत के तीन प्रकार[1]—

भरत ने वीणा वादकों के उपयोगी अनेक बातें अपने ग्रन्थ में उल्लेख की है। यहाँ भरत यह कहते हैं कि वीणा द्वारा कुशल वादकों को तीन प्रकार का संगीत उत्पन्न करना चाहिये, वे तत्त्व, अनुगत एवं ओघ कहलाते हैं, जिनमें बहुत से करणों का सम्मिश्रण रहता है। वह संगीत जो लय, ताल, वर्ण, पद, यति एवं गीत के अक्षरों को भली भाँति अभिव्यक्त करता है उसे 'तत्त्व' कहते हैं। वाद्य संगीत जो गीति का अनुकरण करता है, वह अनुगत कहलाता है। ओघ वह संगीत है जो आविद्ध करणों में प्रचलित है या पूर्ण होता है, उसमें उपरिपाणिग्रहमार्ग तथा द्रुत लय होती है एवं गीत के अर्थ का ध्यान इसमें नहीं किया जाता।

संगीत संबंधी वाद्यों के वादन का नियम यह बताया है कि तत्त्व का व्यवहार विलंबित लय में, अनुगत का मध्य लय में एवं ओघ का द्रुत लय में व्यवहार किया जाता है। कुशल संगीतकार का लय एवं ताल का ध्यान रखते समय सभागायन (Performance) में गाये जाने वाले प्रथम गायन में तत्त्व का व्यवहार करना चाहिये, तत्पश्चात् अनुगत एवं बाद में ओघ का प्रयोग करना चाहिये।

विपंची वीणा के करण[2]—

इसको देखने से पूर्व विपंची वीणा का स्वरूप जानना आवश्यक है। विपंची प्रकार प्रसिद्ध प्रकार था जिसका उल्लेख रामायण में भी एवं अन्य पूर्ववर्त्ती साहित्यों में देखा जा चुका है। इसके स्वरूप के

१—२९। पृ० ३३८

२—२९। पृ० ३३८

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विषय में भरत का कथन है कि वह ९ तारों से युक्त होती थी।[1] तार संभवतः ७ स्वरों के साथ दो स्वर साधारणों[2] के द्योतक प्रतीत होते हैं।

विपंची वीणा के वादन में प्रयुक्त होने वाले करण निम्नोक्त हैं यथा—रूप, कृतप्रतिकृत, प्रतिभेद, रूपशेष, ओघ एवं प्रतिशुष्क। वीणा पर जब दो गुरु एवं दो लघु अक्षरों का वादन किया जाता है वह रूप कहलाता है। एवं जब इस रूप का प्रयोग प्रतिभेद में किया जाता है तब वह कृत प्रतिकृत कहलाता है। जब दो विभिन्न करणों को एक के बाद एक प्रयुक्त किया जाता है एवं गुरु व लघु अक्षरों को दिखाया जाता है तब वह प्रतिभेद कहलाता है। दूसरी वीणा पर संगीत को जारी रखते समय जब कि प्रमुख वीणा वादन बन्द हो जाय तब वह रूप शेष कहलाता है। औघ के अन्तर्गत आविद्ध-करण आते हैं जो कि उपरिपाणिग्रह भाग में बजाये जाते हैं। प्रतिशुष्क वह करण है जो कि केवल मात्र एक तार के द्वारा बजाया जाता है।

ध्रुवाओं का व्यवहार करने में कुशल संगीतकारों को सामान्यतः किसी गीत या वादन की संगत के सम को दो वीणा के द्वारा बजानी चाहिये। कलाकार को तंत्री पर गायन के साथ भली भाँति संगत करनी चाहिये, एवं विपंची में यह बहुत कुछ ओघ नामक करण की भाँति हो जाता है।

वीणा के सप्त—तंत्री प्रकार को चित्रा कहा गया है। यह उंगलियों द्वारा बजायी जाती है। यह संभवतः सप्त स्वरों के बजने का संकेत करती है।

भरत ने इसके पश्चात 'बहिर्गीतों' के विषय में चर्चा की है जिनकी कुछ निश्चित विशेषताएं होती हैं।

बहिर्गीत—आश्रावणा, आरंभ, वक्त्रपाणि, संघोटना, परिघ-ट्टणा, मार्गासारित, लीलाकृत एवं असारितों के तीन प्रकार ह्रस्व, मध्यम एवं दीर्घ आदि बहिर्गीत हैं, इनका उपयोग ताल सहित या

२—२९। १२० पृ० ३३८

३—२९। ३६ सं० र० ७। ११२, ११३ मत्तकोकिला—इसकी प्रत्यंग वीणा जो इसकी 'रक्ति' को बढ़ाती है, उनका वादन—प्रयोग 'करण' द्वारा बताया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रहित रूप में चित्र व वृत्ति की शैली में करना चाहिये। इन सबकी अपनी अपनी विशेषताएं थीं जिनका उल्लेख भरत ने उदाहरणों सहित किया है।[1]

कथा—आगे चलकर संगीतराज में 'बहिर्गीत' संज्ञा विषयक एक रोचक कथा मिलती है। जहाँ यह कहा गया है कि सुमेरुपर्वत पर एक बार गंधर्वों ने गायन वादन किया। राक्षसों को बिना गायन का वादन या निर्गीत वाद्य अधिक अच्छा लगा एवं उसे उन्होंने अपना लिया। तब देवता ब्रह्मा के पास गये और तब ब्रह्मा ने तब से उसे बहिर्गीत संज्ञा प्रदान कर दी।

आश्रावणा—आश्रावणा बहिर्गीत का प्रयोग क्रमिक कलाओं या मात्राओं में विस्तार धातु के दो बार पुनरावृत्त करणों के साथ किया जाना चाहिये। इसके पश्चात् क्रमशः दो पुनरावृत्त करणों को बढ़ाते चलना चाहिये। इसके अन्तर्गत २४ वर्णों के जोड़े निहित होते हैं। जिनमें सर्व प्रथम दो, ग्यारहवाँ १४, १५ वां तथा २४ वां वर्ण गुरु होगा, तथा प्रथम एवं अन्य ७ और गुरु वाले वर्ण सहित आगे के ६ पुनः लघु होंगे, अन्त के तीन वर्ण गुरु होंगे।

आश्रावणा बहिर्गीत के अन्तर्गत तालों की चर्चा भी की गई है यथा-उपरिपाणि में ताल तथा ३ शम्या, समपाणि में दो शम्या दो ताल एवं पुनः एक शम्या दो ताल तथा दो कलाओं के उचित उत्तर एवं चंचत्पुट (ताल)।

आरंभा—आरंभा अंगभूत वर्ण निम्नोक्त हैं :— प्रथम आठ गुरु, आगे के बारह तथा अन्तिम के (प्रथम भाग में) लघु तथा ४ गुरु, ८ लघु व गुरु (द्वितीय कला में) ८ लघु तथा अन्तिम लघु, आगे की कला का निर्माण करते हैं। इसका स्पष्टीकरण पाठभ्रष्ट होने के कारण भलीभाँति करना कठिन है। इस बहिर्गत का प्रयोग तीन कलाओं में होना चाहिये, तथा निम्नकरणों के साथ होना चाहिये। यथा—ताल, रिभित तथा ह्राद जिसमें विस्तार धातु पहले आती है, एवं इसमें पहले आरोही बाद में अवरोही क्रम रहता है।

१—सं० रा० ३. १. ३. १२०–१३२

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इसमें करणों का प्रयोग पहले दो वार या तीन वार अवरोही होगा तत्पश्चात् इसके विपरीत एवं अन्त में सभी की पुनरावृत्ति हो जायेगी। इसकी तोन कलाओं का प्रथम ताल, एक कला की शम्या, दो कलाओं का ताल, फिर दो कलाओं की शम्या दो कलाओं का ताल तथा दो कलाओं का सन्निपात एवं षट्पितापुत्रक एवं दो कलाओं का चंचत्पुट होगा।

वक्त्रपाणि—वक्त्रपाणि के संगीत के अन्तर्गत आविद्ध धातु के करण निहित होते हैं तथा इसमें प्रवृत्त तथा व्यञ्जना धातु का भी आंशिक प्रयोग निहित है।

वक्त्रपाणि की वर्ण व्यवस्था में ५ गुरु, ६ लघु, चार बार लघु दो गुरु एक लघु, चार गुरु, चार लघु, तीन गुरु। आठ लघु एवं एक गुरु होता है। दो कलाओं के मद्रक गीत में प्रयुक्त शम्या व तालों की व्यवस्था का प्रयोग वक्त्रपाणि में भी होता है, परन्तु प्रारंभ (मुख) में इसके अन्तर्गत ८ कलाएँ इस प्रकार होनी चाहिए—शम्या, ताल, ताल, शम्या, तथा ताल शम्या, ताल सन्निपात एवं चार पंचपाणि।

संघोटना—संघोटना के संगीत के अन्तर्गत विस्तार धातु के ३ करणो का प्रयोग होगा तथा इसमें चित्र एवं वृत्त का भी निर्वाह होना चाहिये, ऐसे तीन करणों की आवृत्ति होगी, तथा क्रमशः बढ़ाये जायेंगे।

संघोटना के लघु गुरु वर्णों की व्यवस्था इस प्रकार होगी यथा—दो गुरु, ८ लघु; दो गुरु, एक लघु, एक गुरु, एक लघु, चार लघु, आठ लघु तथा अन्त में गुरु। संघोटना में वीणा को दण्ड के द्वारा दो हाथों से पकड़ा जाता है एवं उसे दायें हाथ की अङ्गुलियों तथा दो अंगूठों से वादन किया जाता है।

इसे संघोटना इसलिये कहा गया है कि इसमें वादी एवं विवादी दोनों स्वरों के साथ-साथ प्रयोग अनुवादी स्वरों के साथ किया जाता है। इसके ताल के अन्तर्गत शीर्षक की भाँति पाणिपाणियों को रखा जाता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परिघट्टना——परिघट्टना की वर्ण व्यवस्था इस प्रकार होती है— ८ गुरु, २४ लघु, १ गुरु, १६ लघु एवं दो गुरु। इसके संगीत में व्यंजन धातु के बहुत से करणों का प्रयोग होना चाहिये एवं कुशल हाँथों द्वारा इसका उपवहन के साथ प्रयोग होना चाहिये। इसका ताल संपक्वेष्टाक: हागा जिसमें व्यञ्जन धातु के करण भी मिश्रित होते हैं।

मार्गासारित——इसकी वर्ण व्यवस्था—४ गुरु, ८ लघु ८ गुरु ८ लघु एवं अंतिम गुरु। मार्गासारित में वाद्य संगीत जो होगा, उसमें आविद्ध धातु एवं विस्तार धातुओं के करण निहित होते हैं एवं इसकी वर्ण व्यवस्था के अनुरूप सभी तालों का प्रयोग हो सकता है।

लीलाकृत——कुशल संगीतकार को, जब अवसर आये, लीलाकृत एवं परिसृत का प्रयोग लघु आसारित के नियमों के अनुसार करना चाहिये एवं इसमें मधुर ताल का प्रयोग होना चाहिये।

आसारित लंबे या ज्येष्ठ मध्य एवं कनिष्ठ (Short) भी हो सकते हैं।

उपरोक्त विवरण वीणा के शरीर से उत्पन्न स्वरों के रूप में ज्ञात है।

सुषिर वाद्य—भरत ने सुषिर वाद्यों के विषय में अपने ग्रन्थ के तीसवें अध्याय में चर्चा की है सुषिर वाद्य जैसा कि नाम से स्पष्ट है, बांस द्वारा निमित होता है। इसके स्वरों, ग्रामों आदि से संबद्ध नियम वीणा के समान ही होते हैं। वेणु के स्वर दो तीन व चार श्रुतियों से युक्त ज्ञात हैं एवं वे या तो कम्पित या अर्धमुक्त अथवा व्यक्तमुक्त होते हैं। जिस प्रकार वीणा के स्वर दूसरे में बदल जाते हैं वेणु में भी यह परिवर्त्तन किया जा सकता है। वेणु में उत्पन्न स्वरों की श्रुतियों की संख्या दो तीन या चार हो सकती है एवं फूंक को लंबा करके या दीर्घ करके शेष स्वरों को अर्थात साधारण और काकली स्वरों को भी उत्पन्न किया जा सकता है। स्वरों की ध्वनि में विशेषताएं होती हैं जो कि ४, ३ या २ श्रुतियों द्वारा (जो कि वेणु में उंगलियों के व्यवहार से उत्पन्न की जाती है) सामने आती हैं। वेणु के छिद्र से उत्पन्न स्वर उङ्गलियों के उत्पन्न स्वर से स्वतंत्र होता

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है, एवं वह ४ श्रुतियों से युक्त होता है। एवं छिद्र से उत्पन्न श्रुति जो उङ्गलियों के कंपन से होती है वह ३ श्रुतियों से युक्त होती है, एवं दो श्रुतियों से युक्त स्वर उस छिद्र से निकाला जाता है जो उङ्गलियों के प्रयोग से आंशिक रूप से मुक्त होता है। षड्जग्राम को जहाँ २८ वें अध्याय के २५-२६ श्लोकों में प्रथम उल्लेख किया गया है, यहाँ क्यों दूसरा स्थान दिया, कुछ अस्पष्ट सा है। उपर्युक्त स्वर व श्रुति विधान मध्यम-ग्रामिक है। षड्जग्रामिक स्वर इस प्रकार होंगे- सा, म, प पूर्ण खुले छिद्रों से निकाले जाते हैं, ध, रे कंपित उङ्गली से ढकने पर तथा ग नी आंशिक रूप से उङ्गली द्वारा स्वतंत्र छिद्र द्वारा उत्पन्न होते हैं। नि, ग षड्ज व मध्यम ग्राम में परस्पर एक दूसरे का स्थान लेते हैं। इनके नाम विपर्यय से श्रुतियों की सिद्धि होती है, क्योंकि स्वरान्तराल बदल जाते हैं। वेणु के स्वरों को वीणा अथवा मानव कण्ठ की सहायता से मिलना चाहिये। जो स्वर गायक धारण करता है वह बेणु के मिले स्वर में होना चाहिये या गाया जाना चाहिये। मनुष्य कण्ठ व वीणा तथा वेणु का ऐक्य विशेष रूप से सराहा जाता है। इसका व्यवहार में पालन होता था। तामिल साहित्य में वाद्यों के स्वर कण्ठ स्वर के ऐक्य का संकेत देखा जा सकता है (पृ० २४४)। वेणु का स्वर जो बहुत तीव्र न होकर सतत व स्थिर, शान्त होता है उसे अलंकार एवं वर्ण द्वारा सजाना चाहिये इसका प्रयोग नियमानुसार भावानुकूल, अवसरानुकूल होना चाहिये। जहाँ जिस रस काकु की आवश्यकता हो वहाँ उसी के अनुकूल वर्ण अलंकार प्रयुक्त किया जाये।

भरत का ताल संबंधी विवरण (घन वाद्य)

भरत ने ताल संबंधी अध्याय का नाम 'ताल व्यंजक' अध्याय दिया है। जो ग्रन्थ का ३१ वाँ अध्याय है। भरत के संगीत संबंधी अध्यायों में यही एक ऐसा अध्याय है जो अत्यन्त विस्तृत है। घन वाद्य ताल संबंधी होता है। अतः 'घन वाद्य' का भी इसी अध्याय में समावेश पाया जाता है।

'ताल' शब्द तल् धातु से व्युत्पन्न होता है। जिसका अर्थ हाथ की हथेलियों से लिया जा सकता है। मौलिक रूप से यह हाथों द्वारा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ताल या आघात से काल को अभिव्यक्त करने का ही उल्लेख प्रतीत होता है। 'मेघदूत'[1] में इसी अर्थ में 'काल प्रमाण' संज्ञा का उल्लेख मिलता है।

'तालैः शिंजावलय—सुभगैः नर्त्तितां कान्ताया…'

नाट्य शास्त्र के इस अध्याय में ताल की 'Technique' का विशेष विवरण मिलता है। ताल के प्रमुख तत्त्वों, आदि काल में उत्पन्न पाँच तालों के नाम, तालों की कलाएँ एवं इनकी वृद्धि आदि से तथा मिश्रण से अनेक तालोत्पत्ति के मार्ग, ताल की क्रियाएँ, ग्रह, यति, लय, मात्रा पाट आदि पर नाट्य शास्त्र में विस्तृत विवरण मिलता है। इसके अतिरिक्त नर्त्तन में उपयोग करने के लिये पाट-वर्णों से बनाए गए साहित्य या ताल प्रबंध का विवरण भी इसमें दिया गया है।

नाट्य शास्त्र में ताल की तीन जातियाँ त्र्यस्र, मिश्र एवं चतुरस्र बताई गयी हैं। उन्हीं के अन्तर्गत विभक्त प्रमुख पांच तालों का उल्लेख नाट्य शास्त्र में मिलता है। आगे चलकर ये ही ताल मार्गताल कहलाये एवं परवर्त्ती ग्रन्थकारों ने इनका ज्यों का त्यों उल्लेख तो किया ही, अन्य देशी तालों का भी वर्गीकरण एवं विवरण दिया। पांच मार्ग ताल ये हैं—चंचत्पुट, चापपुट, षट्पितापुत्र, पंचपाणि अथवा (संपक्वेष्टाक) तथा उद्घट्ट। प्रत्येक ताल की जाति उसके लघु गुरु प्लुतादि तत्त्वों से निर्धारित होती है। प्रत्येक ताल के अंग को दुगुना, अठगुना आदि करके नवीन तालों की कल्पना की जाती थी एवं इन्हीं को द्विकल, चतुष्कल एवं अष्टकल आदि संज्ञाएँ दी गई थीं।

तालों के मुख्य अंगों की संक्षेप में निम्नोक्त व्याख्या की जा सकती है :—

तालों के मार्ग एवं कला[2] —

ताल के तीन मार्ग—चित्र, वार्त्तिक एवं दक्षिण होते हैं। इन्हीं मार्गों के अनुसार 'कला' की मात्रा बदलती रहती है। चित्र मार्ग

१—७९ ना० शा० म० घो० पृ० ५३

२—'कला' शब्द शास्त्रों में तीन अर्थ में प्रयुक्त किया गया है—(१) दो मात्रा या

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में 'कला' की मात्रा २, वार्त्तिक में ४ तथा दक्षिण में ८ मात्रा मानी जाती है। इस बात को आधुनिक दाक्षिणात्य तालों के साम्य पर देखा जा सकता है अर्थात् प्रत्येक मार्ग तालों की कला संख्या तो नियत रहती है, परन्तु मार्ग के अनुसार कला का मात्रा मूल्य निर्धारित किया जाता है।[1]

क्रिया—

'क्रिया' का ताल में महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये सशब्द एवं निःशब्द दो प्रकार की होती है। सशब्द क्रिया के चार प्रकार बताये हैं यथा—ध्रुवा—जिसमें चुटकी का शब्द होता है, शम्या—दायें हाथ का आघात, ताल बायां हाथ ऊँचा करके आघात देना तथा सन्निपात—दोनों हाथों का परस्पर आघात।

निःशब्द क्रियाएँ भी निम्नोक्त प्रकार की होती हैं—

आवाप—हाथों को ऊपर उठाकर उंगलियों को कुंचित करना।
निष्क्राम—हथेलियों को अधोन्मुख रखकर ही ६ उंगलियों को फैलाना।
विक्षेप—हथेली को ऊपर करके उंगलियों को फैलाकर दायीं ओर हाथ ले जाना तथा
प्रवेश—हथेली को अधोन्मुख करके उंगलियों को कुंचन करना।

ग्रह—

गीत एवं ताल आरंभ दोनों सम काल या आगे पीछे होना संगीत प्रयोग में आज भी देखा जा सकता है, यही ग्रह के प्रकार कहलाते थे। प्राचीन काल में भी इतना अधिक प्रचार था कि इसे उचित व्यवहार वादन की पद्धति (Technique) के अन्तर्गत रखा गया था। ग्रहों के भी चार प्रकार बताए गए थे यथा—समग्रह—जब गीत एवं ताल का एक साथ आरंभ हो, अतीत ग्रह—गीतारंभ होने के पश्चात् ताल का आरंभ हो, विषमग्रह—अनियमित रूप से गीत ताल

गुरु का नाम (२) दो तालों के वर्धन करने के लिये हर एक अंग को दुगना चौगनादि करने की कला (३) निःशब्द क्रिया।

१—देखिये—वासुदेव शास्त्री 'संगीत शास्त्र' तालाध्याय।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

का आरंभ हो तथा अनागत ग्रह—गीत के आरंभ के पूर्व ताल का आरंभ हो। इन्हीं के पर्यायवाची नाम क्रमशः समपाणि, अवपाणि, विषमपाणि एवं उपरिपाणि हैं।

उक्त वर्गीकरण अथवा ग्रह की विविधता से यह तात्पर्य नहीं लेना चाहिये कि प्रत्येक का उपयोग आवश्यक ही है। इसका यह अर्थ होता है कि संगीत में सौन्दर्य एवं रस वृद्धि के लिये कभी कभी ग्रहों के सम प्रकार के अतिरिक्त अन्य प्रकारों का भी प्रयोग कर लिया जाये। आज भी गायन वादन में सम ग्रह के अतिरिक्त ग्रहों का बहुल प्रयोग अशास्त्रीय एवं बेताला ही समझा जाता है जो उचित भी है।

यति——

द्रुत, मध्य एवं विलंबित लयों की सुन्दरता से मिलाने का मार्ग ही यति है। ये पांच प्रकार की होती हैं यथा—समयति ?–आदि, मध्य एवं अन्त सभी स्थलों पर एक ही प्रकार की लय रहती है। स्रोतोगता नदी के प्रवाह तुल्य यह रहती है। विलंबित, मध्य, द्रुत इस क्रम में लयों को मिलाया जाता है। गोपुच्छा—द्रुत, मध्य एवं विलंबित इस क्रम में लयों को मिलाना अथवा द्रुत, मध्य विलंबित इस क्रम की लय गोपुच्छा यति के अन्तर्गत रखी जाती है।[1]

लय——

द्रुत, मध्य एवं विलंबित ये तीन प्रकार की होती है जिनमें मध्य लय को "प्रमाण कला" कहा जाता है।

मात्रा—

निमेषों से मात्रा एवं मात्राओं के एकत्रीकरण से कलाएँ बनती हैं।

पाट——

"पाट" ताल वर्गीय वाद्यों पर बजने वाले वर्णाक्षरों को कहा जाता है।

१—३१। पृ० ३८२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भरत ने 'तालाध्याय' में कुछ ताल प्रधान गीतों का भी १४ शुद्ध गीतकों के रूप में उल्लेख किया है। ये गीत आज प्रचार से लुप्त हो गये हैं। संगीत रत्नाकर तथा संगीतराज जैसे परवर्ती ग्रन्थों में इन्हें मार्ग संगीत के अंग के रूप में उल्लिखित किया गया है। ये १४ शुद्ध गीतक इस प्रकार हैं :—

शुद्ध गीतक

गीतक ७ भेद	प्रकरण
मद्रक, अपरान्तक, उल्लोप्यक प्रकरी, ओवेणक, रोविन्दक तथा उत्तर (शुद्ध गीतकों के चौदह भेदों का सम्मिलित नाम भी गीतक है।)	छन्दक, आसारित, वर्धमान पाणिका, ऋक्, साम, गाथा (उक्त तथा पूर्वोल्लिखित चौदहों को सम्मिलित संज्ञा प्रकरण भी दी जाती है।)

ऋक्, गाथा एवं साम को क्यों इनके अन्तर्गत रखा गया है, इसका अवश्य ही कोई विशिष्ट कारण होगा। संभवतः साम से भिन्न सामेतर गायन का जब विपुल प्रचार हो गया तो साम, ऋक् एवं गाथा आदि धीरे धीरे लुप्त होने लगे। इसी धार्मिक पक्षीय संगीत को पुनः स्थापित करने के उद्देश्य से ही इस वर्गीकरण के अन्तर्गत इन्हें भी रख दिया गया होगा। साम को सामेतर धार्मिक संगीत का अंग मानने का एक और भी कारण हो सकता है वह यह कि भरत तो 'गांधर्व' से 'साम' का संबंध बनाये रखते हैं एवं इसी 'गांधर्व' की दृढ़ प्रतिष्ठा के लिये ही साम के साथ संभवतः गांधर्व का संबंध जोड़ दिया है।

प्रत्येक शुद्ध गीतकों में किस रूप में कौन सा ताल प्रयुक्त किया जाये इसका उल्लेख भरत के इसी तालाध्याय में देखा जा सकता है। 'तालाध्याय' स्वयं इतना विस्तृत क्षेत्र रखता है कि वह एक स्वतंत्र अनुसंधान का विषय है। यहाँ तो यही कहना पर्याप्त होगा कि भरत काल में तालों का अत्यधिक प्रचार था एवं तालप्रधान गीत भी प्रचार में थे। तालों के विविध क्षेत्रों में नाट्य एवं संगीत दोनों ही इसके आश्रित माने जा सकते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संगीत में तो विशेष रूप से ताल का महत्व होता है क्योंकि गीत, वाद्य एवं नृत्य तीनों ही को यह एक लयात्मक आकार प्रदान करता है। ताल के बिना संगीत नीरस सा लगने लगता है एवं कुछ अव्य-स्थित भी हो जाता है। संभवतः यही कारण था कि भरत ने प्रारंभ ही में गांधर्व की व्याख्या करते समय यह कह देना ठीक समझा था कि गांधर्व, स्वर ताल एवं पद के आश्रित होता है।[1] स्वर से तत् और सुषिर वाद्यों का सम्बन्ध था, अतः तत का वाद्यों के साथ भी वही संबंध था जो गीत के एवं पदों के साथ भी। नृत्य तो स्वयं ही नाट्य का अंग या अभिनय है,। उसमें तो ताल का प्रयोग अनिवार्य ही था क्योंकि 'गति' का सर्वाधिक उपयोग नृत्य ही में किया जाता है। समकालीन उल्लेखों द्वारा भी इसकी परिपुष्टि की जा सकती है। रामायण के संगीतोल्लेख गांधर्व में निहित इन तत्वों की पुष्टि का सबल प्रमाण है।[2]

निष्कर्ष स्वरूप यह कहना अनुचित न होगा कि ताल भरत द्वारा इतनी बिस्तृत व्याख्या स्वतः ही यह मानने को बाध्य करती है कि उस काल में संगीत के सभी पहलुओं का विकास हो चुका था। सामान्य गीत-वाद्य-नृत्य व्हहार के प्रयोगों को देखकर उनका नाट्य में भी प्रयोग बताया गया एवं तभी उनके शास्त्रीय वर्गीकरण की भी आवश्यकता प्रतीत हुई।

नाट्य शास्त्र में ध्रुवा—

नाट्य के अन्तर्गत विभिन्न परिस्थितियों में प्रयुक्त होने वाले गीतों का 'ध्रुवा' के नाम से विवरण भरत ने अपने ग्रन्थ के बत्तिसवें अध्याय में दिया है। नाट्य से स्वतंत्र गीत में ध्रुवाओं का उपयोग नहीं समझा जा सकता। इसीलिये नाट्य से निरपेक्ष संगीत के ग्रन्थों में कहीं भी ध्रुवाओं का उल्लेख प्राप्त नहीं होता। भरत की ध्रुवाओं से यह अनुमान कदापि नहीं लगाना चाहिये कि उस काल में संगीत की कोई स्वतंत्र रचनाएँ प्रचार में रही ही न होंगी। जब नाट्य के

१—अ० २८ देखिये २८।८-१२।

२—द्रष्टव्य 'रामायण का संगीत'।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एक अंग के रूप में प्रयुक्त होने वाले गीत या ध्रुवा का इतना विस्तृत विवरण भरत ने दिया है तो इससे यह अनुमान करना भी भ्रामक न होगा कि नाट्य से स्वतंत्र संगीत में भी इसी प्रकार नियमबद्ध रचनाएं अवश्य ही प्रचार सम्मत रही होंगी जिनका संभवतः स्वतंत्र अस्तित्व होने से अथवा जिनके नाट्य से संबंधित न होने के कारण जिन्हे भरत ने अपने ग्रन्थ में स्थान नहीं दिया। यहीं कारण था कि परवर्त्ती लगभग सभी ग्रन्थकारों ने 'ध्रुवा' को छोड़ दिया। केवल मात्र नान्यदेव[1] ने ही ध्रुवाओं का भरत की ही भांति उल्लेख किया। परन्तु वहाँ भी प्रबंध से उसे पृथक् रखकर नाट्य से ही उसका संबंध जोड़ा है।

ध्रुवाओं के विषय में भरत के विवरण को संक्षेप में इस प्रकार देखा जा सकता है। ध्रुवाओं के संबंध में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह प्रकाशित होता है कि इनके अंग रूप में कई एक शुद्ध गीतकों अथवा उनके अंगों को भी जोड़ दिया गया है, यथा—वैहायसिक, महाजनिक, संधि, संहरण प्रतिमुख, भाष इत्यादि। नाट्यगत ध्रुवाओं में परस्पर कोई पूर्वापर संबंध नहीं होता। पाँच प्रकार की प्रमुख ध्रुवाएँ भरत ने बतायी है--प्रावेशिकी, आक्षेपिकी, प्रासादिकी, अन्तरा एवं नैष्क्रामिकी।

इनके विषय में भरत का यह कथन है कि कुलाचारादि के अनुसार मनुष्यों के नाम जिस प्रकार देखे जाते हैं, उसी प्रकार स्थान एवं आश्रय अर्थात् नाट्यगत अवस्था के अनुसार ध्रुवाओं का भी नाम रखा गया है। नाट्य में प्रवेश के समय जो गायन हो वह प्रावेशिकी, अंक के अन्त में निष्क्रमण के समय गाया जाये वह नैष्क्रामिकी, क्रम का उल्लंघन करके द्रुत लय में नृत्य विधि के साथ जो गायन हो वह आक्षेपिकी तथा जिससे रंग, राग एवं प्रसाद का उद्भव हो वह प्रासादिकी ध्रुवा, तथा विषाद, विस्मरण, क्रोध, मद, मूर्च्छा आदि में जो गायन हो वह सान्तरा अथवा अन्तरा ध्रुवा के अन्तर्गत आयेगा।

१—नान्यदेव का 'भरतभाष्य' देखिए।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ध्रुवाओं के पुनः ६ प्रकार बताये हैं—शीर्षक जो शिरः स्थानीय हो, उद्धता—अनुबंध जिसका प्रयोग नाट्योपचार जनित मध्यम, अधम जाति के अनुसार होता हो। विलंबिता जिसमें विलंबित संचार हो, अड्डिता—जिसका उत्कट स्वरूप हो "उत्कटगुणा शृंगारसंभवा", तथा अपकृष्टा—कारुण्ययुक्ता। उत्तम, अधम पात्रानुसार ध्रुवाओं का प्रयोग करना चाहिये। इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न परिस्थितियों से भी ध्रुवाओं का संबंध जोड़ा है। उदाहरण स्वरूप—बद्ध, निबद्ध, पतित ? व्याधित, मृत आदि परिस्थितियों में अपकृष्टा ध्रुवा का प्रयोग। औत्सुक्य, अवहित्था, करुण रस, चिन्ता, श्रम, दैन्य, विषाद आदि में स्थिरा ध्रुवा का प्रयोग। उत्पात, संभ्रम, अमर्ष, अद्भुत, शेष, रौद्र, वीरादि रसों में द्रुता ध्रुवा। प्रसादन, अनुसरण, गर्व, प्रार्थना, शृंगारादि में मध्य लयाश्रया प्रासादिकी ध्रुवा तथा संभ्रम, उत्पात, विस्मय आदि में अन्तरा ध्रुवा का प्रयोग करना चाहिये। भरत ने सब उदाहरण अवश्य दिये हैं, किन्तु एक सामान्य नियम यह भी बताया है कि अर्थ, विधि, देश, काल, प्रकृति, भाव एवं लिंगादि को देखकर यथा योग्य ध्रुवाओं का प्रयोग करना चाहिये। ध्रुवा में तीनों लयों, छन्द, रस, भावादि तत्वों का समावेश करके भरत ने ध्रुवा विधान बनाया है।

ध्रुवाओं की, प्रयोग में चार जातियाँ बताई गई है—द्रुता, चपला, उद्गता या अपकृष्टा एवं धृति। चारो में निम्न तीन प्रकार के, वृत्ति प्रयोग में आ सकते हैं यथा—गुरुप्राय, लघुप्राय एवं गुरु लघ्वक्षर। ८ अक्षरों के वृत्तों से प्रारंभ करके भरत ने ६४ ध्रुवाएँ विभिन्न छोटे बड़े वृत्तों की ध्रुवा बताई है। इस प्रकार ध्रुवाओं के इन भेदों का सीधा संबंध पदगत वृत्त से हैं।

ध्रुवाओं के उक्त संक्षिप्त विवरण से यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि संगीत में भी जो स्वतन्त्र रचनाएँ होती थी उनका भी गीत के पद रस, भावादि के अनुकूल गायन ही प्रशस्त होगा। 'प्रबंध'[1] ऐसी ही स्वतंत्र रचना होती है जो नाट्य से पृथक् होती है। नाट्य में गीत का प्रयोजन बताते हुये इसी अध्याय में[2] एक स्थल पर भरत ने

१—मतंग का प्रजंधाध्याय

२—३२। ३७५

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण बात कही है। जिससे गीत, का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। भरत का कथन है कि जो बात वाक्यों द्वारा नहीं कही जा सकती उसे गीत से कहनी चाहिये। जब गीत को इतना उच्च स्थान प्राप्त था तो अवश्य ही नाट्य से पृथक् गीत भी बहुत उच्च कोटि का रहा होगा।[1]

इसी अध्याय के अन्त में गायक के गुण दोष तथा कण्ठ स्वरादि की विशेषताओं पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है यथा—

गायकों एवं वादकों के गुण दोष—

संगीत संबंधी सूचनाओं के अन्तर्गत गायकों, वादकों के गुणों को भी देखा जाना चाहिये। भरत ने अपने समय के प्रचलित संगीत एवं संगीतकारों की योग्यताओं पर भी प्रकाश डाला है।

गायक को युवा होना चाहिये, मधुर स्वभाव एवं स्निग्धकण्ठ स्वर से युक्त होना चाहिये। गायक को लय, ताल कला विभाग उसके विभिन्न प्रमाणादि का ज्ञान तथा उनका उचित प्रयोग जानना चाहिये।[2]

गायकों के साथ ही गायिकाओं की भी विशेषताएँ बताई हैं। सुन्दरी, गुणवती, हृष्ट पुष्ट, कोमल, मधुर कण्ठी, स्निग्ध कण्ठी, शुभ स्त्री कभी भी घबराती नहीं तथा वह गायन के ताल लयादि में निपुण होती है, इसके अतिरिक्त संगीत संबंधी वाद्यों के अनुसार करणों का नियंत्रण करने में भी वह समर्थ होती है।[3]

वीणा वादक के गुण—

वीणा वादकों का पाणि, लय, यति आदि तथा गीत के विभिन्न प्रकारों में उनके उचित प्रयोग का ज्ञान होना चाहिये। उनका हाथ वादन में मीठा एवं हलका होना चाहिये तथा एक अच्छे गायक के गुण भी होने चाहिये। एकाग्रचित्त होना चाहिये तथा अन्य वाद्यों की

१—३१।४५८

२—३२।४५९

३—३२।४६०–६१

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ध्रुवाओं के पुनः ६ प्रकार बताये हैं—शीर्षक जो शिरः स्थानीय हो, उद्धता—अनुबंध जिसका प्रयोग नाट्योपचार जनित मध्यम, अधम जाति के अनुसार होता हो। विलंबिता जिसमें विलंबित संचार हो, अड्डिता—जिसका उत्कट स्वरूप हो "उत्कटगुणा शृंगारसंभवा", तथा अपकृष्टा—कारुण्ययुक्ता। उत्तम, अधम पात्रानुसार ध्रुवाओं का प्रयोग करना चाहिये। इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न परिस्थितियों से भी ध्रुवाओं का संबंध जोड़ा है। उदाहरण स्वरूप—बद्ध, निबद्ध, पतित ? व्याधित, मृत आदि परिस्थितियों में अपकृष्टा ध्रुवा का प्रयोग। औत्सुक्य, अवहित्था, करुण रस, चिन्ता, श्रम, दैन्य, विषाद आदि में स्थिरा ध्रुवा का प्रयोग। उत्पात, संभ्रम, अमर्ष, अद्भुत, शेष, रौद्र, वीरादि रसों में द्रुता ध्रुवा। प्रसादन, अनुस्मरण, गर्व, प्रार्थना, शृंगारादि में मध्य लयाश्रया प्रासादिकी ध्रुवा तथा संभ्रम, उत्पात, विस्मय आदि में अन्तरा ध्रुवा का प्रयोग करना चाहिये। भरत ने सब उदाहरण अवश्य दिये हैं, किन्तु एक सामान्य नियम यह भी बताया है कि अर्थ, विधि, देश, काल, प्रकृति, भाव एवं लिंगादि को देखकर यथा योग्य ध्रुवाओं का प्रयोग करना चाहिये। ध्रुवा में तीनों लयों, छन्द, रस, भावादि तत्वों का समावेश करके भरत ने ध्रुवा विधान बनाया है।

ध्रुवाओं की, प्रयोग में चार जातियाँ बताई गई है—द्रुता, चपला, उद्गता या अपकृष्टा एवं धृति। चारो में निम्न तीन प्रकार के, वृत्ति प्रयोग में आ सकते हैं यथा—गुरुप्राय, लघुप्राय एवं गुरु लघ्वक्षर। ८ अक्षरों के वृत्तों से प्रारंभ करके भरत ने ६४ ध्रुवाएँ विभिन्न छोटे बड़े वृत्तों की ध्रुवा बताई है। इस प्रकार ध्रुवाओं के इन भेदों का सीधा संबंध पदगत वृत्त से हैं।

ध्रुवाओं के उक्त संक्षिप्त विवरण से यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि संगीत में भी जो स्वतन्त्र रचनाएँ होती थी उनका भी गीत के पद रस, भावादि के अनुकूल गायन ही प्रशस्त होगा। 'प्रबंध'[1] ऐसी ही स्वतंत्र रचना होती है जो नाट्य से पृथक् होती है। नाट्य में गीत का प्रयोजन बताते हुये इसी अध्याय में[2] एक स्थल पर भरत ने

१—मतंग का प्रबंधाध्याय

२—३२। ३७५

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण बात कही है। जिससे गीत, का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। भरत का कथन है कि जो बात वाक्यों द्वारा नहीं कही जा सकती उसे गीत से कहनी चाहिये। जब गीत को इतना उच्च स्थान प्राप्त था तो अवश्य ही नाट्य से पृथक् गीत भी बहुत उच्च कोटि का रहा होगा।

इसी अध्याय के अन्त में गायक के गुण दोष तथा कण्ठ स्वरादि की विशेषताओं पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है यथा—

गायकों एवं वादकों के गुण दोष—

संगीत संबंधी सूचनाओं के अन्तर्गत गायकों, वादकों के गुणों को भी देखा जाना चाहिये। भरत ने अपने समय के प्रचलित संगीत एवं संगीतकारों की योग्यताओं पर भी प्रकाश डाला है।

गायक को युवा होना चाहिये, मधुर स्वभाव एवं स्निग्धकण्ठ स्वर से युक्त होना चाहिये। गायक को लय, ताल कला विभाग उसके विभिन्न प्रमाणादि का ज्ञान तथा उनका उचित प्रयोग जानना चाहिये।[2]

गायकों के साथ ही गायिकाओं की भी विशेषताएँ बताई हैं। सुन्दरी, गुणवती, हृष्ट पुष्ट, कोमल, मधुर कण्ठी, स्निग्ध कण्ठी, शुभ स्त्री कभी भी घबराती नहीं तथा वह गायन के ताल लयादि में निपुण होती है, इसके अतिरिक्त संगीत संबंधी वाद्यों के अनुसार करणों का नियंत्रण करने में भी वह समर्थ होती है।[3]

वीणा वादक के गुण—

वीणा वादकों का पाणि, लय, यति आदि तथा गीत के विभिन्न प्रकारों में उनके उचित प्रयोग का ज्ञान होना चाहिये। उनका हाथ वादन में मीठा एवं हलका होना चाहिये तथा एक अच्छे गायक के गुण भी होने चाहिये। एकाग्रचित्त होना चाहिये तथा अन्य वाद्यों की

१—३१।४५८

२—३२।४५९

३—३२।४६०–६१

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संगीत के साथ गायन करने की क्षमता होनी चाहिये। मधुरकण्ठी, परिश्रमी तथा करणों, वृत्तियों आदि के यथोचित प्रयोग में निपुण होना चाहिये।[१]

वेणु वादकों के गुण—

वेणु वादकों को सचेत एवं दोष रहित होना चाहिये। गीत व लय का उचित ज्ञान तथा साथ ही अन्य वाद्यों की संगीत में कुशल गायन की क्षमता आवश्यक है। तथा ऐसे स्वर को उत्पन्न करने के लिये जो मधुर होने के साथ ही गंभीर, तेज भी हो, दृढ़ एवं मजबूत सशक्त श्वास भी होनी चाहिये।[२]

इस प्रकार वेणु का संगीत दृढ़, चलित, अविच्छिन्न तथा वर्ण अलंकारों की अभिव्यक्ति के योग्य, मधुर, होना चाहिये तथा उसमें यह योग्यता भी हो कि वह कार्यक्रम के दोषों को ढकने में भी समर्थ हो।[३]

पुरुष एवं स्त्री गायन तथा पाठ्य की भिन्नता—

सामान्यतः गायन स्त्री कण्ठ पर ही अधिक शोभित होता है। इसके विपरीत पाठ्यादि स्वभावतः पुरुषों पर ही फलता है। क्योंकि स्त्रियों की आवाज स्वाभाविक ही मधुर एवं पुरुषों की बलशाली या सशक्त होती है। स्त्री के पाठ्य में गुण एवं पुरुषों के गायन में मधुरता जब हो तब वह स्वाभाविक नहीं वह सहायक गुण कहा जाता है। इससे यह मालूम होता है कि एक समय मधुर गायन पर स्त्रियों का ही अधिकार था। इसी से मृच्छकटिक में[४] मैत्रेय चारुदत्त द्वारा रेविल के गायन की प्रशस्ति को समर्थन नहीं करता। चारुदत्त स्वयं ही यह भी कहता है कि यदि रेविल को वह मंच पर गाते न देखता तो उसे स्त्री ही समझता।[५]

१—३२।४०२

२-३—३२।४६३–६५

४—अंक ३ मम दाव दुवेहिज्जेव हस्सं जाअदि, इत्थिआए सक्कभं पठंतिए, मणुस्मेण अ काअलिम् अ काअलिं गाअन्तेण।

५—अन्तर्हितो यदि भवेदवनितेति मन्ये वही० ॥

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यदि पुरुष गायन में नेता होता है एवं गायन अच्छी विशेषताओं से युक्त होता है परन्तु मधुरता न हो तो कार्यक्रम की शोभा नहीं बढ़ेगी। इसलिये स्त्रियों का गायन स्वाभाविक सफल होता है एवं पुरुषों का पाठ्य। स्त्रियों के गायन वादन में किसी स्वर का वर्ज्य होना दोष पूर्ण नहीं भी माना जा सकता, किन्तु पुरुषों द्वारा ऐसा हो जाये तो कर्णकटु ही प्रतीत होगा।

शिक्षकों के गुण—

गुरु की स्मरण शक्ति, मति, तर्कशक्ति, मेधा आदि उसके गुण हैं तथा शिष्य को शिक्षा देने की योग्यता उसमें होनी चाहिये।

शिष्यों के गुण—

बुद्धि स्मरण शक्ति, श्लाघा कार्य के प्रति लगन, संघर्ष-शक्ति उत्साहादि शिष्यों के गुण माने जाते हैं।

कण्ठस्वर के गुण—

मधुर, तीव्र कोमल तथा तीन स्थानों में भली भाँति शोभित होने वाला कण्ठ सुन्दर माना जाता था। जो स्वर दूर से ही सुनाई पड़ जाये वह श्रावक है। श्रावक ध्वनि जो मधुर हो परंतु विस्तृत न हो वही घन कहलाती है। वह ध्वनि जो श्रावक होने पर भी कर्कश न हो स्निग्ध कहलाती है। जब तार स्थान में भी कण्ठ स्वर अस्थिर न हो वह मधुर होता है। कण्ठ की वह ध्वनि जो अवधानवान कहलाती है उसमें निरंतरता रहती है या सावधानी रहती है। कण्ठ, मूर्धा एवं नाभि से निकलने वाले स्वर त्रिस्थान शोभित होते है।

गायकों के दोष—

कपिल, अव्यवस्थित, अस्थिर, संदष्ट या दाँत पीस कर, तुम्बकी, नाक से गाना आदि गायकों के दोष हैं।

जब अस्वाभाविक कण्ठ स्वर हो जाता है तो वह कपिल कहलाता है। कण्ठ में कफ जमा हो उससे निकली ध्वनि भी कपिल कहलायेगी। अस्थिर कण्ठस्वर के अन्तर्गत स्वर का अनियमित होना आता है, या दृढ़ता की कमी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस प्रकार ग्रन्थ के ३२वें अध्याय के ४५८ से ४८३ श्लोकों के अन्तर्गत भरत ने उक्त बातों की चर्चा की है। उक्त उल्लेखों से यह निष्कर्ष स्वाभाविक रूप से स्वतः ही निकल आता है कि ईसा पूर्व एवं ई० प० की शताब्दियों में संगीत अत्यंत विकसित हो गया था। इसका प्रयोग सर्वव्यापी था। गुरु शिष्य परंपरा आदि निश्चित सुदृढ़ हो चुकी थी। यदि यह परंपरा इतनी सुदृढ़ न होती तो कदाचित् ग्रंथकार को इस प्रकार के वर्गीकरण करने की आवश्यकता नहीं होती। शिक्षकों का संभवतः यह उत्तरदायित्व रहता होगा कि वे शिष्य को शिक्षित करते समय उसके दोषों की ओर भी ध्यान देकर उसे समाप्त करें।

नाट्यशास्त्र में अवनद्ध वाद्य

भरत काल में पूर्वोक्त चतुर्विध वाद्य ज्ञात थे। भरत ने अपने ग्रन्थ में प्रत्येक वर्ग की भिन्न-भिन्न चर्चा की है। अवनद्ध वर्ग के वाद्यों के विषय में ग्रन्थ के संगीत सम्बन्धी अन्तिम तैंतीसवें अध्याय से सूचना मिलती है। इस अध्याय से इन वाद्यों के प्रकार, इनकी विशेषताएं तथा इनके उपयोग के विषय में ज्ञान प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त मृदंग, पणव एवं दर्दुर या त्रिपुष्करों के वादन के विषय में विशेष रूप से सामग्री प्राप्त की जा सकती है। यद्यपि इस अध्याय का प्रारंभ करते ही भरत यह कहते हैं कि स्वाति एवं नारद ने भी गांधर्व एवं वाद्यों की चर्चा की है, तथापि इनके कोई भी ग्रन्थ आज प्राप्त नहीं। भरत के पूर्व किसी अन्य लेखक ने भी इनका उल्लेख इस प्रसंग में नहीं किया है।[1] भरतकृत-इस ग्रन्थ के इस अध्याय को संक्षेप में इस प्रकार देखा जा सकता है। अवनद्ध वाद्यों से संबंधित लगभग सभी तथ्यों का भरत ने इस अध्याय में इतना विस्तृत एवं अपने में पूर्ण विवेचन कर दिया है कि परवर्त्ती ग्रन्थों में नवीन अंश बहुत कम ही मिलेंगे। इस तथ्य से यह बात एकदम स्पष्ट हो जाती है कि अवनद्ध वर्ग के वाद्यों का कितना महत्त्व एवं सर्वव्यापी क्षेत्र था। अवनद्ध वर्ग के वाद्यों के लिये पुष्कर संज्ञा का भरत ने प्रयोग किया है।[2]

१—३३।५२५।

२—अध्याय ३३ देखिये।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पुष्करों की उत्पत्ति--

भरत इस कथन से प्रारंभ करते हैं कि वे स्वाति द्वारा बताये गये पुष्करों की उत्पत्ति एवं विकास के विषय में संक्षिप्त चर्चा करेंगे। इनकी उत्पत्ति के विषय में एक मनोरंजक कथा कही गई है जो इस प्रकार है—

वर्षाकालीन अवकाश के समय एक बार स्वाति पानी लाने एक झील के समीप गये। उनके जाने के पश्चात् ही इन्द्र ने भीषण वर्षा द्वारा जगत् को समुद्र बनाना प्रारंभ किया। उस समय इस झील में जल की भीषण धार हवा के वेग से कमल पत्तों पर गिरकर स्पष्ट ध्वनि उत्पन्न कर रही थी। स्वाति ने इस ध्वनि को अचानक ही सुना एवं आश्चर्यजनक समझकर ध्यान से देखा। जब उन्होंने तार, मध्य एवं मंद्र ध्वनियाँ मधुर रूप में सुनी तो वापस कुटिया लौट आये एवं वहाँ जाकर मृदंग का चिन्तन किया। तब पुष्कर वाद्यों यथा पणव दर्दुरादि का विश्वकर्मा की सहायता से चिन्तन किया। देवताओं की दुन्दुभि को देखकर उन्होंने मुरज, आलिंग्य, ऊर्ध्वक, नामक एवं आंकिकादि पुष्कर प्रकार बनाये। इसके बाद सभी को चर्म से मढ़कर उसे तारों द्वारा बाँध दिया और तब अन्य पुष्करों जैसे झल्लरी[1], एवं पटह को भी बनाकर चर्म द्वारा आच्छादित किया।

भरत ने अवनद्ध वाद्यों में मृदंग, पणव एवं दर्दुर को प्रधान अंग या प्रमुख वाद्य माना तथा झल्लरी, पटहादि को गौण। इसी प्रकार तंत्री वाद्यों में विपंची एवं चित्रा को तो प्रमुख एवं कच्छपी एवं घोषका[2] को गौण अंग माना है। कच्छपी वीणा संभवतः एक-तंत्री एवं कच्छपाकार वीणा थी एवं घोषका संभवतः तानपूरे की भाँति स्वर वाद्य था।[3] सुषिर वाद्यों में वेणु या वंश को प्रमुख अंग एवं शंख तथा डक्किनी गौणांग माना है। यह विभाजन किस आधार पर किया इसका कोई सूत्र नहीं मिलता। संभवतः गांधर्व में इसके विविध

१—यह बिना किसी गहन रचना का छोटा पुष्कर यह 'खंजरी' के सदृश वाद्य माना जा सकता है।

२—घोषवती वीणा का भास के नाटकों में भी उल्लेख आता है।

३—म० घो० का अनुवाद अ० ३३ भरत

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रयोग एवं स्वर संबंधी तथा बहुल प्रयोग के कारण ये भेद किये गये थे। आज भी कुछ वाद्यों को प्रमुख मानने का यही आधार देखा जा सकता है। यथा—तबले, सितार, तानपुरा, वेणु, मंजीरे आदि के बहुप्रयोग के कारण वे आज मुख्य वाद्य माने जाते हैं। वीणा का प्रचार कम हो गया है। इसका स्थान सितार-(जो संभवतः "चित्रा-वीणा" का ही रूपान्तर है) के प्रचार ने ले लिया है।

पुष्करों का प्रयोग—

नाट्य में लगभग सभी वाद्यों का प्रयोग समय, स्थिति, संवेग, भावों के औचित्य एवं अनुकूलता को देखकर किया जाता है। उदाहरणस्वरूप कुछ अवसर-विशेषों का उल्लेख भी कर दिया है। ये अवसर न केवल नाट्य में वरन् दैनिक जीवन के भी महत्वपूर्ण अंग माने जाते हैं। इन अवसरों पर वाद्य वादन आवश्यक-प्राय होता है, ऐसा प्रचार में देखकर अनुमान किया जाता है।

उत्सवों में, राजकीय जुलूसों में, मंगलकार्यों में, शुभ अवसरों पर, विवाह, पुत्रजन्मोत्सव पर, युद्ध क्षेत्र एवं ऐसे ही अन्य स्थलों पर वाद्यों का वादन अभिप्रेत था। इनकी पुष्टि समकालीन साहित्योल्लेखों तथा पुरातात्विक अवशेषों से भी हो जाती है। साधारण घरेलू कार्यों एवं अवसरों पर कम संख्या में वाद्यों का वादन करना चाहिये। अभिनय एवं नाटकादि के अवसरों पर सभी वाद्यों का सम्मिलित वादन होना चाहिये।

कार्यक्रम के विभिन्न अंगो का सन्तुलित (Hormonious) मिश्रण करते समय एवं परस्पर त्रुटियों को छिपाने के लिये भी वाद्य वादन किया जाता था।

पुष्करों का सामान्य वर्णन—

अवनद्ध वाद्यों की वादन विधि (Technique) में भी करण एवं जातियों का प्रयोग निहित होता है। पुष्करों के लगभग १०० प्रकार होते हैं। भरत केवल मुख्यांग त्रिपुष्करों की ही विशेषताएं बताते हैं, क्योंकि तीनों की ध्वनि इस वर्ग के अन्य वाद्यों की भांति कर्कश नहीं होती। इस वर्ग के अन्य गौणांगों में कोई स्वतंत्र स्वर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उत्पन्न करने की शक्ति नहीं होती, उसमें नियमित आघात एवं वर्णोत्पत्ति की जरूरत भी नहीं होती तथा मार्जना या स्वर मिलाने की विधि की भी आवश्यकता नहीं होती। भेरी, पटह, झंझा, डिण्डिम एवं दुन्दुभि वादन में उनके संकरे एवं विस्तृत तल भाग से उत्पन्न ध्वनि की गहराई ही आवश्यक होती है अर्थात् कितनी तीव्र व दूर तक उसकी ध्वनि जा सकती है। नाट्य में इनका उपयोग समयानुकूल होना चाहिये। भरत ने चूँकि गौण माना अतः विस्तृत विवरण केवल त्रिपुष्करों का ही दिया है।

छन्द प्रयोग--

छन्द दो प्रकार के बताये गये हैं। एक तो केवल स्वरों से संबंधित होते हैं दूसरे सार्थक अक्षरों से संबंधित होते हैं। द्वितीय प्रकार के छन्द अनेक भावों एवं रसों की उत्पत्ति में समर्थ होते हैं एवं स्वरों से संबंधित छन्द अनेकानेक वाद्यों पर आधारित होते हैं। मानवीय शारीर वीणा में सात स्वर होते हैं। जो संगीत संबंधी वाद्यों को भी स्वर प्रदान करते हैं। यहाँ से प्रथमोत्पन्न स्वर काष्ठ वीणा में प्रविष्ट होकर पुष्करादि ठोस वाद्यों में जाता है। गायन या वीणादि में जो स्थान स्वरों का है इन अवनद्ध वाद्यों में वही अनेक गतियों द्वारा किये गये विभिन्न आघातों का होता है। मानवीय शरीर बीणा में अनेक करणों के साथ 'वाष्करण'[1] का प्रयोग भी होना चाहिये यथा 'झेण्टु जगति कात'[2] इत्यादि। वीणादि में जब इन आघातों का प्रयोग करते हैं तो वह युद्ध क्षेत्रादि में बजाने योग्य कहलाती है।

गायक जिन स्वरों का गायन करें उन्हे वाद्यों से भी उत्पन्न करना चाहिये। लघु, गुरु वर्णों का भी निहित होना आवश्यक है। जिससे यति व पाणि को अभिव्यक्त किया जा सके। आज संगीत में जब भिड़न्त की जाती है तो ठीक यही तथ्य सामने आता है। जैसी तान स्वरों द्वारा निकाली जाती है ठीक उसी का प्रत्युत्तर या वही रूप वाद्यों में भी निकालने का प्रयत्न करना श्लाघनीय समझा जाता है।

१—आधुनिक तबला के या ढोलों के बोल सदृश लगता है।

२—३३।३४

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पुष्करों के विभिन्न पहलू—

भरत ने पुष्कर वाद्यों में तीन प्रमुख अंगों या त्रिपुष्करों के वाद्यों संबंधी नियम बताये हैं—१६ वर्णाक्षर या ध्वनियाँ, ४ मार्ग, विलेपन, ६ करण, तीन यतियाँ, तीन लय, तीन गति, तीन प्रचार, तीन योग, तीन पाणि, तीन पाणि प्रहत, तीन प्रहार, तीन मार्जनाएँ, अष्टादश जाति तथा बीस प्रकारादि वादन के मुख्य तत्त्व हैं। इनकी व्याख्या इस प्रकार संक्षेप में की जा सकती है :—

१६ वर्णाक्षर या ध्वनियाँ जो पुष्करों में बोल का कार्य करती हैं वे क, ख, ग, घ, ट, थ, ड (ण) त, थ, द, ध, म, र, ल एवं ह है। आज के बोलों में इससे अधिक वृद्धि तो नहीं है कुछ अक्षर घट अवश्य गये हैं। जैसे—ख, म, ल, ह आदि कुछ ऐसे ही अक्षर हैं जो आज के पाटाक्षरों में नहीं हैं।

चार मार्गों के अन्तर्गत अड्डित जो अलिंग्य एवं मृदंग के सम्मिश्रित आघातों से संबंधित होता है, आलिप्त जो वामक एवं ऊर्ध्वक के आघातों से, विस्तृत जो ऊर्ध्वक एवं आँकिक के दाये मुख के आघातों से तथा गोमुख मार्ग सभी पुष्करों के आघातो से संबंधित होता है। इनके कुछ उदाहरणों का भी उल्लेख यद्यपि दिया है किन्तु विस्तार-भय से उसे उद्धृत करना संभव नहीं है।[1]

करण—

छ करणों की व्याख्या से पूर्व यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि ये हस्ताघातों द्वारा निकलने वाले बोलों से संबंधित होते हैं। रूप-करण जब दो हाथो द्वारा 'धम खु खु ण धम······' आदि बजाया जाये। कृत प्रतिकृत में तीनों पुष्करों द्वारा एक ही करण बजाया जाये यथा धम धु खु ण खु धम······।। प्रतिभेद में मृदंगों के दो करणों को साथ बजाने के बाद उपरिकरण वादन हो यथा······धो धो णा खो···।। रूपशेष में करणों में विभेद या स्पष्टीकरण किया जाता है यथा—खु खु नो ण्ण···।। प्रतिशुष्क में मृदंग, पणव, दर्दुरादि वादकों

१—३३।४४-६२

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में एक संतुलन हो यथा घट मट त्थि दुण···॥ ओध या चतुष्क में सभी वाद्यों का द्रुत गति, ताल व लय में वादन होता है यथा··· ध किटि मंथिहि···॥

तीन यतियाँ कौन कौन सी होती हैं इन्हें देखा ही जा चुका है। 'लयन' एवं 'पाणि' के सम्मिश्रण विधि को 'यति' कहा जाता है। इसके तीन प्रकार शुद्ध, विद्ध एवं शव्यागत कहे गये हैं।

लय तीन प्रकार की द्रुत, मध्य एवं विलंबित होती है। पाणि भी सम, अर्ध एवं उपरिपाणि तीन प्रकार के कहे गये हैं,। इन करणो के सम्मिश्रण की तीन विधियां मानी जा सकती है। विभिन्न यतियों, लयों एवं पाणियों के मिश्रणाधार पर शुद्ध एवं विद्ध शव्यागतादि प्रकारों का निर्माण किया जाता है। वादन के साथ जब गायन प्रबल हो तो कौन सी यति प्रयुक्त की जाये एवं जब वादन प्रबल हो तो कौन सी, इस पर भी नाट्य की परिस्थितियों से संबधित संदर्भ में चर्चा की है। इससे यह तात्पर्य है कि रस, भावानुकूल लय, पाणि एवं यति प्रयोग किया जाना चाहिये। शान्त रस में द्रुत लयादि का प्रयोग किसी भी प्रकार उचित नहीं प्रतीत होगा इसी प्रकार वीर, रौद्र रसों में बिलंबित लयादि प्रयोग भी अनुकूल नहीं होगा।

मार्जनाएं संभवतः वाद्यों को मिलाने की शास्त्रीय विधि संबंधित होती थी। मायूरी, अर्ध मायूरी एवं कर्मारवी संभवतः त्रिपुष्करों के स्वरों से संबंधित मार्जनाएं थी। मायूरी मार्जना का उल्लेख कालीदास भी एक स्थल पर करते हैं।[1] वामक में दक्षिण, पुष्कर एवं ऊर्ध्वक में मायूरी मार्जना के स्वर क्रमशः ग, सा एवं म होते हैं। इसी प्रकार अर्ध मायूरी वामक, दक्षिण व ऊर्ध्वक में क्रमशः सा, रे एवं ध होंगे। कर्मारवी में क्रमशः रे, सा एवं ध होंगे। आलिंग्य में नि स्वर होगा जो उपर्युक्त सभी का अनुवादी स्वर होता है। अन्य सहायक स्वरों को उक्त प्रकार के पुष्करों में विलेपन के द्वारा उत्पन्न करना चाहिये। यह विलेपन ही वाद्य में शिथिलता एवं तनाव उत्पन्न करता है। इसी के द्वारा पीड़न या मार्दव से स्वर उत्पन्न करना चाहिये।

१—माल० वि० १. २४

२—३३।९८–१००

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विलेपन से तात्पर्य पुष्करों के मुख पर लेपन से है। यह लेपन मिट्टी या आटे दोनों का किया जा सकता है। इस कार्य के लिये किस प्रकार की मृत्तिका का प्रयोग हो यह भी बताया है। शर्कर, बालू, घास व अनाजादि के तृणों से रहित हो। नदी तट की काली मिट्टी जो सुन्दर हो जाती है वह मार्जना के अत्यधिक उपयोगी मानी गई थी। मिट्टी न प्राप्त हो तो इसके स्थान पर आटा, गेहूँ या जौ का प्रयोग किया जा सकता है। आज भी पखावज पर आटे का विलेप कर के बजाया जाता है परन्तु उचित लेप नदी तट की काली मिट्टी ही मानी जाती है। इसमें एक रसता नहीं होती।[1] तीन प्रकार का संयोग भी पुष्कर वादन का ही तत्त्व है। इसके अन्तर्गत लधु, गुरु एवं लघुगुरु संचय का समावेश होता है।[2]

वादन के अन्तर्गत तीन प्रकृतियों का भी उल्लेख किया है। ये तत्त्व अनुगत एवं ओघ हैं। तत्त्व प्रकृति के वादन में वादन एवं गायन का महत्त्व होता हैं। अनुगत प्रकृति में गीत का अनुकरण वाद्य करता है एवं उपरिपाणि से प्रारंभ कर किसी करण पर विश्राम नहीं करते।[3] 'ओघ' में वाद्य प्रधान और 'गीत' गौण होता है।

पाँच पाणि प्रहत के अन्तर्गत सम, अर्ध, अर्धार्ध, पार्श्व एवं प्रदे-शिनी-प्रहत आते हैं। अर्धपाणि में आधे हाथ से, अर्धार्ध में ढोल के चतुरार्ध पर, पार्श्वपाणि में एक तरफ से एवं प्रदेशिनी में तर्जनी से प्रहार किया है। ये आघात व्यवहार के अनुकूल नियंत्रित, अर्धनियंत्रित एवं स्वतंत्र भी हो सकते हैं। अवनद्ध वाद्यों से १६ वर्णाक्षर निकलते हैं। कुशल वादकों को इन्हीं के सम्मिश्रण से विभिन्न बोलों का निर्माण करना चाहिये।

पुष्कर वाद्यों के तीन प्रकार सम, विषम एवं समविषम का उपयोग मार्गों के साथ किया जा सकता है। इसमें दायें व बायें हाथो के विभिन्न तरीकों से आघात किये जाते हैं। इनका रसों से भी संवंध जोड़ा गया है जैसे श्रृंगार हास्य रसों में अङ्कित मार्ग में बजाया जाये। नृत्य के साथ जब वादन हो तब पात्रों की मुद्राओं

१—३३।१०७ पृ० ४४१

२—३३।१०८–६ तथा ३३।१५६–५६

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भावों, दशाओं आदि के अनुकूल प्रयोग हों। इसी प्रकार 'गीत' के साथ भी रस, भाव एवं शब्द रचना के अनुकूल वादन होना चाहिये।

पुष्कर वादन में अष्ट साम भी एक आवश्यक तत्त्व माना गया था। ये अष्ट साम्य इस प्रकार हैं–वर्ण साम्य–वादन में लघु गुरु वर्णों से युक्त छन्द में अनुकरण करना, अंग साम्य-जब गीत के तीनों अंगों ग्रह, मोक्ष, कला व अन्तर कलाओं का समान रूप से वादन में अनुसरण किया जाय, ताल साम्य-कला, मात्रा आदि के द्वारा गीत का अनुकरण किया जाता है, लय साम्य-तीनों लयों में वादन जब गीत का समान रूप से अनुकरण करे, यति साम्य-गीत की सम, स्रोतोगता व गोपुच्छा यतियों का जब अनुकरण वादन में किया जाये, ग्रह साम्य-गीत के साथ जब वेणु, अवनद्ध या तंत्री वाद्यों द्वारा एक सी श्रुतियों का ग्रह रखा जाता है, वेणु, वीणा के वादन में तथा गीत में भी न्यास उपन्यास एक से हों तब न्यास, अपन्यास, साम्य एवं वाद्य वादन में सम, अवपाणि, उपरिपाणि तीनों गीत का अनुकरण करते हैं। वह पाणिसाम्य होता है।[1]

वादन के अन्तर्गत १८ जातियों का भी समावेश होता है यथा-एक रूपा, शुद्धा, देशानुरूपादि, देशादपेतरूप, पर्याय, विष्कंभ, पार्ष्णिसमस्ता, दुष्कर, करण, ऊर्ध्वगोष्ठिका, उच्चितिका, एवं वाद्या मृदंग पणव, अवकीर्णा, अर्धावकीर्णा, संप्लवा एवं विधूत। करणों एवं हाथ के प्रचारों, भागों आदि के परस्पर विभिन्न मिश्रणों से ये १८ जातियां बनती हैं।[2]

पुष्करों की १८ जातियों से संबंधित प्रकारों के अन्तर्गत चित्र, सम, विभक्त छिन्न, छिन्नविद्ध, अनुविद्ध, स्वरूपानुगत, अनुसृत, विच्युत, दुर्ग, अवकीर्ण, अर्द्धावकीर्ण, एकरूप, परिक्षिप्त, साचीकृत, समुल्लेख, चित्रलेख, सर्वसमवाय, इंच ये भेद विभिन्न लयों, पाणियों एवं हाथो के अनक करणों, प्रकारों के प्रयोग वैभिन्न्याधार पर बनाये गये हैं,। इसका अन्य आधार भी है। विभिन्न पुष्करों के वादन में एक साथ वादन, भिन्न-भिन्न वादन या एक का अचानक रुक जाना

१—३३।११०-१५

२—३३।११६-१५२

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आदि भेद भी होते हैं। उदाहरण स्वरूप छिन्नविद्ध प्रकार वह है जिसमें मृदंग को अवपाणि तथा पणव को उपरिपाणि के साथ बजाया जाये जब सब वाद्य बजते-बजते अचानक द्रुत लय में बजता पुष्कर रुक जाये वह छिन्न प्रकार होगा।[1]

उक्त अंग के अतिरिक्त भरत ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि पुष्कर वाद्यों पर कौन कौन से व्यंजन एवं स्वर किस प्रकार किस तरफ के मुह पर किस हाथ से बजाया जाये। उदाहरणस्वरूप क, ट, र, त-आदि दायें मुख पर ग, ह, एवं ध बायें मुखपर बजेंगे। थ ऊर्ध्वक पर क, र, ण, बल आदि आलिंग्य वाद्य पर। व्यंजन व स्वरों के मिश्रणों की विधि पर भरत ने प्रकाश डाला है। कुछ ऐसे हैं जो स्वर संयोग के बिना भी प्रयुक्त किये जाते हैं।[2] हाथों के किस प्रकार के आघात से कौन सा वर्ण उत्पन्न होगा इसकी भी विशद चर्चा की है यथा—'कु' का वादन पुष्कर के मुख के ऊपरी सतह पर ऊंगलियों को चलाकर किया जाता है। ऊँगलियों को गोल घुमाकर बजाने से ख या क्ष बजेगा आदि। कुछ ध्वनियों का वादन पुष्करों के एक ही तरफ से, कुछ दोनों एवं कुछ तीनों तरफ से क्रिया जाता है। 'र' का सभी तरफ से किसी भी पुष्कर पर वादन संभव है। सुविधा के लिये द ध अलिंग्य व दक्षिण (दाया तबला के समकक्ष) द्वारा 'ग' गमक द्वारा बजाया जाता है। 'ध' को अलिंग्य पर भी बजाया जा सकता है। नियमों के प्रति-वादकों को आदर नहीं करना चाहिये।[3]

दर्दुर एव पणव का वादन[4] —

उपर्युक्त नियमों का पालन परंपरागत रूप से कुशल संगीतकारों को करना चाहिये। दर्दुर एवं पणव के वादन के विषय में स्वतंत्र चर्चा भी की है। इसका वादन दो प्रकार से हो सकता है। यथा–अति वादित, अनुवाद्य तथा समवादित। अतिवादित प्रकार वह है जिसमें कार्यक्रम से पूर्व पुष्कर का वादन होता है। जब कार्यक्रम के अनु-

१—३३।१८४–२०५

२—३३।४२—पृ० ४३४ तक

३—वही०

४—ना० शा० पृ० ४३६

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करण के रूप में मृदंग वादन होता है तब वह अनुवाद्य कहलाता है। जब मृदंगों का वादन कार्यक्रम के साथ-साथ होता है तो वह समवादित कहलाता है। पणव वादन के अन्तर्गत क, ख, ग, घ, र, व, आण, प्र, ह, नाद, ब्रहु लान, धा, हु आदि वर्णाक्षर प्रयुक्त होते हैं। इसी प्रकार कि रिघिण्टां धा धा[1]—आदि वर्ण भी पणव पर बजाये जाते हैं। छोटी तथा अंगूठी वाली उँगली के ऊपरी नोक के द्वारा कुशल वादकों को पणव पर विभिन्न करणों को प्रयुक्त करना चाहिये। पणव आवश्यकतानुसार कस लेना अथवा ढीला कर लेना चाहिये। वर्ण-ध्वनियों की उत्पत्ति के लिये अन्य ऊँगलियों का आघात भी किया जा सकता है। कोण द्वारा तथा अंगूठी वाली उँगली से जब वादन किया जाये तो आघात सरल, शुद्ध होना चाहिये। इसी प्रकार अनियमित करणों एवं अनुबंधों आदि में हाथों व उँगलियों का किस प्रकार प्रयोग हो इसका विस्तृत वर्णन मिलता है।[2] पणव का वादन जब उसे कस कर किया जाता है तो स, ण आदि आघात बजाया जाता है शिथिल पणव मेंल, ध आदि आघात ही बजेगा। शिथिल एवं कसे पणव में क, ठ, न, त, णि आदि बजाया जाता है परन्तु अनियमित करणों का वादन इन दो प्रकार के पणवों में नहीं किया जा सकता।[3]

दर्दुर का वादन[4] —

इसके वादन में महत्वपूर्ण बात यह प्रतीत होती है कि जो वर्ण-ध्वनियाँ बजाई जायें वह न तो बहुत द्रुत क्रम न हो विलंबित क्रम में हों। यहाँ भी प्रत्येक विभिन्न वर्णाघातों के लिये भिन्न-भिन्न उँगलियों के प्रयोग भी अपेक्षित थे। अवनद्ध वर्ग के प्रमुख वाद्यों के वादन में आज भी यह तथ्य उतना ही महत्वपूर्ण समझा जाता है जितना भरत काल में समझा जाता था।

१—वही०

२—ना० शा० ३३।६२–६४ पृ० ४३६

३—ना० शा० ३३।६५–६८

४—ना० शा० पृ० ४३७

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

त्रिपुष्करों का एक साथ वादन[1]—

सहवादन में विशेष पद्धति अपनाने का विधान था। इसमें कुछ करणों को भिन्न-भिन्न या स्वतंत्र अभिव्यक्ति की जाती है तथा कुछ करणो की साथ-साथ एक क्रमिक रूप से की जाती है। ऐसे सहवादन में व्यक्तिगत आघात यथा—ण, गर तथा धं का इत्यादि मृदंग में तथा दंग स्यंग, रंग आदि पणव में एवं धम्मतित्थिं—इत्यादि को दर्दुर में प्रयुक्त करना चाहिये।

उक्त करणों से भिन्न अन्य करणों का वादन करते समय उपर्युक्त आघातों का आवश्यकतानुसार मिश्रण होना चाहिये। पणव में एक साथ बजने वाले करण निम्नोक्त होने चाहिये यथा—कहुलाम् ण्णण्णम् खु खु ण्ण से[2]—तथा पणव के अनुबंध में ण्णु खु खु णे ति आदि करण होने चाहिये।[3] मृदंग तथा दर्दुर के वादकों को 'कृतप्रतिकृत' वादन करना चाहिये। नाट्य की विभिन्न परिस्थितियों में किस प्रकार के प्रयोग किये जायें, इसकी विस्तृत चर्चा भरत ने की है।[4]

प्राय: ऐसा नियम था कि अन्य सभी वाद्यों के वादन से पूर्व पणव का वादन करना चाहिये। पणव एवं मृदंग में उपरिपाणि हस्त का प्रयोग करना चाहिये।[5]

ध्रुवाओं में पुष्करों का वादन—

यद्यपि 'ध्रुवा' नाट्य के गीत का प्रकार है, तथापि कुछ प्रमुख ध्रुवाओं में पुष्करों का कैसा वादन हो—यह उल्लेख करना सुविधा-जनक होगा। 'स्थितापकृष्टा' ध्रुवा में वाद्यों का वादन अनुगत प्रकार का, 'प्रावेशिकी' में भी 'अनुगत' नैष्क्रामिकी तथा 'अन्तरा' ध्रुवाओं

१—ना० शा० पृ० ४३७ ३३।६९–७१

२—ना० शा० ३३।७३

३—वही० ७४–७५

४—वही० ३३। पृ० ४३८

५—वही० ३३।७६–८

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में तीनों लयों में, 'प्रासादिकी' में द्रुतलय में वादन होना चाहिये। भरत ने यह विधान भी दे दिया है कि कुशल वादकों को वादन करते समय ध्रुवाओं के पाद, एवं भाग, मात्राओं का प्रयोग नाट्यानुकूल करना चाहिये।[1] संगीत में भी रागानुकूल, गीत के शब्दानुकूल पुष्करों का वादन समझना चाहिये।

पुष्करों का वादन किस प्रकार किया जाये

कुछ लोगो के अनुसार यह शम्या एवं ताल से, कुछ लोगों के अनुसार मध्य उँगली से, कुछ लोगों के अनुसार खाली से, एवं कुछ लोगों के अनुसार तर्जनी उँगली से प्रारंभ करना चाहिये[2]। दक्षिण[3] पुष्कर में शम्या क्राम[4] एवं ऊर्ध्वक पुष्करों में ताल तथा आलिंग्य[5] में सदा तर्जनी उँगली से ग्रह होगा।[6]

नृत्य के साथ उपयोग—

पुष्कर वाद्यों से संबंधित उक्त ग्रहों का ज्ञान विद्वानों को होना चाहिये। इन तत्त्वों तथा पुष्कर वाद्यों का ताण्डव एवं लास्य के साथ भी घनिष्ठ संबंध था। ऐसा सामान्य नियम था कि गीत का एक परिवर्त्त (Performance) बिना किसी वाद्य संगीत के होना चाहिये। नृत्य की शोभा के लिये परिवर्त्त के अंग में परिवर्त्तन भी करने का विधान था। यह परिवर्त्तन गीत की लयों में होना चाहिये। परिवर्त्तन के अंगों में जब अभिनयादि की आवश्यकता हो तब पुष्कर वादन नहीं होना चाहिये, किन्तु जब अंगहारों से उक्त नृत्य

१—वही० ३३।१६१–६३

२—ना० शा० ३३।१६५

३—संभवत; हमारा आज का दायां तबले का समकक्ष

४—आज का बायां के समकक्ष

५—इन दो पुष्करों का नाम संभवत: जिस ढंग से रखकर बजाते हैं उससे बड़ा है। अमरावती की कला में इसके उद्धरण देखे जा सकते हैं। (देखिये फलक (५,४ चित्र सं० (५), १,४,५

६—ना० शा० ३३।१६५–६६ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हो तब संगीत के लिये संगीत आवश्यक होता है। पुष्करों का वादन गीत के छन्दों के समान होना चाहिये। अंगों की गतियाँ वाद्य, संगीत एवं गीत के प्रमाणानुसार होनी चाहिये।[1]

मुख तथा उपोहन में पुष्करों का वादन गुरु अक्षरों तथा साथ ही अल्पाक्षरों से होना चाहिये एवं वादन ऐसा हो जो स्पष्ट, तेज सुना जा सके, अथवा वर्णोत्पत्ति 'प्रकृष्ट' हो।[2]

बिलंबित लय में गीत के साथ पुष्कर वादन के समय हलके आघात होने चाहिये तथा ये सभी उपरिपाणि में होने चाहिये।

लय के ज्ञाता, ताण्डव नृत्य में, पुष्कर का वादन रक्त, सम, द्विविध कलाओं में विभाजित, स्फुट एवं स्पष्ट तथा सरल आघातों के द्वारा करते हैं। नृत्य के प्रत्येक अंगों की उचित संगति भी करते हैं।

नृत्य के सहित पुष्कर वादन में अनुगत तत्त्व का अनुकरण तथा नृत्य रहित परिवर्त्त में तत्त्व का अनुकरण ओघ करता है। ऐसे अवसरों पर पुष्कर का वादन त्रिविध लयों में होना चाहिये। यही विधि अंगहारों से युक्त नृत्यों के परिवर्त्त में भी अपनानी चाहिये। जो नियम गीत एवं वाद्य वादन में पदों तथा वर्णों से संवधित अपनाये जाते हैं, वही नाट्य में निहित अंगहारों से युक्त नृत्यों में भी अपनाये जाने चाहिये।[3]

संगीतज्ञों का कुतप–विन्यास––

संगीतज्ञ वृन्द-वादन के समय किस प्रकार बैठें इस विषय का संकेत मिलता है। वृन्द वादन के लिये भरत ने 'कुतप' संज्ञा का प्रयोग किया है। 'कुतप' संबंधी विधानों की भी चर्चा प्राप्त होती है। 'कुतप' के सदस्यों को अपना चेहरा पूर्व की ओर करके बैठना चाहिये। शृंगार-कक्ष के दो द्वारों के मध्य 'कुतप' की स्थिति होनी चाहिये। मृदंग वादक का मुख मंच की ओर होना चाहिये, उसके

१—वही० १७१–१७६

२––वही० १७७

३—वही० १७३–१८२

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दायीं ओर 'पणव' वादक तथा बाईं ओर दर्दुर वादक को बैठना चाहिये। 'कुतप' संज्ञा यहाँ अवनद्ध वाद्यों के वादकों के साथ सर्व प्रथम संबंधित की गई है। पुरुष गायक उत्तर की ओर मुख करके बैठेगा, बाईं ओर वीणा वादक तथा दायीं ओर वेणु-वादक बैठेगा। स्त्री गायिका पुरुष गायकों के सामने मुख करके बैठेगी।[1]

'कुतप' में बैठने की उक्त व्यवस्था से कुछ महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। 'कुतप' सर्वदा नियमबद्ध होता था। समवेत गायन वादन में स्त्रियों का विशिष्ट स्थान एवं सहयोग था। संगीत के कार्यक्रमो में स्त्रियाँ भाग लिया करती थीं। संभवतः समाज में गायिकाओं, गायकों, वादिकाओं, वादकों सभी को सम्मानित दृष्टि से देखा जाता होगा ताकि वे ऐसे कार्यक्रमों में भाग ले सकें।

पणव एवं दर्दुर का जो त्रिपुष्करों के अन्तर्गत इतना महत्त्वपूर्ण स्थान दिखाई देता है वह आज नहीं दिखता। समय के व्यवधान से अब मृदंग एवं तबले को ही अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाने लगा है।

'कुतप' का प्रारंभ संस्कार सहित होता था। जब पणव मृदंग एवं दर्दुर के वादक तथा स्त्री गायिकाएँ एवं वीणा, वेणु के वादक नियम पूर्वक निश्चित स्थानों पर बैठ जायें तथा वाद्यों की 'तंत्रियाँ कस कर ठीक कर ली जायें अथवा उचित ग्राम, राग, मूर्च्छनादि के साथ मिला ली जायें साथ ही मृदंग को निपीड़ित, निगृहीत अर्धनिगृहीत एवं मुक्त आघातों द्वारा द्रुत क्रम में बजाया जाये, वादक अच्छे दर्दुरों पर अपना हाथ तैयार कर लें तब इन सभी को पहले त्रिसाम के संस्कार को देखना चाहिये। त्रिसाम संस्कार में देवताओं की आराधना की जाती है। गायक इस संस्कार में अनेक देवताओं—चन्द्र, चर, अचर सभी को प्रसन्न करने का संस्कार करता है। यह सब प्रथम साम के द्वारा ब्राह्मण करता है। द्वितीय साम के द्वारा मुनियों को तथा विस्तृत एवं बृहत्साम द्वारा वह अन्य देवताओं को प्रसन्न करता है।

उक्त साम गायन को देखते हुए यह तथ्य परिपुष्ट होता है कि साम गायन परम्परा अब तक किसी न किसी रूप में चल रही थी एवं वर्ग विशेष अथवा ब्राह्मण वर्ग से इसका संबंध भी महत्त्वपूर्ण है।

१—३३। पृ० ४४९

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

त्रिसाम की महत्ता का भी संकेत प्राप्त होता है। त्रिसाम इसलिये कहा गया है क्योंकि इसमें ब्रह्म, केशव एवं शिव का आश्रय प्राप्त होता है। ॐ अक्षर चतुर्वेदों के प्रारंभ ही में उच्चारा जाता है तथा विभिन्न क्षेत्रीय देवताओं को तीन साम के द्वारा प्रसन्न किया जाता है। इसका महत्त्व इस तथ्य से भी प्रतिध्वनित होता है कि इसका गायन सभी गीतों के प्रारंभ में किया जाता है।

त्रिसाम को पुष्करों की संगत के साथ तीन या छः कलाओं के विभाग, आहुतिमार्ग, तीन प्रकार एवं तीन लयों के साथ गाना चाहिये।

त्रिसाम के अन्त में पूर्वरंगविधानादि प्रक्रिया-समाप्ति के अनन्तर बहिर्गीतों को तीनों लयों से युक्त पुष्कर वादन के साथ सम्पन्न करना चाहिये। यह वादन गीत के छन्दों एवं अक्षरों का अनुकरण करेगा। त्रिसाम के पश्चात् प्रत्याहारादि समाप्ति के बाद पुष्कर वादन प्रारंभ करना चाहिये। इस प्रकार वादन में भी कुछ विशेष विधान निहित थे यथा—वादक तथा ऊर्ध्वक पुष्करों पर प्रथम आघात करना चाहिये, तत्पश्चात् गोपुच्छा यति के साथ आलिंग्य पर आघात करना चाहिये और अन्त में विपंची का वादन होना चाहिये। पुष्करों का प्रथम वादन सफलता प्रदान करता है ऐसा माना जाता है।[1]

अवसर के अनुकूल पुष्कर वादन के प्रकार—

पुष्कर वादन के अन्त में मृदंग—कुशल व्यक्तियों को अपने वाद्य का वादन अधिकांशतः उंगलियों के स्पर्श से करना चाहिये। तत्पश्चात् ऐसा संगीत हो जिसके अन्तर्गत लघु वर्णों का संचय हो, जो ताण्डव से संबंधित हो तथा जब नर्तकी मंच पर आये तब वादन प्रारंभ हो।[2]

इस वादन की भी विशेष पद्धति थी। विभिन्न मार्गों, करणों, जातियों द्वारा वादन होना चाहिये, ऐसा कहा गया है।[3]

१—ना० शा० ३३।४४९-५०।

२-३—वही० पृ० ४५०

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नृत्य के पद विन्यास को तीन कलाओं, दो एवं एक कलाओं से युक्त लय (रिदम) से मिला होना चाहिये तथा गीत का मेल भी पुष्कर वादन से रहे।[१] ध्रुवाओं, पात्रों की विभिन्न गतियों आदि के साथ किस प्रकार का वादन हो इसकी भी भरत ने विशद चर्चा की है।[२] किन्तु नाट्य से संबंधित एवं उसके निकट होने से यहाँ उसकी चर्चा अनावश्यक होगी।

पुष्कर वादकों के दोष–

जो पुष्कर वादक ताल, उचित अवसर एवं ताल संबंधी शास्त्रों को नहीं जानता वह केवल मात्र 'चर्म घातक' या चर्म पर प्रहार करने वाले के तुल्य है। पुष्करों का नियमपूर्वक वादन आना आवश्यक है।[3]

पुष्करों का आकार अथवा स्वरूप–

मृदंगों के तीन आकारों का भरत विशेष उल्लेख करते हैं यथा– आंवले या हरै के, जौ तथा गोपुच्छा आकार के। आंकिक मृदंग की प्रथम प्रकार की ऊर्ध्वक की जौ तथा अलिंग्य की गोपुच्छाकृति होती है। उक्त मृदंग प्रकारों तथा पणव दर्दुर आदि के नाप क्या हो इसकी भी चर्चा की गई है।[४]

पुष्करों में प्रयुक्त चर्म–

ऐसा चर्म न हो जो कि पुराना, फटा, कौए द्वारा खाया गया, चर्बी से ढका हुवा, तथा अग्निखयाधूम से दूषित हो। गाय का चर्म जो उक्त दोषों से मुक्त हो तथा जिसका मुख कुन्दपुष्प या बरफ सदृश सफेद हो, ताजा एवं सुन्दर हो, पुष्करों को मढ़ने के लिये सर्वश्रेष्ठ होता है। रोमयुक्त ऐसा चर्म लेकर एक रात पानी में भिगा देना चाहिये तथा दूसरे दिन बाहर निकालना चाहिये।

१––वही० ४५०–५१

२––वही० पृ० ४५०–४५३।

३––वही० ३३।२२४

४––वही० ३३।२२७–३२ तथा पृ० ४५२

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निर्माण विधि—

चर्म को मुख पर मढ़ना चाहिये किनारे गोल-गोल चन्द्रक काटकर कसना तथा बाँधना चाहिये। मुख या गोलाई में त्रिवर्त्ति या तीन तहों के पुष्पावर्त्त बनाने चाहिये। उसकी ग्रीवा पर स्वस्तिक बनाना चाहिये।[1]

पुष्करों का अभिषेक (इन्स्टालिंग)—

पुष्करों का अभिषेक मास के किस पक्ष में, किसके द्वारा एवं किस प्रकार हो इसकी भी चर्चा की गई है। किन्तु इसका संगीत से विशेष संबंध न होने के कारण इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि संगीत धार्मिक पक्ष से अब भी किसी न किसी रूप में जुड़ा हुआ था। प्रत्येक पहलू धार्मिक पक्ष एवं संस्कारों से प्रभावित था तथा देवताओं के साथ संबंध जुड़ा हुआ था।[2]

पणव को पहले सभीं तरफ से तंत्रियों द्वारा कस देना चाहिये तत्पश्चात् पुष्करिकाओं को चर्म से ढकदेना चाहिये। इसी विधि से मृदंग, पणव, दर्दुरादि का भी निर्माण करना चाहिये।

पुष्कर वाद्यों का नामकरण—

मृत्तिका से निर्मित होने के कारण मृदंग नाम पड़ा, भ्रमयति अथवा घूमने फिरने वाला होने के कारण भाण्ड कहा गया, ऊर्ध्वकरण स्थित में रखे जाने के कारण मुरज नाम पड़ा, आतोद्य इसलिये कहा गया कि यह आघात या ताड़ना से संबंधित होते हैं।

भिन्न-भिन्न बादलों की गरज के साथ मृदंग, पणव, वामक, ऊर्ध्वक आदि का संबंध निश्चित किया गया था। पुष्करों पर आघात करने का ढंग 'उपहस्त' कहलाता है। कर्त्तरी, हस्तपाणि, वर्त्तना, दण्डहस्त आदि उपहस्तों के ही विभिन्न प्रकार हैं। तर्जनी उङ्गली की क्रिया तथा दोनों हाथो के अंगूठे की एक के बाद एक प्रहार करने की क्रिया कर्त्तरी आघात कहलाती है। पुष्कर के मुख पर दो हथेलियों

१—विस्तृत विवरण देखिये ना० शा० पृ० ४५४

२—वही०–२३६–४५

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के दो अर्ध भाग का उसी ताल में क्रम से नीचे आना समहस्त कहलाता है। हथेली के पिछले भाग का तथा उसके बाद बायें हाथ की उङ्गलियों का स्पष्ट आघात या नीचे आना तथा एक बार दायीं हथेली का नीचे आना पाणित्रय कहलाता है। चार आघातों में जब दायाँ हाथ बायें से नीचे आये तब एक के बाद एक आने के कारण वर्त्तना कहलाता है। जब बायें हाथ से आघात प्रारंभ करके दायें हाथ द्वारा आघात करते हैं तब क्रमिक आघात दण्डहस्त कहलाता है। इस प्रकार हाथों के चार गुण भी हैं। यथा--सौष्ठव, लाघव बाहूल्य एवं दृढ़ता।[1]

कुशल पुष्कर वादकों के गुण—

जो गीतों में कुशल हो, वाद्य वादन में कुशल हो, कला लय में कुशल हो, गीत प्रारंभ करने का ढंग जानता हो एवं समाप्ति का भी ढंग जानता हो, मधुर हस्त हो, अनेक पाणियों का ज्ञाता हो, सफलता का रहस्य जानता हो, ध्रुबा-गान में कुशल हो, कलाओं का अभ्यासी हो, एकाग्रता से संयुक्त हो, स्वयं सुखद मार्जना उत्पन्न कर सके, बलिष्ठ शरीर से युक्त हो; जिसकी शारीरिक एवं बौद्धिक आदतें नियमित हो, पूर्णत्व से युक्त अथवा त्रुटिरहित हो, तथा एक सिद्ध कलाकार हो वही पुष्करों का सर्वश्रेष्ठ वादक होगा अथवा वही सर्वश्रेष्ठ कुशल पुष्कर वादक की श्रेणी में आयेगा।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि गायन वादन का सम्मिलित ज्ञान कुशल कलाकार को होना चाहिये। यह बात कदाचित् नहीं थी कि गायक केवल गीत ही वादक केवल वाद्य ही का ज्ञान रखे। सन्तुलन के लिये यही उचित भी दिखता है।

मृदंग वादकों के गुण—

जो व्यक्ति पुष्करों के विलेपन का उचित ज्ञान रखता हो, चार मार्गों की जिसे भली-भाँति शिक्षा प्राप्त हुई हो, सभी प्रकार की सफलता प्राप्त हो, जिसके अंगों में दोष न हो, जो सभी करणों का अभ्यास करता हो, सभी गीतों का ज्ञाता हो, तथा जो ग्रह आदि का

१--वही० ३३।२५६-६२

२--वही० ३३।२६४-६६

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उचित ज्ञान व प्रयोग जानता हो, वही कुशल, श्रेष्ठ मृदंग वादक की श्रेणी में आयेगा। लगभग इसी प्रकार के गुण श्रेष्ठ पणव एवं दर्दुर वादकों के भी कहे गये हैं।

मृदंग वादकों के भी कुछ गुणों के विषय में संकेत मिलता है यथा—वादन में जिसका आघात स्पष्ट, भिन्न-भिन्न, सुविभक्त, तीव्र किन्तु नियंत्रित होते हैं तथा तीन मार्जनाएँ जिसमें निहित होती हैं, वह अपने गुण या विशेषता के लिये प्रसिद्ध होता है।[1] सर्वप्रथम पुष्करों या वाद्यों का वादन करना चाहिये क्योंकि इसे नाट्य की शय्या कहा गया है। जब वादन एवं गीत भली भाँति सम्पन्न किया जायगा तब नाट्य में दोष अथवा विनाश की सम्भावना नहीं रहती।

वाद्येषु यत्नः प्रथमं तु कार्यः
शय्या हि नाट्यस्य वदन्ति वाद्यम्।
वाद्येऽपि गीतेऽपि च संप्रयुक्ते
नाट्यस्य योगो न विनाशमेति ॥[2]

उपर्युक्त विवेचन से यह प्रकट होता है कि अवनद्ध वाद्यों का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान था। नाट्य के अन्तर्गत भी गीत वाद्य को सर्व श्रेष्ठ स्थान प्रदान किया था।

नाट्य शास्त्र में नृत्य—

नाट्य शास्त्र में ही सर्वप्रथम नृत्य का शास्त्रीय विवरण प्राप्त होता है। नृत्य के विभिन्न अंग, प्रत्यंग, हाथ, पैर एवं अन्य अंगों की गतियों आदि पर भरत ने ग्रन्थ के चौथे अध्याय में उल्लेख किया है। नृत्य के इन अंगो को देखकर यह कहना अनुचित न होगा कि नृत्य परंपरा भी संगीत के अन्य तत्त्वों की ही भांति पर्याप्त विकसित अवस्था में थी। नृत्य के अंगों, उपांगों की विविधता आदि उसकी शास्त्रीयता का भी संकेत प्रदान करते हैं। भरतोल्लिखित कुछ मुद्राएं तो समकालीन मूर्तिकला में भी देखी जा सकती है।[3] इसके

१—वही० ३३।६७–६६
२—वही० ३३।२७०
३—अमरावती की मूर्तिकला फलक (४) चित्र संख्या (६,७)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अतिरिक्त आगे चलकर गुप्तकाल के पश्चात् खजुराहो, उड़ीसा मूर्तिकला एवं दक्षिण के चिदम्बरम के मंदिरों की मूर्तिकला में तो भरतोल्लिखित अनेक मुद्राओं का समीकरण किया जा सकता है। वह विकसित नृत्य परंपरा ही तो थी जिसका उल्लेख कालीदास के नाटकों में भी मिलता है। भरत के नृत्य संबंधी महत्वपूर्ण तत्वों को संक्षेप में निम्नोक्त रूप में देखा जा सकता है—नृत्य में शरीर के सभी अंगों का प्रयोग किया जाता है। भरत ने आंगिक अभिनय के अन्तर्गत नृत्य का उल्लेख किया है। अध्याय चार के अतिरिक्त भरत ने आठवें अध्याय में उपांगों के विषय में चर्चा की है। नृत्य के उपांगो के अन्तर्गत शिर, दृष्टि, नेत्र, पुतली, पलक भौंह, नाक, ओंठ गाल, ठाढ़ी, मुख, एवं गले आदि से संबंधित मुद्राएँ आती हैं। इनके कितने प्रकार हो सकते है, सबकी विस्तृत चर्चा मिलती है।

ग्रन्थ के नवें अध्याय में नृत्य के अंगो का अभिनय संबंधी विवरण है। इसमें एक एवं दोनों हाथों की विभिन्न मुद्राएं एवं उनके उचित परिस्थितियों में प्रयोग की विस्तृत चर्चा की है।

अध्याय १० में छाती, कमर, पेट, जंघा, कटिभाग एवं पैरों की विभिन्न स्थितियों, गतियों अथवा उक्त अंगो से संबंधित अभिनय पर प्रकाश डाला गया है।

अध्याय १२ एवं १३ में मण्डल (चक्कर) एवं चाल या गति विषयक उल्लेख मिलता है।

नृत्य के उक्त विस्तृत उल्लेखों को देखते हुए यह कहना अनुचित न होगा कि भरत काल तक नृत्य निश्चय ही इतना लोकप्रिय एवं प्रचलित रहा होगा कि उसके समस्त विवरण का इतना शास्त्रीय स्वरूप प्राप्त हो सका। नृत्य की उपर्युक्त बातों एवं मुद्राओं का तो समीकरण भी मूर्तिकला के अवशेषों के साथ किया जा सकता है।[1] इतना शास्त्रीय विवरण भरत ने दिया है कि आगे के ग्रन्थकारों को इसमें बहुत जोड़ना नहीं पड़ा।

तण्डु शिव का नाम कहा गया है इन्होंने यहाँ से नृत्य के अंगहारों के विषय में भरत को बताया ऐसी कथा है। करण एवं रेचक

१—अमरावती देखिये फलक (४ चि० सं. ६, ७

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भी नृत्य संबंधी ही तत्त्व थे। ३२ अंगहार निम्नोक्त है—स्थिर हस्त, पर्यस्तक सूचिविद्ध, अपविद्ध इत्यादि।[१]

अंगहारों के अन्तर्गत करण भी होते हैं। नृत्य में हाथ एवं पैरों की सम्मिलित गतियों को करण कहा जाता है। दो करण से एक मातृक एवं २-३-४ मात्रिकाओं से एक अंगहार बनता है। करणों की संख्या १०८ बताई गई है यथा--तलपुष्प पुट, वत्तित, वलितोरू आदि।[२] स्थान, चारी एवं नृत्तहस्तादि भी करणों के ही विभिन्न तत्त्व हैं। प्रत्येक करण मे हाथ एवं पैरों की मुद्राएँ बताई गई हैं। बड़ौदा संस्करण में तो इनका विवरण चित्र-दृष्टांतों द्वारा किया गया है।[३]

नृत्य का अंग रेचित वह है जो अंगों से संबंधित है करणों एवं संचारी से भिन्न माना गया है।[४] रेचित के प्रमुख अंग पाट, कटि, हस्त, ग्रीवा आदि हैं।

नृत्य के दो प्रकारों ताण्डव व लास्य दोनों का उल्लेख यहाँ मिलता है। ताण्डव नृत्य अंगहारों व रेचकों के साथ किया गया था, जब कि पार्वती ने कोमल नृत्य किया था। इस नृत्य में मृदंग, भेरी, पटह भंभा, डिण्डिम, गोमुख, पणव, दर्दुरादि संगतके रूप में प्रयुक्त किये गये थे।[५] नृत्य में ताल, लयका उचित संयोग होना चाहिये। नृत्य के एक और प्रकार पिण्डिबंध का भी उल्लेख मिलता है। इन पिण्डियों का नाम देवी देवताओं से जोड़ा माना गया है।[६]

नृत्य के साथ गीत एवं वाद्य वादन भी होता था। इसका पुष्टीकरण भी एक अंश से हो जाता है जहाँ तण्डु ऋषि द्वारा रचित होने की कथा मिलती है।[७]

१—४।१९–२७

२—४।३४–३५

३—बड़ौदा संस्करण न ट्यशास्त्र

४—४।२४८–५२

५—४।२४७–४८

६—४।२४९–५६

७—४।२५७

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नृत्य का वादन के साथ होना आनंदप्रद माना गया था। ताण्डव नृत्य बहुधा देवों की पूजा के लिये किया जाता था इसी का सुकुमार प्रयोग इसे श्रृंगारिक भावों से भी जोड़ता है। नृत्य को लोग अधिक पसन्द करते हैं अतः उसे शुभ माना जाता था। इसे आनंद का साधन माना गया था एवं विवाह, जन्म, दामाद का स्वागत, सामान्य उत्सव एवं सुख प्राप्ति के अवसर पर इसका प्रयोग प्रशस्त माना गया था। इसके व्यावहारिक उल्लेख हम समकालीन साहित्य व परवर्त्ती साहित्यों में भी देख सकते हैं। रामायण, महाभारत तथा गुप्त कालीन साहित्योल्लेख भरत के उक्त बचनों की पुष्टि करते हैं।

नाट्य की विभिन्न परिस्थितियों में भिन्न-प्रकार की गीतियों, गीतादि के साथ, भिन्न-भिन्न वाद्य संगति के साथ नृत्य के प्रयोग भरत ने बताए हैं। नृत्य का वाद्य वादन एवं गायन के साथ संबंध भरत के बचनों से परिपुष्ट हो जाता है।[1]

नृत्य का नाट्य की कुछ परिस्थितियों में प्रयोग निषिद्ध भी था, जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सभी अवसरों पर नृत्य नहीं करना चाहिये। रस-भावानुकूल अभिनय एवं ताल, लय, गीत आदि प्रयोग होना चाहिये। कुछ परिस्थितियों में जहाँ गीत के पदों का विशेष महत्त्व हो, वहाँ नृत्य के साथ वाद्य वादन का निषेध भी रहता था। आज भी कुछ नृत्यों में अधिक वादन नहीं होता। एक तथ्य नृत्य संबंधी अध्याय देखने से और प्रकाश में आता है कि नृत्य के साथ अधिकतर ढोल वर्गीय वाद्य ही प्रयुक्त होते थे। ऐसा कोई निश्चित नियम ही था यह कहना कठिन है क्योंकि तमिल साहित्य में नृत्य की संगीत में सभी वाद्यों का प्रयोग देखा जा सकता है।[2]

अमरावती की मूर्तिकला में अंकित नृत्य दृश्यों का भरतोल्लिखित नृत्य मुद्राओं से समीकरण

अमरावती की मूर्त्तिकला में चार नृत्यांगनाएँ हैं जिनमें से मध्य-वाली आधुनिक भरतनाट्यम् के नृत्य के अलारिप्पु मुद्रा का तत्क्षण

१—४ ः६०–६८

२—सिलप्पादिकारम् एवं मणिमेखलई संबंधी खण्ड देखें।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्मरण दिलाती है। उसकी गति देखकर ऐसा लगता है कि नर्त्तकी तुरंत रंगमंच पर आई है। भरत ने प्रवेश पर विस्तृत विवरण अपने ग्रन्थ में दिया है। उसके हाथ में पुष्पांजलि है। इसका स्थान मण्डल की भाँति है वैशाख की भाँति नहीं।[१] इस नर्त्तकी के सामने वाली आलिध स्थान मुद्रा में खड़ी है। इसके हाथ कटकामुख रूप में हैं जो कि तीर खींचने का आभास देते हैं जो घबराहट की दशा का आभास करते है।[२]

उसके बायें तरफ की नर्त्तकी अर्ध मत्तलि स्थान में खड़ी है जो कि युवावस्था की उत्तेजना का संकेत करता है। बायाँ हाथ रेचित मुद्रा में है तथा दायाँ कमर पर[३] पैरों की स्थिति को स्खलितापसृत के रूप में जाना जा सकता है। इसी के साथ दायें ओर की नर्त्तकी अन्त वाली के समान ही मुद्रा में है किन्तु हाथों की स्थिति समानता लाने के लिये बदलकर दायें की बायें एवं बायें की दायें कर दी गई है।

अमरावती की कला का एक अन्तःपुर का दृश्य भी है जिसमें नर्त्तकी अपना कौशल दिखा रही है (जो ब्रिटिश म्यूजियम में है) वह अपने पैरों को अतिक्रान्त करण में रखकर नृत्य करती दिखाई गयी है, जो कि पुरुषार्थ का संकेत करती है।[४]

अमरावती की एक और मूर्त्तिकला, जो अब कलकत्ता संग्रहालय में है तथा फरग्यूसन की पुस्तक के ७४ वें फलक पर अंकित है, में भी दृश्यांकन है।[५] इसमें कुछ देवताओं को प्रसन्नता से नृत्य करते दिखाया गया है कुछ वाद्य बजा रहें हैं। यहाँ बोधिसत्त्व के तुषित स्वर्ग से

१—ना० शा० ४ २८१ १०. ६५–६६

२—ना० शा० १०. ६७–७० ४. १०६

३—ना० शा० ४–८६

४—वही० ४ १२७ भरत नाट्य शास्त्र के बड़ौदा एडीशन के चौथे अध्याय में १०८ मुद्राओं का चित्र भी दिया गया है जिममें मुद्रा समीकरण करना सहज हो सकता है।

५ - अमरावती–शिवराममूर्ति नृत्य संबंधी अंश देखिये।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

शुद्धोदन के घर जन्म लेने के अवसर का दृश्यांकन है। एक देवता एकदम दायें ऊपर की ओर प्रसिद्ध करण ऊर्ध्वजानुमुद्रा में नृत्य कर रहा है।[1]

मैकंन्जी द्वारा बनाये एवं फग्यूसेन द्वारा प्रकाशित चित्र में (७३ फलक चित्र १) ६ नर्त्तकियों को दिखाया गया है जो राजा का मनोरंजन करती दिखाई गई हैं। पीछे की तीन में एक वैशाख स्थान में हैं एवं उसके हाथ कमर पर हैं। यहाँ छिन्न करण का प्रयोग किया गया हैं।[2] उसके बायें ओर की नर्त्तकी के पैर भुजंगभासित स्थिति में है। बायाँ रेचित एवं दायाँ पटाक मुद्रा में है। दायें ओर की नर्त्तकी की स्थिति बायीं के समान ही है।[3]

सामने की ओर तीन नर्त्तकियाँ एक पंक्ति में हैं। प्रथम समपद स्थान[4] में हैं जिसका हस्त पटाक मुद्रा में है एवं लता वृश्चिक करण में है। इसके पैरों की मुद्रा लता तथा वृश्चिक हैं[5]—ये मुद्राएँ स्वर्ग से आने का आभास देती हैं। ऐसी ही मुद्रा में उसके दूसरी तरफ वाली नर्त्तकी भी है जिससे संतुलन बना हुआ है। अमरावती के एक अन्य अवशेष में कुशीनारा के मल्लों का अंकन है जिसमें बुद्ध की अस्थियों के विभाजन का दृश्य है इसमें स्त्रियाँ नृत्य करती दिखाई गई है।

इस प्रकार अमरावती की मूर्त्तिकला में अभिनय के चारो अंगों आंगिक, वाचिक, आहार्यिक एवं सात्त्विक को देखा जा सकता है। आंगिक अभिनय के हस्त, करण एवं अनेक स्थलों के रूप में देख सकते हैं, वाचिक अभिनय गीत, वाद्य में देखा जा सकता है, आहार्यिक अभिनय सजावट में देखा जा सकता है तथा सात्त्विक

१—ना० शा० ४–८६

२—वही० ४–९२

३—वही० ४–१०१

४—वही० १०–५८

५—नही० ४–१०५

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अभिनय संवेगों के प्रकाशन में देखा जा सकता है किन्तु इसे पहचानना कठिन है क्योंकि मौलिक अवशेष बहुत अल्प संख्यक हैं अधिकांश अवशेष चित्रित किये मिलते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भरत के नाट्य शास्त्र में उल्लिखित मुद्राओं का अंकन समकालीन मूर्त्तिकला में अपनाया गया था। भरत ने प्रत्येक मुद्रा की परिस्थितियाँ एवं उससे संबंधित विभिन्न भावों का भी निरूपण विस्तार से किया है जो अभिनय के अधिक निकट है। भरत का नृत्य संबंधी विवरण स्वतंत्र शोध की अपेक्षा रखता है।

खण्ड 'स'

दत्तिलं—

दत्तिल मुनि का ग्रन्थ जो संगीत पर पृथक रूप से लिखा गया है वह पूर्ण ग्रन्थ प्रतीत नहीं होता। ऐसा प्रतीत होता है कि यह इसी लेखक के विस्तृत ग्रन्थ का संक्षिप्त स्वरूप है। इसके विषय में यही कहना पर्याप्त होगा कि भरतोल्लिखित संगीत संबंधी सभी तत्वों का दत्तिल के ग्रन्थ में प्रायः नामोल्लेख मात्र मिलता है। संगीत का ग्रन्थ न होने पर भी जो विस्तृत रूप भरत में मिलता है यहाँ उसका अभाव है। स्वर प्रकरण में सप्त स्वर, तीन स्थान दो ग्राम तथा गांधार ग्राम का उल्लेख, वादी संवादी आदि स्वर भेद तथा मूर्च्छनाओं का उल्लेख मिलता है। इस प्रकरण में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कही गई कि षड्जग्रामिक 'ग' को दो श्रुति चढ़ाकर 'ध' बना दे तो मध्यम ग्राम तथा उसी 'ध' को दो श्रुति उतार दें तो वह षड्जग्राम बन जायेगा। ८४ मूर्च्छनाओं तानों का मात्र उल्लेख किया है गिनती नहीं की है। ५०४० कूटतानों का उल्लेख किया है इसका भरत कोई उल्लेख नहीं करते। स्वर साधारण का उल्लेख भरत का ही अनुकरण है। जातियों के नाम के अतिरिक्त इनके लक्षणों का भी अल्प विवरण दिया है। ताल के भी तीन मार्गो चित्र वृत्ति एवं दक्षिण का उल्लेख भरत वाला ही है। अलंकारों का भी उल्लेख भरत ही की भाँति परन्तु मात्र नामोल्लेख के रूप में किया है। १४ शुद्ध गीतकों का भी भरत की

१—२६-२८

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भाँति उल्लेख किया है किन्तु यह अंश खण्डित है। भरत के ध्रुवा वाद्य पुष्करादि उल्लेख इस ग्रन्थ में नहीं मिलते।

संक्षिप्त होने पर भी इसका महत्व संगीत के (नाट्य से पृथक रूप में) स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में समझा जा सकता है।

प्राचीनतमिल महाकाव्य सिलप्यदिकारम एवं मणिमेखलई में संगीत

द्वितीय शताब्दी के साहित्यिक उत्सों के अन्तर्गत उक्त महाकाव्यों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। जिस प्रकार भरत के नाट्यशास्त्र में शास्त्रीय संगीत की रूपरेखा का विस्तृत रूप से निरूपण किया गया है उसी प्रकार उक्त तमिल काव्यों में, शास्त्रीय ग्रन्थ न होने पर भी संगीत के शास्त्रीय पक्ष का पर्याप्त विवेचन प्राप्त होता है। इसका महत्व इसके सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिपार्श्व में देखा जा सकता है। गणिका एवं वणिक् की प्रेमकथा के माध्यम से संगीत के विपुल उल्लेख इसमे लक्ष्य किये जा सकते हैं जो अपने आप मे प्रायः पूर्ण है। संगीत को इसकाल में ६४ कलाओं के अन्तर्गत रखा गया था।[१]

इस ग्रन्थ से संगीत एव नृत्य की उत्पत्ति की बड़ी रोचक कथा मिलती है। एकबार इन्द्र के दरबार में संगीत नृत्य के समय उर्वशी एवं इन्द्रपुत्र जयन्त के अनुचित व्यवहार को देखकर अगत्स्य ने उर्वशी को वेश्या एवं जयन्त को बाँस का जन्म लेने का शाप दे दिया था किन्तु शान्त कराने पर उस शाप को कम कर दिया कि नृत्य संगीत का संबंध जयन्त के साथ सदा बना रहेगा एवं उर्वशी की संताने इस काल में प्रवीण होंगी।[२]

गायन—संगीत के अन्तर्गत गायन वादन नृत्य तीनों का समावेश देखा ही जा चुका है। संगीत से संबद्ध अनेक तत्वों का उल्लेख उक्त ग्रन्थों में प्राप्त होता है यथा स्वर, पद सप्तक, राग, लय, ताल इत्यादि।

१—सिल० पृ० २६०—तथा २०६।

२—तमिल साहित्य और संस्कृति पृ० ११७—१८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गायन के अन्तर्गत स्वर-विधान, रागगायन, ताल लय का संयोग, गीतरचना, वाद्यों की उचित संगति तथा नृत्य की संगति का भी उक्त ग्रन्थ स्पष्ट उल्लेख करते हैं।

गायन अथवा गीत के शास्त्रीय एवं लौकिक अनेक प्रकार तमिल प्रदेश में प्रचलित थे। 'पाट्टु' एवं 'बिलक्कु' नामक गीत संभवतः शास्त्रीय रचनाएँ थीं, जैसा इनके उल्लेखों के संदर्भ से प्रतीत होता है। दीक्षितार महोदय ने इन्हे नाट्य से संबंधित रचना माना है। संगीतकार के गुणों एवं कुशलता के आधारभूत तत्वों के अन्तर्गत उक्त गीतों का ज्ञान आवश्यक समझा गया था।[1] गीत के अन्य प्रकार भी प्रचलित थे जो लौकिक संगीत के प्रचलन का प्रमाण हैं—यथा ग्राम गायन।[2] नाम से ही स्पष्ट है कि ग्रामों में गाया जाने वाला गीत ग्रामगायन कहलाता था इसे लोकगीत के समकक्ष रखा जा सकता है।

अनेक प्रकार के मंगल गायन एवं प्रचलित गायन का भी संकेत मिलता है यथा—किसान अपने खेतों को सजा कर मंगल गायन करते थे।[3] गेहूँ की फसल से संबंधित गायन भी प्रचलित था। मजदूर वर्ग का अपना निजी भिन्न प्रकार का गायन प्रचलित था।[4] आज भी खेतों की उपज एवं बीज को बोने के अवसर पर किसानों का मंगल गान लक्ष्य किया जा सकता है। यह प्रथा इस प्रकार पर्याप्त प्राचीनता लिये हुए प्रतीत होती है।

उक्त गायन के अतिरिक्त प्रशस्ति अथवा विजय गीतों के भी प्रचुर उल्लेख मिलते हैं। भाटों द्वारा वेल्लालों के प्रधान का 'किणइ' नामक पुष्कर के साथ प्रशस्ति गायन, सूत मागधों का प्रशस्ति गायन, भाटों द्वारा देवी दुर्गा की स्तुति, चेर राजा का प्रशस्ति गायन, जिसका अनुवाद दीक्षितार महोदय झूलागीत (स्विंगिंग सोंग) के रूप में करते हैं—इसके स्वरूप विषयक उल्लेख भी देखे जा सकते हैं यथा—

१—वही० पृ० ९७–८–९।

२—वही० पृ० १६२।

३—वही० पृ० १६१।

४—पृ० १६२, २८४।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इसके तीन पद, प्रत्येक पाँच पंक्तियों से युक्त होते थे एवं एक लय में ताल दिया जाता था। झूला गीत नाम संभवतः लय वैशिष्ट्य के कारण पड़ा होगा, सती स्त्रियों के प्रशस्ति गायन तथा पाण्ड्य कन्याओं का प्रशस्ति गायन आदि लौकिक संगीत के ज्वलन्त प्रमाण है।[1]

उक्त प्रशस्ति गायन इस तथ्य का भी संकेत प्रदान करते हैं कि गायन की विषयवस्तु भी भिन्न-भिन्न होती थी। जो व्यक्ति गीत की रचना करता था उसे तमिल भाषा का पर्याप्त ज्ञान होना आवश्यक था।[2] ऋतुओं से संबंधित गायन भी होता था। ग्रीष्म ऋतु में प्रेमी की प्रतीक्षा में गाया जाने वाला गीत 'पाणिवरि' कहलाता था।[3] देवताओं की अर्चना एवं पूजा से संबंधित धार्मिक गायन भी होता था जो 'देवपाणि' कहलाता था। इसमें देवताओं की प्रार्थना की जाती थी।[4] पर्वतीय प्रदेश के पुरोहित वर्ग का देवताओं से संबंधित गायन 'वेलपाणि' कहलाता था।[5] ऐसा प्रतीत होता है कि प्रादेशिक तत्वों से गायन पर्याप्त प्रभावित था। इसके अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं—'मुल्लई' प्रदेश का 'कुललपाणि' समुद्रीय प्रदेश का 'आतीम्याणि' समुद्र तट का 'काणल्वरि पर्वतीय प्रदेश का 'कुरिंजि' नामक गायन।[6]

गायन के अन्तर्गत प्रमुख तत्व स्वर है। स्वर संयोजना द्वारा ही गायन संभव है। चाहे वह कण्ठ से निकाला जाये चाहे वाद्यों के वादन द्वारा।[7] इन्हीं स्वरों के ही विभिन्न संयोगो के द्वारा रागों की उत्पत्ति होती है। स्वरों की संख्या सात हैं। इनका तमिल नाम वीणा, की तंत्रियों के नाम के रूप में मिलता है यथा—कुरल, तुत्तम, केकि-

---

१—पृ० ११२, १६२, १६५, १६६, २६०, २७१. २७६, ३३१, २८१–२ तथा ३३४।

२—पृ० ६७–८–६।

३ - पृ० २६७।

४—पृ० १२३–२४।

५—पृ० २८४।

६—पृ० २८४, ३१४; १४३;

७—पृ० १००।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कलइ, उलइ, इलि, विलारि तथा तार।[1] ये सप्तस्वरों के द्योतक ही है। दिक्षितार महोदय ने 'इलि' नामक तंत्री की व्याख्या पंचम स्वर के रूप में की है।[2] ये क्रमशः हमारे सारे ग म प ध नि है। गायन में विभिन्न स्वर संयोग करने का विधान उसकी शास्त्रीयता का प्रतीक होता है।[3] भिन्न-भिन्न स्वरों को स्वरित मानकर गाने की परम्परा जिसे मूर्च्छना के रूप में पहले भी देखा जा चुका है, उस समय बहुतायत से प्रचलित थी।[4] गायन में, स्वर व्यञ्जनों का उचित प्रयोग उन्हें गायन के अनुकूल सानुनासिक करना, कर्कश स्वरों को कर्ण-प्रियता के लिये कोमल करना इत्यादि उचित नियमों का पालन करने वाला ही कुशल संगीतज्ञ हो सकता है।[5] चित्तिर एवं 'वंजणइ' संज्ञाएँ कठोर व कोमल व्यंजनो के सानुनासिक करने की प्रक्रिया का द्योतक है।[6] विभिन्न स्वरान्तरालों के द्योतक संज्ञाएँ भी मिलती हैं जिन्हें वादी, संवादी, अनुवादी विवादी के रूप में नाट्यशास्त्र में देखा जा सकता है इनके लिये तमिल संज्ञाएँ इनई किलई, नटपु, पगई इत्यादि प्राप्त होती हैं।[7]

दिक्षितार महोदय के अनुसार 'इनइ' वीणा का दूसरा तार, 'किलइ' पांचवाँ तार, 'पगइ' छठाँ व तीसरा तार तथा 'नटपु' चौथा-तार होता है।[8] श्रुतियों का स्वर से घनिष्ठ संबंध है। प्रत्येक स्वर के मध्य अन्तराल कुछ निश्चित श्रुतियों का होता है। सभी श्रुतियों का गायन वादन नहीं होता, कुछ प्रमुख श्रुतियों का स्वर-रूप में गायन

१—पृ० २३१।

२—पृ० १४२–३।

३—पृ० १४२–३।

४—पृ० ३१७।

५—पृ० १००–१।

६—वही०।

७—सिल० पृ० १४६–७ सिल० एस० रामनाथन मद्रास (तमिल पुस्तक है।)
इसे पढ़ने के लिये कर्नाटकीय संगीत के अध्यापकों से सहायता ली है।

८—पृ० १४६–७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होता है। श्रुतियों का स्वरों के अन्तराल से संबंधित रूप में यहाँ भी उल्लेख मिलता है।[1] सप्तकों का उल्लेख भी प्राप्त होता है।[2]

रागों के लिये उक्त ग्रन्थों में 'पण'[3] संज्ञा प्राप्त होती है। प्रमुख रागों के अतिरिक्त अनेक गौणराग[4] उल्लिखित है, जो प्रमुख रागों के विभिन्न प्रकारों के रूप में तथा स्वतन्त्र रूप में भी प्रचार में थे। प्रमुख 'राग' चार प्रकार के माने गये थे। यथा—'पालई' 'कुरिञ्ज' 'मरूदं' एवं शेव्वलि।[5] इनमें से प्रत्येक के उपभेद थे, मरूदं के चार प्रकारों का उल्लेख अहनिलई मरूदं, पुरनिलई मरूदं, मरूहियत मरूदं एवं पेरूहियल मरूदं रूप में देखा जा सकता है।[6] इसी प्रकार पडुम-लैप्पालई, शेलवलिप्पालई, अरूम्पालई, कोडिप्पालई, शेम्पालई, विला-रिप्पालइ, एवं मेर्शेम्पालइ इत्यादि के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं। रागों की उत्पत्ति के विषय में एक संकेत मिलता है कि ये स्वरों के भिन्न-भिन्न संयोग होते हैं, प्रत्येक बार भिन्न भिन्न स्वरों को स्वरित मानकर गायन वादन से भिन्न-भिन्न रागों की स्वरावलियाँ प्राप्त होती हैं। उक्त सभी प्रकार के रागों के गायन वादन में वादी, संवादी, अनुवादी, विवादी स्वरों के उचित प्रयोग आवश्यक माने गये थे एवं यह एक कुशल संगीतकार के द्योतक थे।[7]

पालई रागों का स्वरूप[8]—'पालइ राग ग्रामरागों के समकक्ष समझे जा सकते हैं। इनकी श्रुति व्यवस्था का संकेत श्री रामनाथन की पुस्तक से प्राप्त होता है। हरि काम्बौजी नामक कर्नाटकीय राग की श्रुति व्यवस्था सदृश प्रथम राग शेम्पालई है यथा—

१—वही० श्रुतियों की व्याख्या नाट्यशास्त्र संबंधी अध्याय में देखिये।

२—सप्तक का मंद्रमध्य तार-उल्लेख-पृ० २३२-३।

३—पृ० १००-१; १०२-४; १४२-३; १४६-७; १६८।

४—पृ० १४३-७ पृ० २३२-३ पृ० १४६-७। पृ० २०५-६।

५—पृ० १४६-७।

६—पृ० १००-१; १४२-३; १३६-७।

७—पृ० १४६-७।

८—एस० रामनाथन् सिलप्प०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

४ ४ ३ २ ४ ३ २
सा रे ग म प ध नि् (कैशिक नी)

द्वितीय पालई राग पडुमलइपालई है जो कर्णाटकीय कल्याणी के समक्ष है यथा—

२ ४ ४ ३ २ ४ ३
सा रे ग म् प ध नि

इसी प्रकार तृतीय पालई राग शेवलि पालई तोड़ी के समकक्ष है—

४ ३ २ ४ ४ ३ २ यह हमारा आज
सा रे ग् म प ध् नि् का भैरवी राग है।

अरुम्पालइ खरहरप्रिया या हमारा काफी है।

४ ३ २ ४ ४ ३ २
सा रे ग् म प ध नि्

कोडिम्पालई शंकराभरण अथवा हमारा बिलाबल है—

२ ४ ३ २ ४ ४ ३
सा रे ग म प ध नी

विलारिप्पालई में क्रमशः दो म लगते हैं अतः उसे राग नाम कर्णाटकीय संगीत में नहीं दिया गया। इसकी श्रुति व्यवस्था निम्नोक्त होगी—

३ २ ४ ३ २ ४ ४
सा रे ग म प ध नि

मेरचम्पालई कर्णाटकीय नट भैरवी के सदृश है—

४ ३ २ ४ ३ २ ४
सा रे ग् म म् ध् नि्

उक्त पालई रागों की तुलना षड्ज ग्रामिक व्यवस्था से की जा सकती है।[1] षड्जग्राम की उत्तरमंद्रा मूर्च्छना शेम्पालई के समकक्ष रजनी पडुमलई, पालई तथा क्रमशः अन्य भी इसी प्रकार समकक्ष समझी जा सकती है। शेम्पालई के श्रुति व्यवस्था में अवरोही क्रम में प्रत्येक स्वर को स्वरित बनाने से क्रमशः अन्य पालई राग मिलते हैं। उदाहरण के लिये शेम्पालई के नी को सामने से पडुमलई पालई इत्यादि। यह मूर्च्छनापद्धति के प्रचार का बोध कराता है।

१—ज० म० म्यू० ए० भाग—३४ पृ० ५५ (एस० रामनाथन् ने इसका संकेत किया था।)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गायन के अन्तर्गत प्रयुक्त होने वाले अन्य प्रमुख तत्वों में ताल व लय का महत्वपूर्ण स्थान होता है। 'लय' काल की नियमित गति को कहते हैं एवं ताल नियमबद्ध रचना है। परिमाणयुक्त लय को 'पाणि' कहा गया तथा साधारण लय को टुक्कु'। ताल की रचना उक्त पाणि व टुक्कु के संयोग से होती थी।[1] निश्चित, नियमित आवर्त्तन एवं मात्राओं से युक्त तथा विभिन्न बोलों से युक्त ताल होता है जैसा आज भी देखा जाता है। कुछ तालों के नाम भी मिलते हैं जैसे एक ताल एवं मत्तताल।[2] तालों का स्वरूप संभवतः उत्तर भारतीय तालों से भिन्न था जैसा आज भी है।

लय कई प्रकार की होती थी यथा समान लय एक मात्रा की, जब दो मात्रा एक लय के अन्तर्गत ली जाये तो दुगुन लय होती थी, इस प्रकार लयों के विभिन्न प्रकार एवं गायन वादन में उनका समुचित प्रयोग उस समय आज की भाँति ही ज्ञात था।[3]

गायन के साथ वाद्यों की शास्त्रीय रीति से संगत का भी बहुतायत से उल्लेख प्राप्त होता है।[5] प्रमुख वाद्य जो संगत में प्रयुक्त होते थे वे ये हैं—वीणा वेणु व मृदंग। ताल हाथ से अथवा मँजीरे से भी दिया जाता था। मृदंग स्वर व ताल दोनों का कार्य करता था, यद्यपि ताल का ही कार्य अधिक करता था अर्थात् मृदंग पर ही ताल बजता था। स्वर का कार्य इसलिये कह सकते हैं क्योंकि वह भी कण्ठ या वेणु, वीणादि के स्वर में मिलाया जाता था।[4] गायन की संगत में वेणु वादक जितना गायक से सुने तत्काल उसे बजाये एवं निश्चित सीमा में स्वर विस्तार करे, ऐसा विधान है। वीणा एवं मृदंग आदि भी गायन की संगत में प्रयुक्त होते थे। इनके विषय में वादन के अन्तर्गत विस्तृत विवरण दिया गया है।[1]

१—पृ० ९७–८–९ पृ० १००

२—पृ० १०२–३–४

३—पृ० १००–१०१

४—पृ० ९७–८–९; १००–१–२–३–४।

५—पृ० १००–१–२–३–४ पृ० १४७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वादन—वादन के अन्तर्गत वाद्य संबंधी विवरण आता है। वाद्यों के चारो वर्गों का ज्ञान उक्त साहित्य में देखा जा सकता है।

तंत्री वाद्यों के अन्तर्गत वीणा महत्त्वपूर्ण वाद्य था, जिसका विस्तृत विवरण उक्त ग्रन्थों में प्राप्त होता है। वीणा के लिये 'याल' संज्ञा भी मिलती है। यह एक मधुर ध्वनि से युक्त वाद्य था जिसकी स्त्रियों की ध्वनि से तुलना की गई है (उपमा मिलती है)। याल से विभिन्न प्रकार की मधुर ध्वनियों एवं रागों की उत्पत्ति होती है।[1] तंत्री संख्या के आधार पर याल के प्रमुख चार प्रकार ज्ञात थे, इक्कीस तारों वाला याल पेरियाल, उन्नीस तारों वाला मकरयाल, चौदह तारों वाला शकोठ्याल तथा सात तारों वाला शेण्गोट्टि याल कहलाता था।[2] इन प्रमुख प्रकारों के अतिरिक्त भीं तंत्री संख्या के भेद से संभवतः अन्य प्रकार भी ज्ञात थे। वीणा में सप्तस्वरों के लिये सप्ततंत्रियां होती थीं जिनका नाम देखा जा चुका है। वीणा में जैसे जैसे बाईं ओर बढ़ते हैं[3] स्वर नीचा होता है जबकि वेणु में इसके ठीक विपरीत होता है।[4] सप्तक के सात स्वरों के मध्य स्वरान्तराल के विषय में मतभेद है अतः इस बिषय पर निश्चित नहीं कहा जा सकता। याल के अथवा वीणा के मध्य का भाग 'कैकिकलइ' कहलाता था, एक भाग 'तार' जहाँ पर कड़े तार होते थे एवं कुरल भाग वह था जहाँ पतले तार बधे होते थे इसके अतिरिक्त विलारी भाग भी था। यह प्रतीत होता है कि स्वरों के आधार पर जहाँ जिस स्वर की तंत्री होती थी इसके अनुसार उस भाग का नामकरण किया गया था।[5]

वीणापर रागवादन से पूर्व उनका स्वर में मिला होना, अथवा सुरीला होना आवश्यक होता है। मिलाने के लिये उसमें खूंटियाँ होती हैं जिसे कसके अथवा ढीला करके (आवश्यकतानुसार) स्वर

१—पृ० ६४–५।
२—याल संबंधी उल्लेख–पृ० ११८; २६०; २६७।
३—पृ० ६७–८–६६।
४—पृ० १००–१।
५—पृ० १००–१।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में मिलाते हैं ।[१] वीणा की ध्वनि परीक्षण के लिये उससे निकली आठ प्रकार की ध्वनियों का उल्लेख एक स्थल पर मिलता है जहाँ मादवी नर्तकी वीणा में से आठ प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न करती है। इसके अतिरिक्त आठ प्रकार की धुनों (Tunes) का भी उल्लेख मिलता है—ञाडल, वादिन्तल, उण्डल, उरल्डल, उरूट्टल, तेरूट्टल, अट्टल, पट्टडइ इत्यादि । इनके विषय में अन्य कहीं उल्लेख नहीं मिलता अतः इसे राग कहे या स्वर यह निश्चित नहीं ।[२] वीणा पर पारंपरिक चौदह रागों का वादन होता था ।[३] वीणा का वह भाग जहाँ बायाँ हाथ रहता है माडगं कहलाता है ।[४]

वीणा पर अनेक प्रकार के रागों का वादन किया जाता था। वीणा का एकाकी एवं समूहगत संगत रूप में वादन ज्ञात था। एकाकी वादन का उल्लेख मादवी के वादन में देखा जा सकता है। उपर्युक्त चौदह पारंपरिक रागों का वादन कुशलता से होना चाहिये। एवं वादी, संवादी अनुवादी एवं विवादी स्वरों का उचित उपयोग उचित परीक्षण सहित करना चाहिये। कुछ निश्चित स्वरों व तंत्रियों के मध्य वादन में प्रवीणता होनी चाहिये क्योंकि इसी प्रकार के भेद प्रभेद द्वारा ही विभिन्न रागों का निर्माण होता है। जैसे उलई से कैकीकलई तंत्री तक के चौदह तारों के वादन से शेम्पालई राग की उत्पत्ति होती थी एवं इसी प्रकार तारं, विलारि कैकिलई तथा तुत्तम आदि से प्रारंभ करके बजाने से क्रमशः पडुमलैप्पालई, शेंवलिपालइ, विलारिप्पालई तथा मेर्चेम्पालई राग की उत्पत्ति होती है।[५] इसी प्रकार विभिन्न स्वरों को स्वरित मानकर प्रमुख राग को बजाया जाता था। यथा कुरल से पालई राग एवं तुत्तम को स्वरित मानने से कुरिश्वराग[६] इससे मूर्च्छनागायन का भी संकेत मिलता है।

१—पृ० १३७; १६५; ३१८ ।
२—पृ० १३१ ।
३—पृ० १४६–७ ।
४—वही० ।
५—पृ० १००–१, १४६–७ ।
६—पृ० ३१७ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वीणा का वादन जब गायन व नृत्य की संगत में हो उस समय उसे वेणु मृदंग एवं कण्ठ स्वर से मिला होना चाहिये।[1]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वीणा एक महत्त्वपूर्ण वाद्य था। एकाकी वादन एवं समूह व संगत तीनों ही रूपों में। वीणा को अत्यन्त सजाकर रखते थे जो एक सजी दुल्हन सी प्रतीत होती थी।[2] उक्त उल्लेख वीणा के महत्त्व का सम्मिलित संकेत करते हैं।

सुषिर वाद्य—सुषिर वाद्यों के अन्तर्गत महत्त्वपूर्ण वाद्य वेणु[3] था, जो स्वर की सगति के लिये अत्यधिक उपयोगी था। वेणु के लिये 'कुलल संज्ञा भी प्राप्त होती है।[4] वेणु में सप्त स्वरों के लिये ७ छिद्र होते हैं एवं जैसे-जैसे नीचे की ओर बढ़ते हैं, आरोही क्रम से स्वर ऊँचे होते हैं।[5] वेणु पर राग वादन होता था। गायन की संगति एवं नृत्य की संगत में इसका प्रयोग बहुतायत से होता था। गायक वादन में जैसा स्वर विस्तार राग में करे ठीक उसी प्रकार उतने ही स्वरों की सीमा में वेणु वादक को भी करना चाहिये। संगत ऐसी हो कि प्रत्येक स्वर भिन्न-भिन्न सुनाई पड़ सके।[6] संगत में यह कण्ठ स्वर मृदंग व वीणा सबके स्वर में मिला होना चाहिये।[7] वेणु के पाँच प्रकार प्रचार में थे, जिनमें से तीन का कोणरई, अम्बल एवं मुल्लई वेणु का उल्लेख आता है।[8]

वेणु के अतिरिक्त सुषिर वाद्यों के अन्तर्गत शृंगवादन, तुरही, मसक बाजे (bag Pipes) आदि का भी उल्लेख मिलता है। सेना में उनका वादन होता था। इनके वादकों के लिये भिन्न-भिन्न निवास-स्थान होते थे।[9]

१—पृ० १०२। ३-४।
२—पृ० १३१।
३—पृ० १००-१, पृ० ६४।
४—पृ० ९७-८-९।
५—पृ० १००-१।
६—पृ० १००-१।
७—वही०
८—पृ० २३२-३।
९—पृ० ११२; १४५; २७६; ३००।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आनद्धवाद्य—इसके अन्तर्गत मृदंग, सर्वाधिक महत्वपूर्ण वाद्य है, जिसका संगीत सम्बन्धी उपयोग के अतिरिक्त अन्य अवसरों पर भी उपयोग होता था। २१ चर्म से मढ़े वाद्यों में से एक मृदंग था।[1] मृदंग स्वर, ताल दोनों ही दृष्टि से महत्वपूर्ण वाद्य था। गायन की संगति में इसे कण्ठ स्वर एवं वीणा तथा वेणु के स्वरों के अनुकूल मंद्र मध्य अथवा तार स्वर में मिलाया जाता था। तथा विभिन्न प्रकार की लय एवं तालों का वादन भी मृदंग पर किया जाता था। मृदंग-वादन से यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि प्रत्येक प्रकार की लय का समन्वय, एवं तालों का प्रयोग इस प्रकार किया जाये ताकि वीणा के स्वर एवं वेणु और कण्ठस्वर के एकस्वर में मिला रहे, उसके साथ उचित संतुलन रहे संगत के समय यह भी ध्यान रहे कि कभी-कभी अपने वाद्य की ध्वनि कम करदे ताकि अन्य वाद्यों को सुना जा सके।[2] मृदंग के अतिरिक्त अन्य प्रकार के ढोलों का भी प्रचार था, जो विभिन्न अवसरों पर बजाये जाते थे। ढोल का एक प्रकार 'किनइ' भी था, जो नृत्यादि की संगत में बजता था।[3] ढोल छोटे बड़े आकार एवं मुखसंख्या के आधार पर अनेक प्रकार के होते थे। प्रार्थना के समय एक छोटे ढोल वादन का तथा एक अन्य स्थान पर एक मुख वाले ढोल का उल्लेख, उक्त तथ्य की पुष्टि करता है।[4] टमटम नामक एक अन्य प्रकार के ढोल का भी उल्लेख मृतक संस्कार के संदर्भ में प्राप्त होता है।[5] विजय घोषणा, नगर जागरण, सेवामें ढोल का उपयोग एवं इन्द्रोत्सव आदि के समय ढोल वादन प्रमुख रूप से किया जाता था।[6] युद्ध में बजने वाला ढोल रोम युक्त वृषभ चर्म से मढ़ा जाता था, जिससे वह तीव्र ध्वनि करे।[7] विवाहावसर पर भी इसका

१—पृ० ९७. ९. ९९।

२—पृ० १००–१, २. ३. ४

३—पृ० १९५–६।

४—पृ० ३०१; २७६।

५—पृ० १२६।

६—पृ० १०२–३–४; १०९ : ११४ : ११८ : ३००;

७—पृ० ३००।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वीणा का वादन जब गायन व नृत्य की संगत में हो उस समय उसे वेणु मृदंग एवं कण्ठ स्वर से मिला होना चाहिये।[१]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वीणा एक महत्त्वपूर्ण वाद्य था। एकाकी वादन एवं समूह व संगत तीनों ही रूपों में। वीणा को अत्यन्त सजाकर रखते थे जो एक सजी दुल्हन सी प्रतीत होती थी।[२] उक्त उल्लेख वीणा के महत्त्व का सम्मिलित संकेत करते हैं।

सुषिर वाद्य—सुषिर वाद्यों के अन्तर्गत महत्त्वपूर्ण वाद्य वेणु[३] था, जो स्वर की सगति के लिये अत्यधिक उपयोगी था। वेणु के लिये 'कुलल संज्ञा भी प्राप्त होती है।[४] वेणु में सप्त स्वरों के लिये ७ छिद्र होते हैं एवं जैसे-जैसे नीचे की ओर बढ़ते हैं, आरोही क्रम से स्वर ऊँचे होते हैं।[५] वेणु पर राग वादन होता था। गायन की संगति एवं नृत्य की संगत में इसका प्रयोग बहुतायत से होता था। गायक वादन में जैसा स्वर विस्तार राग में करे ठीक उसी प्रकार उतने ही स्वरों की सीमा में वेणु वादक को भी करना चाहिये। संगत ऐसी हो कि प्रत्येक स्वर भिन्न-भिन्न सुनाई पड़ सके।[६] संगत में यह कण्ठ स्वर मृदंग व वीणा सबके स्वर में मिला होना चाहिये।[७] वेणु के पाँच प्रकार प्रचार में थे, जिनमें से तीन का कोण्रई, अम्बल एवं मुल्लई वेणु का उल्लेख आता है।[८]

वेणु के अतिरिक्त सुषिर वाद्यों के अन्तर्गत श्रृंगवादन, तुरही, मसक वाजे (bag Pipes) आदि का भी उल्लेख मिलता है। सेना में उनका वादन होता था। इनके वादको के लिये भिन्न-भिन्न निवास-स्थान होते थे।[९]

१—पृ० १०२। ३-४।
२—पृ० १३१।
३—पृ० १००-१, पृ० ६४।
४—पृ० ९७-८-६।
५—पृ० १००-१।
६—पृ० १००-१।
७—वही०
८—पृ० २३२-३।
६—पृ० ११२; १४५; २७६; ३००।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आनद्धवाद्य—इसके अन्तर्गत मृदंग, सर्वाधिक महत्वपूर्ण वाद्य है, जिसका संगीत सम्बन्धी उपयोग के अतिरिक्त अन्य अवसरों पर भी उपयोग होता था। २१ चर्म से मढ़े वाद्यों में से एक मृदंग था।[1] मृदंग स्वर, ताल दोनों ही दृष्टि से महत्वपूर्ण वाद्य था। गायन की संगति में इसे कण्ठ स्वर एवं वीणा तथा वेणु के स्वरों के अनुकूल मंद्र मध्य अथवा तार स्वर में मिलाया जाता था। तथा विभिन्न प्रकार की लय एवं तालों का वादन भी मृदंग पर किया जाता था। मृदंग-वादन से यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि प्रत्येक प्रकार की लय का समन्वय, एवं तालों का प्रयोग इस प्रकार किया जाये ताकि वीणा के स्वर एवं वेणु और कण्ठस्वर के एकस्वर में मिला रहे, उसके साथ उचित संतुलन रहे संगत के समय यह भी ध्यान रहे कि कभी-कभी अपने वाद्य की ध्वनि कम करदे ताकि अन्य वाद्यों को सुना जा सके।[2] मृदंग के अतिरिक्त अन्य प्रकार के ढोलों का भी प्रचार था, जो विभिन्न अवसरों पर बजाये जाते थे। ढोल का एक प्रकार 'किनइ' भी था, जो नृत्यादि की संगत में बजता था।[3] ढोल छोटे बड़े आकार एवं मुखसंख्या के आधार पर अनेक प्रकार के होते थे। प्रार्थना के समय एक छोटे ढोल वादन का तथा एक अन्य स्थान पर एक मुख वाले ढोल का उल्लेख, उक्त तथ्य की पुष्टि करता है।[4] टमटम नामक एक अन्य प्रकार के ढोल का भी उल्लेख मृतक संस्कार के संदर्भ में प्राप्त होता है।[5] विजय घोषणा, नगर जागरण, सेवामें ढोल का उपयोग एवं इन्द्रोत्सव आदि के समय ढोल वादन प्रमुख रूप से किया जाता था।[6] युद्ध में बजने वाला ढोल रोम युक्त वृषभ चर्म से मढ़ा जाता था, जिससे वह तीव्र ध्वनि करे।[7] विवाहावसर पर भी इसका

१—पृ० ९७. ८. ९९।

२—पृ० १००–१, २. ३. ४

३—पृ० १९५–६।

४—पृ० ३०१; २७६।

५—पृ० १२६।

६—पृ० १०२–३–४; १०९ : ११४ : ११८ : ३००;

७—पृ० ३००।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वीणा का वादन जब गायन व नृत्य की संगत में हो उस समय उसे वेणु मृदंग एवं कण्ठ स्वर से मिला होना चाहिये।[१]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वीणा एक महत्त्वपूर्ण वाद्य था। एकाकी वादन एवं समूह व संगत तीनों ही रूपों में। वीणा को अत्यन्त सजाकर रखते थे जो एक सजी दुल्हन सी प्रतीत होती थी।[२] उक्त उल्लेख वीणा के महत्त्व का सम्मिलित संकेत करते हैं।

सुषिर वाद्य—सुषिर वाद्यों के अन्तर्गत महत्त्वपूर्ण वाद्य वेणु[३] था, जो स्वर की सगति के लिये अत्यधिक उपयोगी था। वेणु के लिये 'कुलल संज्ञा भी प्राप्त होती है।[४] वेणु में सप्त स्वरों के लिये ७ छिद्र होते हैं एवं जैसे-जैसे नीचे की ओर बढ़ते हैं, आरोही क्रम से स्वर ऊँचे होते हैं।[५] वेणु पर राग वादन होता था। गायन की संगति एवं नृत्य की संगत में इसका प्रयोग बहुतायत से होता था। गायक वादन में जैसा स्वर विस्तार राग में करे ठीक उसी प्रकार उतने ही स्वरों की सीमा में वेणु वादक को भी करना चाहिये। संगत ऐसी हो कि प्रत्येक स्वर भिन्न-भिन्न सुनाई पड़ सके।[६] संगत में यह कण्ठ स्वर मृदंग व वीणा सबके स्वर में मिला होना चाहिये।[७] वेणु के पाँच प्रकार प्रचार में थे, जिनमें से तीन का कोण्रई, अम्बल एवं मुल्लई वेणु का उल्लेख आता है।[८]

वेणु के अतिरिक्त सुषिर वाद्यों के अन्तर्गत शृंगवादन, तुरही, मसक बाजे (bag Pipes) आदि का भी उल्लेख मिलता है। सेना में उनका वादन होता था। इनके वादको के लिये भिन्न-भिन्न निवास-स्थान होते थे।[९]

१—पृ० १०२। ३-४।
२—पृ० १३१।
३—पृ० १००-१, पृ० ६४।
४—पृ० ९७-८-९।
५—पृ० १००-१।
६—पृ० १००-१।
७—वही०
८—पृ० २३२-३।
९—पृ० ११२; १४५; २७६; ३००।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आनद्धवाद्य—इसके अन्तर्गत मृदंग, सर्वाधिक महत्वपूर्ण वाद्य है, जिसका संगीत सम्बन्धी उपयोग के अतिरिक्त अन्य अवसरों पर भी उपयोग होता था। २१ चर्म से मढ़े वाद्यों में से एक मृदंग था।[1] मृदंग स्वर, ताल दोनों ही दृष्टि से महत्वपूर्ण वाद्य था। गायन की संगति में इसे कण्ठ स्वर एवं वीणा तथा वेणु के स्वरों के अनुकूल मंद्र मध्य अथवा तार स्वर में मिलाया जाता था। तथा विभिन्न प्रकार की लय एवं तालों का वादन भी मृदंग पर किया जाता था। मृदंग-वादन से यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि प्रत्येक प्रकार की लय का समन्वय, एवं तालों का प्रयोग इस प्रकार किया जाये ताकि वीणा के स्वर एवं वेणु और कण्ठस्वर के एकस्वर में मिला रहे, उसके साथ उचित संतुलन रहे संगत के समय यह भी ध्यान रहे कि कभी-कभी अपने वाद्य की ध्वनि कम करदे ताकि अन्य वाद्यों को सुना जा सके।[2] मृदंग के अतिरिक्त अन्य प्रकार के ढोलों का भी प्रचार था, जो विभिन्न अवसरों पर बजाये जाते थे। ढोल का एक प्रकार 'किनइ' भी था, जो नृत्यादि की संगत में बजता था।[3] ढोल छोटे बड़े आकार एवं मुखसंख्या के आधार पर अनेक प्रकार के होते थे। प्रार्थना के समय एक छोटे ढोल वादन का तथा एक अन्य स्थान पर एक मुख वाले ढोल का उल्लेख, उक्त तथ्य की पुष्टि करता है।[4] टमटम नामक एक अन्य प्रकार के ढोल का भी उल्लेख मृतक संस्कार के संदर्भ में प्राप्त होता है।[5] विजय घोषणा, नगर जागरण, सेवामें ढोल का उपयोग एवं इन्द्रोत्सव आदि के समय ढोल वादन प्रमुख रूप से किया जाता था।[6] युद्ध में बजने वाला ढोल रोम युक्त वृषभ चर्म से मढ़ा जाता था, जिससे वह तीव्र ध्वनि करे।[7] विवाहावसर पर भी इसका

१—पृ० ९७. ८. ९९।

२—पृ० १००–१, २. ३. ४

३—पृ० १९५–६।

४—पृ० ३०१; २७६।

५—पृ० १२६।

६—पृ० १०२–३–४; १०९ : ११४ : ११८ : ३००;

७—पृ० ३००।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वादन होता था।[१] समय सूचना, उत्सव घोषणा एवं राजकीय घोषणाएँ ढोल वादन द्वारा होती थीं।[२] घट वादन का भी एक स्थल पर उल्लेख मिलता है, जिसका आज भी प्रचार मिलता है।[३]

घनवाद्य—इसके अन्तर्गत झांझ मजीरे आदि को रखा जाता है। लय हाथ से अथवा उक्त करतालादि से दिया जाता था। सेवा में अन्य वाद्यों के साथ इसका वादन भी होता था।[४] अतः यह स्पष्ट है कि इस वर्ग के वाद्यों से यह साहित्य अनभिज्ञ नही था।

नृत्य—नृत्य की प्रमुख दो परंपराएँ देशी वा मार्गी प्रचलित थीं।[५] नृत्य के लिए तमिल में 'आडल' एवं मुद्राओं (Gestures) के लिये 'पाडल' संज्ञा प्राप्त होती है।

उक्त नृत्यों के कई प्रकार का उल्लेख तमिल ग्रंथों में मिलते हैं—तुणगई अथवा शिंगि नृत्य जिसमें नर्त्तक अपने हाथों को अपने कुल्हों पर टिकाये रखते हैं।[६] वाड्डुकु—इस नृत्य में मत्तताल से प्रारंभ करके एकताल में समाप्त करते हैं।[७]

कोंडुकोट्टि—यह शिव का नृत्य है। यह लय प्रधान नृत्य है। एक ओर उमा लय देती है दूसरी ओर श्मशान भूमि में बारती अथवा काली गलत लय को दूर करती है।[८]

पाण्डरंग नृत्य—यह भी ब्रह्मा के संमुख सरस्वती के रूप में किया जाने वाला शिव का ही नृत्य है।

३—पृ० ८६।
४—पृ० १३३ मणि० ११४ पृ० सिल० पृ० १६५–६; १६५–६;
५—पृ० १०२–३–४।
६—पृ० ६६–८–७; ३००।
७—पृ० १०२–३–४।
८—पृ० ११३।
६—पृ० १०२–३–४।
१—पृ० १२३–२६।
२—वही०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अलियम नृत्य[१]—कृष्ण द्वारा किये गये दस नृत्यों में से एक था। कंस को मारने के पश्चात् विष्णु द्वारा किया गया नृत्य है।

मल्लुनृत्य[२]—यह नृत्य भी इसी देवता के द्वारा एक हजार हाथों वाले बाणासुर को मारने के बाद किया गया नृत्य है।

तुडिनृत्य[३]—सुब्रह्मण्य ने समुद्र के मध्य इस नृत्य को किया था जो एक रंगमंच का कार्य कर रहा था। समुद्र के मध्य इस लिये किया था कि शूर नामक असुर का नाश करने के लिये वे यहाँ तक पहुँचे थे। यहीं पर शूर अपने को छिपाने के लिये आया था।

कुडई अथवा छाता नृत्य[४]—यह भी इन्हीं के द्वारा किया गया था।

कुडमपोट नृत्य[५]—विष्णु द्वारा तीन पगों में तीनों को नापने का है। इस नृत्य की उत्पत्ति विद्वान् चरवाहों के नृत्यों से मानते हैं।

पोडिनृत्य[६]—काम के अपने पुरुष रूप परिवर्त्तित करने का यह नृत्य है।

मरककाल नृत्य[७]—दुर्गा द्वारा किया गया था। असुर संहार हेतु यह नृत्य किया गया था। यह नृत्य हाथ में माला लेकर एवं पैरों में लकड़ी बाँध कर किया जाता था।

पावइ नृत्य[८]—यह नृत्य लक्ष्मी द्वारा किया गया नृत्य था।

१—वही० पृ० १२३-६।

२—वही०।

३—वही०।

४—वही०।

५—वही०।

६—वही० तथा माणि पृ० १२५।

७—पृ० १२३-६ तथा १८६।

८—मणि० पृ० ११६ सिल० पृ० १२३-६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कडयम नृत्य[1]—यह इन्द्राणी द्वारा बाणासुर की नगरी के उत्तरी द्वार के मैदान में किया गया था। उक्त ग्यारह प्रकार के नृत्यों का परंपरानुसार, अनुकूल वस्त्र, अनुकूल भाव, अभिनय एवं गायन के साथ प्रदर्शन होना चाहिये।[2]

नृत्य के कुछ अन्य प्रकार भी जो 'वरि' कहलाते थे जिसे नर्त्तकियाँ करती थीं, प्रचार में थे। इस नृत्य को गृहिणियों द्वारा किये 'कुरवाई' नृत्य से भिन्न रखने की अत्यन्त प्राचीन परंपरा थी। ये ८ प्रकार के होते थे—

कण्काडुवरि—कुमारियों द्वारा मस्तक पर तिलक लगाकर किया जाता था।

काण्वरि—सुन्दर काले नेत्रों, चन्द्रमुख वाली मुस्कराती स्त्री द्वारा यह नृत्य निश्चित आवृत्ति एवं मध्यान्तर से युक्त आगे पीछे आने जाने के साथ होता था।

उलवरि—तीखी आखों वाली नर्त्तकी द्वारा वेष बदलकर किया जाने वाला यह नृत्य था।

पुरवरि—क्षुद्रनृत्य था। इसमें नायिका ठंढे दिल से अपने प्रेमी के साथ को अनदेखा करती है।

किलवरि—सुन्दर ललाट वाली स्त्री अपने को छिपाने वाली मुद्रा के माध्यम से यह नृत्य करती है।

तेरिच्चिवरि—विरह एवं प्रेमी से अलग होने के दुःख के भाव से युक्त यह नृत्य होता है।

कटिचिवरि—दर्शकों के सम्मुख दुःख प्रगट करना इस नृत्य की प्रमुख विषयवस्तु है।

एडुट्टुककोलवरि—मूर्च्छा को दिखाने की नाटकीय क्रिया इस नृत्य में की जाती है।[3] उक्त नृत्यों के अतिरिक्त एक प्रकार के कुरवई नृत्य

१—सिल० पृ० १२५।
२—पृ० १२३–६।
३—उक्त सभी प्रकार—पृ० १४८–६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का भी पर्याप्त प्रचार था। इसे रासमण्डल नृत्य भी कहा जा सकता है। इस नृत्य में स्त्री पुरुष गोलाई में एक दूसरे का हाथ पकड़कर नृत्य करते थे। इस नृत्य में 'कर्कटक'[1] मुद्रा का उपयोग करते थे। इस नृत्य कुर्वई नृत्य का सात लड़कियों द्वारा किये जाने का एक स्थल पर उल्लेख आता है। ये सात लड़कियाँ सप्त तंत्रियों की सी स्थिति में खड़ी होती है एवं प्रत्येक के नाम भी तंत्रियों के नाम पर होते थे। इस नृत्य में गायन भी होता था, 'कुरल' नामवाली स्त्री तुत्तम वाली से 'मुल्लई' राग मंद्र सप्तक में गाने को कहेगी। यह राग गोकुल में कुण्डवृक्ष तोड़ने वाले के सम्मान में गाया जाता था। 'इलि' तार का प्रतिनिधित्व करने वाली मध्य सप्तक, तुत्तम वाली उच्चस्वर में गायेगी। विलारी वाली अपने स्वर में तुत्तम के स्वर का अनुसरण करेगी। 'कुत्रेइ' नृत्य विष्णु का था।[2] कुर्वई के अतिरिक्त एक 'कोट्टिच्चेदम' नृत्य भी था। जो शिव के पवित्र अर्धनारीश्वर रूप का नृत्य था।[3] नृत्य के अन्तर्गत आने वाले प्रमुख तत्वों पर भी कुछ अंशों द्वारा प्रकाश पड़ता है। मृतक के चारो ओर नृत्य संगीत की भी परंपरा थी जो आज भी वहाँ निम्न वर्गीय ब्राह्मणों में प्रचलित है जो शवयात्रा के समय नाचते गाते ढोल तुरही बजाते जाते है।[4]

नृत्य में शरीर तथा हाँथपैरों की गतियों के ११ प्रकारों से संबंधित नियमों का उचित पालन होना चाहिये। नृत्य में मुद्राओं का प्रधान स्थान होता है। विभिन्न मुद्राओं के द्वारा भाव प्रदर्शन नर्त्तक करता है।[5] जिस प्रकार शरीर व हाथ पैर की गति आडल उसी प्रकार मुद्राएँ 'पाडल' कहलाती हैं। कुछ मुद्राओं के उल्लेख भाव प्रदर्शन में भी देखे जा सकते हैं। जब एक हाथ का प्रयोग होता है तब वह 'पिण्डि' कहलाता है। 'पिण्डि' का भी प्रदर्शन चौबीस प्रकार से संभव

२—पृ० २२९ तथा पृ० २३२–३। कर्कटक मुद्रा में बीच व अंगूठी वाली सामने झुकी होती है। एवं अन्य दो उंगलियाँ दूसरी की उन्हीं दो से मिलती हैं।

३—पृ० ३४२; ११३।

४—पृ० ३१९।

५—तमिल साहित्य और संस्कृति पृ० ११८–१९।

१—पृ० ९७–८–९ नृत्य में हाथ पैरों की गति माडल कहलाती है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

था। जब दो हाथों का प्रयोग करते हैं तब वह 'पिणैयल' कहलाता है जो तेरह प्रकार से किया जा सकता है।[1] जब किसी क्रिया की अभिव्यक्ति अथवा प्रदर्शन हेतु केवल हाथों का प्रयोग करते हैं, वह 'तोलिकइ' कहलाता है तथा जब कभी गंभीर एवं सुन्दर प्रभाव दिखाने के लिये उक्त प्रयोग करते हैं, वह 'सलिकई' कहलाता है। एक हाथ के प्रदर्शन को कूटई एवं दो हाथो के प्रयोग को 'वार' कहते थे। दोनों का सम्मिश्रण नहीं करना चाहिये। पैरों की गति में भी कुरवई एवं वरि का मिश्रण नहीं होना चाहिये।[2]

नृत्य में उचित मुद्राओं, एवं हस्त क्रियाओं का तथा एक स्थान से दूसरे स्थान पर विचरण करने का समावेश होता है।[3]

नृत्य की संगत में गायन की भी प्रथा थी। विलककु एवं पाट्टु नामक गीत के साथ भिन्न-भिन्न नृत्य मुद्राओं का संयोग होना चाहिये।[4]

नृत्य के साथ 'वार' नामक गायन भी होता था जिसके प्रारंभ व मध्यादि भाग होते थे।[5]

नृत्य के साथ वादन की संगति साथ में विभिन्न लय एवं तालों की संगति आवश्यक थी।[6] नृत्य की संगत में वाद्यों का स्वर एक रूप होना चाहिये। जो गायन साथ में हो वह नृत्योपयोगी होना चाहिये।[7]

नृत्य के भी प्रादेशिक आधार पर प्रकार भेद अवश्य रहे होगें ऐसा अनुमान करना भ्रामक नहीं है। जैसा वेल्लालों (जातिविशेष) के अपने ढंग के नृत्यगीत के होने का संकेत स्पष्ट ही देखा जा सकता है।[8]

१—पृ० ९७–८–९९।
२—पृ० ९७–८–९।
३—पृ० १८०।
४—पृ० ९७–८–९।
५—पृ० २०५–६।
६—पृ० ९७–८–९; २३४।
७—पृ० १००–१।
८—पृ० २५९; २८४।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

उक्त प्रमुख उल्लेखों के अतिरिक्त नृत्य के अनेक स्थल पर उल्लेख देखे जा सकते हैं।[1] उत्सव आदि में तथा सेना के विजयी होकर लौटने में नृत्य प्रायः आवश्यक था।[2]

धार्मिक नर्त्तक एवं नर्त्तकियाँ के अतिरिक्त कुछ हास्य अनुकरण वाले नर्त्तक नर्त्तकियों भी होती थीं।[3] शालिनी ऐसी ही नर्त्तकी थी। धार्मिक नर्त्तकों के निवास-स्थान नगर में भिन्न होते थे।[4]

संगीत एवं स्त्री वर्ग—उक्त ग्रन्थों के सूक्ष्म अध्ययन से यह अनुमान करना भ्रामक न होगा कि स्त्रियों का संगीत के साथ घनिष्ठ संबंध था। चौंसठ कलाएँ जिनमें स्त्रियाँ कुशला होती थी संगीत उनमें से एक था। स्त्रियों के लिये बहुधा यही उल्लेख मिलता है कि वे नृत्य गीत कुशला होती थीं एवं उनकी ध्वनि वेणुवीणादि के समान मधुर होती थी।[5] निम्न जाति की स्त्रियाँ एवं क्षत्रिय वर्ग दोनों ही की स्त्रियों का संगीत के साथ संबंध देखा जा सकता है।[6] नृत्य संगीत पेशेवर नर्तकियाँ एवं गृहिणियाँ दोनों ही करती थीं जिसके विषयमें नृत्य संबंधी उल्लेख में देखा जा चुका है। नृत्य करने वाली स्त्रियों का अलग निवासस्थान होता था। उनका पेशा केवल संगीत शिक्षा एवं संगीत प्रदर्शन ही होता था। जब वे उच्चशिक्षा ग्रहण कर लेती थी तो कला प्रदर्शन राजा के सम्मुख करती थीं। मादवी का उल्लेख इसकी पुष्टि के लिये पर्याप्त होगा। इनके परिवार में यदि कोई स्त्री संगीत नहीं सीखती थी तो उन्हें अत्यन्त दुःख होता था एवं वे क्षोभ करती थीं कि उनका तो वही मात्र पेशा है। अतः दूसरा कार्य नहीं करना चाहिये। मणिमेखलई के बौद्ध भिक्षुणी होने के समाचार ने उनकी माता एवं नानी को अत्यन्त दुःखी कर दिया था।[7]

१—मणि० पृ० १२१; ११६; १२०; सिल० पृ० ७७–८६ पृ० १००।
२—मणि० १५७–१५६ सिल० १६८; १८३; १०२–३–४।
३—पृ० ११२; १९०।
४—पृ० ११२।
५—पृ० ७०; ८६; ९४।
६—पृ० १८०; १६१।
७—मणि०—१५५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जहाँतक संगीतकला का प्रश्न है यदि संगीत कला में ये पेशेवर स्त्रियाँ अत्यधिक निपुण होती थी तो उन्हे राज्य की ओर से पुरस्कार भी दिया जाता था। परंतु अच्छे परिवार के लड़के इनकी कला में दिन रात मग्न होने में अपना सब कुछ गंवा बैठते थे। कोवालन नामक बणिक् पुत्र का यही हाल हुआ था। अतः इस दृष्टि से वेश्याओं को अवश्य कुछ हेय समझा गया, किन्तु उनकी कला को नहीं, यदि वे उस में निपुण हैं तो, यही कारण था कि मादवी की कला को कभी हेय नहीं समझा गया।

संगीत शिक्षा—संगीत की शिक्षा के विषय में भी प्रचुर संकेत प्राप्त होते हैं। संगीत की शिक्षा (शास्त्रीय संगीत की) विधिपूर्वक संगीताचार्य देता था। जो संगीत के विभिन्न तत्वों का ज्ञाता एवं कुशल संगीतकार होता था। शिक्षा निरन्तर सात सात साल की होती थी जब शिष्य पूर्णतः शिक्षा समाप्त कर लेते थे तब और कला प्रदर्शन सबके सम्मुख करने के योग्य हो जाते थे तब प्राचीन पारंपरिक विधि के अनुसार नृत्यशाला में (पब्लिक हाल) अथवा संगीतशाला में सार्वजनिक प्रदर्शन राजा के सम्मुख होता था। इसके अतिरिक्त राज्य के उत्सव विशेष में भी कुशल संगीतकार अपनी कला का प्रदर्शन करते थे।[3]

संगीत शिक्षा से संबंधित यह उल्लेख भी मिलता है कि संगीत शिक्षक के क्या गुण होते थे। नृत्य शिक्षक के गुणों का एक स्थल पर इस प्रकार उल्लेख आता है कि जिससे यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उसे नृत्य के देशी एवं मार्गी परंपरा का ज्ञान होना चाहिये। उसे नृत्य की विभिन्न मुद्राओं के साथ विलकक़ु गीत का समन्वय का ज्ञान होना चाहिये। उसे शरीर एवं हाथ पैरों की गति संबंधी ११ नियमों का ज्ञान होना चाहिये, उसे पाट्टु नामक विशेष नाटकीय गीत रचना का वाद्य वादन का, नृत्य की चेष्टाओं का एवं ताल तथा लय का ज्ञान होना चाहिये।

१—सिल० पृ० ९७–८–९९।

२—पृ० ३१७ मणि पृ० १५७।

३—पृ० १२३ सिल०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नृत्य के निज तत्वों का उल्लेख किया जा चुका है उसमें उसे कुशल, प्रवीण होना चाहिये।

संगीत शिक्षक जो गीत वाद्य की शिक्षा दे, उसे याल एवं वेणु (कुलल) के वादन में कुशलता प्राप्त होनी चाहिये। कण्ठ स्वर, ताल एवं मृदंग वादन में कुशल हों। उसे देशी संगीत की सूक्ष्मतम ध्वनियों का भी ज्ञान होना चाहिये। पूर्ण ज्ञान के द्वारा ही शिक्षक गायन एवं नृत्य के प्रकारों का उचित वर्गीकरण एवं विस्तार कर सकता है, एवं संगीत की रचनाओं एवं अपने गुरु की शिक्षा तथा स्वयं संगीत के प्रति इमानदार रह सकता है।[1] संगीत के जिन शास्त्रीय तत्त्वों का विवेचन किया जा चुका है उन सबका ज्ञान संगीत शिक्षक के लिये आवश्यक है, राग, स्वर, ताल का ज्ञान विभिन्न वाद्यों वेणु वीणा एवं मृदंग का नियमपूर्वक उचित वादन आदि गुण संगीत शिक्षक के संक्षेप में कहे जा सकते हैं।[2]

संगीत एवं समाज—समाज के विभिन्न वर्गों में संगीत का प्रचार था सर्वप्रथम राजाओं के साथ संगीत के घनिष्ठ संबंध को देखा जा सकता है। राजा समय समय पर संगीत आयोजनों में जाता था एवं उत्कृष्ट कलाकारों को पुरस्कार देता था।[3] राजाओं के महलों में भी समय सूचना के लिये वाद्यवादन होता था तथा उनके योद्धाओं के सम्मान में नृत्य गीतादि होता था।[4] राजाओं के संगीत प्रेम का एक स्पष्ट उदाहरण भी देखा जाता है जहाँ रानियों को यह चिन्ता करते उल्लेख किया गया है कि राजा कहीं सुन्दर नर्त्तकियों से प्रभावित न हो जाये जो संगीतकला में निपुण होती थीं।[5] पाण्ड्य राजा की नगरी गीतवाद्य से युक्त रहती थी।[6] राजाओं की सेना में नृत्य संगीतादि होता था।[7]

१—पृ० ९७–८–९९।
२—विस्तृत वर्णन देखिये शिलप्प० के पृ० ९७–१०१ तक।
३—पृ० २१० मणि० पृ० १८३।
४—१९५–६; २२८।
५—२२४।
६—पृ० २७३; १६१–८।
७—पृ० (११९–२०) सिल० १०२–३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वणिक वर्ग में भी संगीत प्रेम देखा जा सकता है। कौवालन जिसने संपूर्ण संपत्ति नर्तकी मादवी के ऊपर गवाँ दी वह वणिक् पुत्र ही था।[1]

क्षत्रिय वर्ग 'में भी संगीत का प्रचार था। शालिनी नामक स्त्री इसी वर्ग की थी जो धार्मिक नर्तकी थी।[2]

गाँवों में भी संगीत प्रेमी होते थे। ग्राम्य संगीत, पर्वतीय संगीत, समुद्रतटीय संगीत इत्यादि भिन्न-भिन्न वर्गों के संगीत का प्रमाण है।

पुरोहित वर्ग का संगीत ब्राह्मण वर्ग में प्रचलित संगीत का संकेत करता है।[3] ब्राह्मण नर्त्तक शाकयन का उल्लेख आता है जो राजा की प्रसन्नता के लिये उसके सम्मुख 'कोटिच्चेदम' नृत्य करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कदाचित् ब्राह्मण नर्त्तक धार्मिक नृत्य ही को अधिक प्रश्रय देते थे।[4]

इस प्रकार उपर्युक्त उल्लेखों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि संगीत का समाज में बहुतायत से प्रचार था। इनका एक भिन्न वर्ग सा बन गया प्रतीत होता है जिन्हें निवास स्थान भी भिन्न स्थानों पर प्राप्त होता था।

शास्त्रीय संगीत इस काल में बहुत विकसित हो गया था जैसा इसमें उल्लिखित शास्त्रीय संज्ञाओं एवं शास्त्रीय गायन वादन नृत्य के उल्लेखों से एवं उसके प्रचार से स्पष्ट है।

अत: यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि संगीत कला दिनोदिन उन्नत हो रही थी एवं धीरे-धीरे समाज के सभी पक्षों में प्रविष्ट हो रही थी।

खण्ड—द

अश्वघोषकृत बुद्ध चरित, सौन्दरनन्द काव्य, कुछ महायान सूत्र, दिव्यावदान, विशुद्धिमग्ग, तथा अवदान शतक में संगीत—

ईसा पश्चात् की शताब्दियों के ग्रन्थों के अन्तर्गत उक्त साहित्यों का महत्वपूर्ण स्थान है। ये संगीत के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डालते

१—पृ० ७० ।
२—पृ० १८० ।
३—पृ० २८४ ।
४—पृ० ३१९ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हैं। इस काल के प्रमुख ग्रन्थ भरत-कृत नाट्यशास्त्र जैसे सैद्धान्तिक ग्रन्थ की व्यावहारिकता का संकेत उक्त साहित्य करते हैं।

उक्त ग्रन्थ बौद्ध धर्म से संबंधित हैं। संगीत के अन्तर्गत जैसा पहले भी देखा जा चुका है गायन वादन एवं नृत्य का समावेश होता है। यहाँ भी ये तीनों तत्व प्राप्त होते हैं। नृत्य गायन तथा वादन कभी एक साथ कभी भिन्न भिन्न रूप से उल्लिखित मिलते हैं। केवल वादन का भी, जिसका भरत 'बहिर्गीत'[1] तथा परवर्ती शारंगदेव शुष्क वाद्य के नाम से उल्लेख करते हैं, यहाँ भी उल्लेख देखा जा सकता है। यद्यपि यहाँ इस प्रकार की कोई संज्ञा नहीं मिलती। गीत, वाद्य तथा नृत्य के लिये 'संगीत' संज्ञा प्राप्त होती है। इसे एक कला भी कहा गया था इसका भी संकेत मिलता है।[2]

गायन—गायन के उल्लेख अनेक स्थलों पर देखे जा सकते हैं। गायन राजप्रासाद की शोभा समझा जाता था। राजप्रासाद वीणादि की ध्वनि के अतिरिक्त गीत ध्वनि से भी गूँजा करता था।[3] नगरियाँ

१—देखिये पृ० तथा संगीत रत्नाकर वाद्याध्याय। गंधर्वराज सुप्रिय का वीणा-वादन अव० शत० १७ पृ० ४२–४३–४४।

२—दिव्या० ३८ पृ० ५०२ संगीत मधुरै···८ पृ० ७१ नृत्यगीतवादित्रकला-स्वभिज्ञा: ३३ पृ० ३४९ गणकानां च विद्यां च वाद्यं नर्तनगायनम्।

३—दिव्या० ३३ सूत्र० १९८ पृ० ३५१; ३३. ३८७, ३८. ५०२; ३८.५१० बुद्ध० च० १.४४–४५; ३;१;४;३७; १५.६७: नृत्यगीतं···। २७. ६७;२८; १२; सौन्दर० १०, ३६; दिव्या० २ पृ० २१ गीतानि गायथ। ८. पृ० ६७ गीतध्वनिभिरनुपरत।; ८. ७१ नृत्तगीतवाद्य। ८. ७३; २२. १९६; नृत्यगीतवादिनः। २७ २६७ गीतशब्दो गायति च···। २८. २७३ सुनृत्यं सुगीतं सुवादितमिति···श्रुतो गीतनिनदो···॥ ३०. २९९; ३३. १९९ वाद्य-नर्तनगायनम्। ३३. ३५१ गीतशिक्षाध्ययनं···। ३३. ३८७ गायन्ती वा हसन्ती वा नृत्यन्ती···॥ ३८. ५०२; ३८. ५१०; दिव्यांगना-गीतमनोहराणि॥

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सर्वदा गीतवाद्य की ध्वनि से परिपूर्ण रहती थीं।[१] गायन के साथ वीणावादन का प्रचार पूर्ववत था। कुणाल के वीणावादन एवं गायन का स्पष्ट उल्लेख इसका प्रमाण हैं।[२] गायन की संगत में मृदंग भी एक महत्वपूर्ण वाद्य था। मृदंगगीतैः संज्ञा इसके महत्व का संकेत समझी जा सकती है।[३] उक्त वाद्यों के अतिरिक्त गायन की संगति में अन्य वाद्य भी प्रयुक्त होते थे, जैसे पणव वेणु इत्यादि। गायन के साथ इसी उल्लेख में नृत्य को भी देखा जा सकता है।[४]

राजा की सहचरियाँ राजोद्यानों में राजा का मनोरञ्जन गीत गाकर करती थीं। गीत के माधुर्य एवं उसकी सार्थकता की स्पष्टता के लिये ये स्त्रियाँ अभिनय द्वारा गीत रचना का अर्थ भी स्पष्ट कर देती थी। आज भी गायन के साथ भाव-प्रदर्शन की परंपरा 'गीत-नाट्य' के रूप में देखी जा सकती है।[५]

गीत कई प्रकार के होते थे। 'बुद्ध चरित' मृत्यु एवं रणगीत का उल्लेख करता है। मृत्युगीत संभवतः गीत का वह प्रकार होगा जो करुण रस का द्योतक होगा, जिसकी विषयवस्तु मृत्यु संबंधित होगी। बुद्ध की मृत्यु संबंधित अंश में आये मृत्युगीत से यह भी अनुमान किया जा सकता है कि मृत्युगीत की विषय वस्तु संभवतः व्यक्ति विशेष की मृत्यु से ही संबंधित होती थी। ऐसे गीत उच्च स्वर से नहीं, किन्तु मंद स्वर में अथवा संगीत की भाषा में मंद्र व मध्य सप्तक में गाये जाते थे।[६] इस मृत्युगीत की तुलना 'एलेजी' एवं मर्सिया तथा 'स्यापा' आदि से की जा सकती है। ये विभिन्न वर्गों के मृत्युगीत के द्योतक समझे जाते हैं एवं इनका आज भी प्रचार देखा जा सकता है।

१—दिव्या० २. २१; ८. ७३–७१; २७. २६७; २८. २७३; ३०. २६६; ८. ६७।

२—वही० २७. २६७ ततो कुणालो रात्र्याः प्रत्यूषसमये वीणां वादयितुमारब्ध··· हितं च गीतं प्रारब्धम्···तस्य गीतशब्दो राज्ञा अशोकेन श्रुतः···॥

३—बुद्ध० १. ४५।

४—बुद्ध० १. ४५; १५. ६७।

५—बुद्ध० ४. ३७ मधुरं गीतमन्वर्थं काचित्साभिनयं जगौ···॥

६—बुद्ध २७. ६४ मृत्युगीतं जगुर्मन्दमश्रुसिक्त···।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इसी प्रकार 'रणगीत' का उल्लेख भी युद्ध-विजय इत्यादि से संबंधित विषय वस्तु से युक्त गीत का ही संकेत करता है, जो वीरों को उत्साहित करने के लिये उनकी स्त्रियाँ गाती थीं। परवर्त्ती राजपूतों के काल में इस प्रकार की कई कथायें देखी जा सकती हैं। उक्त उल्लेख परोक्ष रूप से गीत का रसों से भी संबंध स्थापित करते हैं। 'रणगीत' अवश्य ही वीर रस एवं मृत्युगीत निश्चय ही करुण शान्त रसों से युक्त होगा। यह तो स्पष्ट ही है कि मृत्यु गीत की रणगीत के रस से विभिन्नता होगी ही।[१]

प्रकृति के मनुष्येतर प्राणियों के साथ भी संगीत का संबंध था। उद्यानों की शोभा ऐसे ही प्राकृतिक गीतों से स्वतः ही बढ़ जाती थी। मक्खियों की ध्वनि भी एक विशेष गीतध्वनि का प्रतीक बन जाती थी।[२] गीत की शिक्षा का भी संकेत मिलता है।[३] गायन इतनी सहज प्रवृत्ति है कि बिना सीखे भी व्यक्ति गा उठता है। साग तोड़ने वाली स्त्रियाँ अपना कार्य गाते-गाते करती थीं।[४] आज भी फसल इत्यादि की कटाई गीत के साथ होती देखी जाती है। संभवतः यह एक स्वाभाविक क्रिया है। उल्लेखों के प्रकाश में यह निष्कर्ष स्वाभाविक है कि संगीत शिक्षा का भी प्रबंध था। इसके लिये संभवतः शिक्षालयों की व्यवस्था का भी अनुमान किया जा सकता है। संगीत के कुछ पारिभाषिक अथवा शास्त्रीय शब्दों का भी यथास्थान उपयोग किया गया है, जैसे-ताल, मात्रा, प्रमाण, तार, मंद्र, स्वरविशेष श्रुति, मूर्च्छना उनके प्रकार इत्यादि।[५] इनका विस्तृत विवेचन भरत के नाट्यशास्त्र में देखा ही जा चुका है।

१—वही० २८. ११–१२ वीरपत्न्य,···रमणी नैरपूजन् ॥

२—१.४४; ३.१; गीतैर्निबद्धानि

३—दिव्या० ३३–३५१।

४—विशु० ४. ८ पृ० ८१ यत्थ नानाविधं साकपण्णं होति···साकहरिका गायमाना पण···।

५—बुद्ध० २६। १०८ तार दघ्मौ शंखं···॥ दिव्या० २७। २६७ वीणास्वरंचैव श्रुतिश्चिरेण···॥ दिव्या० ३०। २९०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वादन---वाद्यों के चार वर्गों के लिए यहाँ कुछ नवीन संज्ञाएँ भी प्रकाश में आती हैं-आतत, तत, मुखर (सुषिर ?) एवं घन ।[१]

तंत्रीवाद्य—तत वाद्यों के अन्तर्गत वीणाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान था । वीणा एवं उसके कुछ प्रकारों का उल्लेख उक्त साहित्यों में प्राप्त होता है । वीणाओं के उल्लेख कहीं सामान्य संज्ञा वीणा के रूप में, तो कहीं वीणा विशेष के नाम के साथ मिलते हैं । वीणा के निम्नोक्त प्रमुख प्रकारों का उल्लेख प्राप्त होता है यथा-महती, परिवादिनी, वल्लकी, सुघोषक, वल्लरी तथा वेलुवपाण्डु वीणा ।[२] ये वीणाएँ परस्पर आकार भेद, तंत्री संख्या भेद, एवं निर्माणसामग्री की भिन्नता यथा लकड़ी की भिन्नता के द्वारा एक दूसरे से भिन्न थी । परिवादिनी सप्त तंत्रियों वाली तथा वेलुव पाण्डु वीणा वेलुव की लकड़ी से बनी वीणा थी । 'महती परिवादिनो' की व्याख्या विशालकाय वीणा के रूप में की गई है । इसके सुवर्ण निमित तारों का भी उल्लेख मिलता है । यह बात स्पष्ट हो जाती है कि दार्भ्य,[३] मूंज, एवं सुवर्ण का उपयोग तारों के लिए किया जाता था ।

वीणा का वादन एकाकी रूप में एवं गीत नृत्य के साथ भी होता था । एकाकी वीणा वादन तथा वादन की उत्कृष्ट पद्धति का भी संकेत एक अंश से प्राप्त होता है । वोणा पर एक ही तंत्री से सप्त स्वर एवं तीन ग्रामों की इक्कीस मूर्च्छनाओं के वादन का उल्लेख प्राप्त होता है । यह निश्चय ही उत्कृष्ट एवं अभ्यास-सिद्ध शास्त्रीय विधि का द्योतक है । एक तार पर वेला वाद्य की भाँति तारों को खींचकर ही यह क्रिया संभव है । यह क्रिया संवाद-सिद्ध कानों के द्वारा ही संभव है। अतः

१—सौन्दर० १० । २५ यत्रायतांश्चैव ततांश्च तांस्तान् वाद्यस्य हेतून् मुखरान् घनांश्च ।

२—दिव्या० ८। ६७ वीणावल्लिकामहतीसुघोषकै ···॥ १८. १६३ वीणावेणु-पणवसुघोषकवल्लरी २२. १९६, ३०. २६६, विशु० म० १२. ७८ पृ० २७१ ॥

३—बुद्ध० ५ । ५५ महती परिवादिनी च ··· चलत्सुवर्णसूत्र ··· ॥ देखिये अनुवाद पृ० ५७ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इसका कुशल वादक होने के लिये अभ्यास एवं ज्ञान आवश्यक था। यों तो पर्दों के द्वारा भी यह क्रिया संभव है, परंतु सरल क्रिया का यहाँ महत्त्व नहीं ही दिखाया गया है। यह अवश्य ही उत्कृष्ट क्रिया की द्योतक है, जो विस्मयजनक या चमत्कारिक रूप में उल्लिखित है।[1] वीणा का समूहगत अथवा गीत नृत्य के साथ भी वादन होता था।[2] वीणा का महत्त्व कामसूत्र में देखा जा सकता है जहाँ प्रत्येक नागरिक के घर वीणा का होना आवश्यक माना गया था। ऐसा ही एक उल्लेख उक्त बौद्ध साहित्य में भी आया है। नन्द राजा के कक्ष में वीणा थी जो उसकी दुःखी पत्नी को उसका स्मरण दिलाती थी। राजा स्वयं वादन करता था, इस बात का संकेत उक्त अंश करता है।[3] वीणा का वादन रानियाँ भी उतनी ही रुचि से करती थीं। श्यामावती रानी की कथा से इसकी पुष्टि की जा सकती है।[4]

आनद्ध वाद्य—आनद्ध वर्ग में अनेक प्रकार के छोटे बड़े पुष्कर आते हैं। मृदंग इस वर्ग का अत्यन्त महत्वपूर्ण वाद्य था जो गायन एवं नृत्य के साथ तथा सहवादन में बहुतायत से प्रयुक्त होता था।[5] इसे प्रमुख पुष्करों के अन्तर्गत रखा गया था। इसका महत्व आज भी उसी प्रकार है, जब कि पणव एवं दर्दुर आज उतने महत्वपूर्ण नहीं रह गये हैं। मृदंग का वादन उँगलियों के अग्रभाग से किया जाता

१—अव० शत० १७ पृ० ४२–३–४ तस्यैवविधः शक्तिः—एकस्यां तन्त्र्यां स्वरानादर्शयति एकविंशतिमूर्च्छनाः ॥

+ + +

··· यत एकस्यां तन्त्र्यां सप्तस्वराणि एकविंशतिमूर्च्छनाश्च दर्शयितुमारब्धः यच्छ्रवणाद्राजा प्रसेनजिदन्यतमश्च महाजनकायः परं विस्मयमापन्नः । —
···यत एकैकस्यां तन्त्र्यामनेके स्वरविशेषा मूर्च्छनाश्च बहुप्रकारा दर्शिताः, ते च शून्याकारेणैव ॥

२—बुद्ध १. ४५; ५. ४८; दिव्या० २७–२६७; ३७. ४७० रुद्रायणो राजा वीणायां कृतावी चंद्रप्रभा देवी नृत्ये ।

३—सौन्दर० ६. ३२ वीणाप्रभृतीश्च क्रीडा ।

४—वि० मग्ग १२. ३५ पृ० २६३–६४ ।

५—बुद्ध० १. ४५; ५. ५०. दिव्या० १८. १६३; १८. १६६; ३०. २६६ मृदंगानि···॥

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

था।[१] इस वर्ग के अन्य वाद्यों के अन्तर्गत पणव, दुन्दुभि, भेरी, पटह, मुरज तथा वाद्य भाण्डों का उल्लेख भी महत्वपूर्ण है।[२] दुन्दुभि नामक नगाड़े का उपयोग बहुधा घोषणात्मक कार्यों के लिये होता था। बुद्धत्व प्राप्ति एवं बोधि-सत्वों के जन्मोत्सव पर भी इसका वादन होता था।[३] दुन्दुभि का समूहवादन में प्रमुख स्थान था। पटह भी इसी प्रकार का तीव्रध्वनि उत्पन्न करने वाला वाद्य था। पटह को अमरावती की मूर्तिकलामें देखा जा सकता है। इसे दण्डों से पीट कर बजाया जाता था। कभी-कभी ये इतने बड़े होते थे कि दो व्यक्ति एक लकड़ी में लटका कर कंधो पर लकड़ियों को रख कर दोनों तरफ मढ़े चर्म को डण्डों से मार कर बजाते थे।[४] भेरी भी इसी वर्ग का वाद्य था एवं इसका भी उपयोग ऊपरलिखित वाद्यों की भाँति था भेरी कभी-कभी सुवर्णनिर्मित भी होती थी। पीटकर बजाये जाने के कारण ताड्यमाना संज्ञा मिलती है।[५] वाद्यभाण्डों का भी उल्लेख मिलता है। मिट्टी के बर्त्तन जिनसे वाद्य बनते हैं वे वाद्यभाण्ड कहलाते हैं। बर्त्तनों का वादन आज भी घड़े के वादन के रूप में देखा जा सकता है।[६] सेना एवं जुलूस आदि में पुष्कर वादकों को सबसे आगे रखा जाता था।[७]

१—बुद्ध० २. २९–३०; नारीकराग्राभिहतैर्मृदंगैः।

२—दिव्या० १८. १५१ पटहवाद्यानि···। २२. १९३ मृदंगभेरीपटह २२. १९६ भेरीपटहमृदंगसुवर्णभेरी···। ३०. २९९ वीणा पणवमृदंग। ३३. ३४९ भेरीमृदंगपणवान् मुरजांश्चोपनाहयेत्···। बुद्ध० ५. ५० नवपुष्कर···। सुखा० व्यू० ३८ पृ० ५८ धर्मभेरी···अव० शत० ३०. ७५; वि० मग्ग ४. २२ पृ० ८४ १८ ३४ पृ० ४२१।

३—बुद्ध० ३. ६; १. ४५; १' २६; १४. २०८; २७ पृ० १६९; सौन्दर २. ५४; दिव्या० १७. १२६; ३६. ४४८; अवशत० ३४. ८४; ६७. १६६–६७।

४—देखिये फलक ५ चित्रसंख्या ३।

५—विशु० मग्ग० ३. ५३ पृ० ६५; दिव्या० २२, १९६।

६—अव० शत० १६, ४९; ६७, १६८।

७—देखिये फलक ३, ४ चित्रसंख्या १, २—६, १०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सुषिर वाद्य—वेणु एवं शंख इस वर्ग के प्रमुख वाद्य है।[1] इनका भी संगीत संबंधी उपयोग के अतिरिक्त अन्य उपयोग पूर्ववत् ही था।

घनवाद्य—तालवाद्यों के इस वर्ग में हस्त-ताल-कारों के साथ करताल, कांस्यतालादि का भी उल्लेख आता है।[2] ताल का उपयोग संगीत के सभी अंगों में होता है।

तूर्य—'तूर्य' का प्रयोग द्विविध अर्थ में किया गया है। प्रथम एक स्थल पर वह संगीत के सामान्य अर्थ में[3], द्वितीय तूर्य वाद्यों के सम्मिलित अर्थ में प्रयुक्त किया गया है।[4]

नृत्य—नृत्य के स्वतंत्र उल्लेखों की अपेक्षा गीत वाद्य के साथ इसके अनेक स्थल पर उल्लेख प्राप्त होते हैं[5]। नृत्य में हाव-भाव-प्रदर्शन अथवा अभिनय का भी समावेश होता है।[6] नृत्य सामूहिक एवं एकाकी दोनों ही प्रकार के प्रचलित थे। एकाकी नृत्य का उल्लेख चंद्रप्रभा देवी के नृत्य में देखा जा सकता है, जिसमें उसका पति राजा रुद्रायण वीणा के साथ संगत करता है।[7]

१—बुद्ध० ५, ४६; दिव्या १७, १३७; २२, १६३-६६।

२—दिव्या २२, १६६ मृदंगताल···तालवंशनिर्घोषे···। ३०, २६० तालमात्रा-प्रमाणा। ३८, ५०२ वंशैस्तालरवैः—।

३—सौन्दर० ११, ३५।

४—बुद्ध २, २६; ५, ४५; ८, ५८ दिव्या० १ पृ० २; १८; १५१; २६, २३०; २८, २७३; सुखा० ८; ३१; ३७, ५३; अभिता० १० पृ० १७१; १४, १७५; वि० म० ४, १०७ पृ० ६८; अव० शत० ५६ पृ० १४२।

५—बुद्ध० २, ६५; २, २६-३०; १३-२६; १५. ६७; २६. १०८; दिव्या० ८. ७१; २८. २७३; ३३, ३५६ नर्तनगायनम्··· ३३, ३८७ गायन्ती हसन्ती वा नृत्यन्ती।

६—सौन्दर० १०, ३६ अन्योन्यहर्षात् ननृतुस्तथान्याश्चित्राङ्ग-(अव० शत० १७ पृ० ४४) हारा० स्तनभिन्नहाराः।

७—दिव्या० ३७, ४७० रुद्रायणो राजा वीणायां कृतावी चंद्रप्रभादेवीनृत्ये···।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संगीत एवं स्त्रीवर्ग—स्त्रियों के साथ संगीत का घनिष्ठ संबंध यथावत् ही था। राजकीय या राज्य के अन्तः पुर से संबंधित संगीत में स्त्रियों का प्रमुख सहयोग स्पष्ट था। राजमहल की परिचारिकाएँ संगीत-कुशला होती थी एवं राजा का मनोरंजन करती थीं।[१] स्त्रियाँ अपना कार्य करते समय गायन करती थीं।[२] किन्नर कन्याओं, अप्सराओं एवं यक्षिणियों के साथ संगीत के उल्लेख भी स्त्रियों के ही साथ संबंध के द्योतक है।[३] राजा की रानियाँ भी संगीत-कुशला अथवा संगीत प्रेमी होती थीं।[४]

राजाओं के जीवन में संगीत—

यह पहले भी देखा जा चुका है कि राजाओं के जीवन का संगीत एक प्रधान एवं अभिन्न अङ्ग बन गया था। राजप्रासाद-सर्वदा गीतवाद्य एवं नृत्य से परिपूर्ण रहता था। राजाओं का उद्यान भी इससे रहित न था।[५] गायिकाओं अप्सराओं जैसी नर्तकियों तथा वाद्य वादकों से राजप्रासाद एवं अन्तः पुर सदा घिरा रहता था।[६]

१—बुद्ध० १, ४५; २, ६५; २, २६–३०; स्त्रीणामुदारैर्विजहार तूर्यैं। ४, ३७; ५, ४५–५०; ५. ५५–६; २८, १२ सौन्दर० १०, ३६; दिव्या ८, ६३ नानागीतवादितयुवति मधुरस्वर २२, १६६ प्रमदागण···। २८, २७३ स्त्रियो नृतं गीतं···। ३८, ५१० दिव्यांगनागीतमनोहराणि।; विशु० मग्ग० १२, १०८ पृ० २७६।

२—वि० मग्ग ४, ८ पृ० ८१।

३—दिव्या० ८, ७१ किन्नरकन्या निर्गमिष्यन्ति···२६, २२२ दिव्यश्चाप्सरसौं। बुद्ध० २७, ६७; वि० मग्ग–४, १७ पृ० ८२८ अधस्स एका यक्खिनी पण्णसाले द्वारे ठत्वा गायि।

४—दिव्या० ३७, ४७०; वि० मग्ग० १२, ३५ पृ० २६३–६४।

५—दिव्या० १, २; ८, ७३; २२, १६६; २६, १३०; ३, ६५; बुद्ध० २, २६–३०; ४, ३७, नगरे नदन्ति तूर्यस्वनाः ५, ४५–५६; सौन्दर० ६, ३२; अव० शत० १७, ४४;

६—वही०

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राजा का शयन, जागरण, भोजन, संगीत ध्वनि के साथ होता था।[१] जन्म-उत्सवों तथा विवाहादि सामाजिक अवसरों पर राजा संगीत का विराट् आयोजन करते थे।[२] राजाओं का संगीत से इतना संबंध था कि वे अपने पुत्रों के लिये भी ऐसी व्यवस्था करते थे कि उनके पुत्र वैराग्य की ओर अग्रसर न हों।[३] राजपुत्र स्वयं भी गायन वादन करते थे। कुणाल ऐसा ही संगीतज्ञ था रानियां भी संगीत में भाग लेती थीं।[४] राजा की सेना का भी प्रमुख अंग संगीत था।[५] संगीत का उपयोग भिक्षुओं के लिये निषिद्ध था क्योंकि चित्तशुद्धि एवं एकाग्रता के लिये सांसारिक आनन्दों से मुक्ति या दूर रहना आवश्यक होता है।[६] इसके विपरीत गृहस्थों के लिये संगीत मान्य था। स्वर्ग का वातावरण आनंदमय माना गया था। यहाँ तक कि बुद्धत्व प्राप्ति के पश्चात् जिस प्रदेश की प्राप्ति होती है वह भी संगीतमय माना गया था।[७] संगीत को इस प्रकार हेय नहीं माना जा सकता। बौद्ध धर्म की महायान धारा में संगीत को उच्च स्थान मिल गया। पूजा के उपकरणों में भी उसे स्थान दिया गया। बुद्ध के अंतिम संस्कार के समय मल्लों के संगीत का उल्लेख मिलता है जिसे साँची की कला में भी अंकित किया गया है।[८]

१—बुद्ध० ८, ५८ शुचौ शयित्वा शयने हिरण्यमये प्रबोध्यमानो विशितूर्य-निःस्वनैः। दिव्या० २८, २७३।

२—बुद्ध० १, ४५; १, २६; सौन्दर० २, ५४ दिव्या० ३३, ३४९।

३—बुद्ध० ५, ४५–४६ दिव्या० ३०, २९९।

४—दिव्या० २७, २६७; ३७, ४७०।

५—दिव्या ३०, २९०।

६—सुखा० ८, ३१; २३ पृ० ४४; ३८ पृ० ५८ लघुसुखा० ७ पृ० ९७; वि० मग्ग० १३, ४ पृ० २८३ अव० शत० ६४ पृ० १६२।

७—वही०।

८—सुखा० ८, २२–२४; ३७ पृ० ५३; वि० मग्ग १२, ७८ पृ० १७१। अव० शत० ६४, १६२। देखिये फलक २ चित्र संख्या १।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वात्स्यायन-प्रणीत कामसूत्र में उल्लिखित संगीत

कामसूत्र में सर्व प्रथम कलाओं का शास्त्रीय स्वरूप प्राप्त होता है। संगीत के स्पष्ट उल्लेख यह सिद्ध करते हैं कि संगीत का पर्याप्त प्रचार था। यह साहित्य तत्कालीन सामाजिक अवस्था का एक चित्र सा प्रतीत होता है। संगीत को इसके लेखक ने अन्य कलाओं के अन्तर्गत सर्वप्रथम स्थान प्रदान किया है। संगीत के अन्तर्गत आनेवाली तीन कलाओ का महत्त्वपूर्ण स्थान था यथा—गीत, वाद्य एवं नृत्य। संगीत के लिये वात्स्यायन ने "गांधर्व" संज्ञा का प्रयोग किया है। 'गांधर्वशाला'[१] संज्ञा जो कामसूत्र में प्राप्त होती है, उसकी शिक्षालय के रूप में व्याख्या की जा सकती है, जहाँ गीत, वाद्य एवं नृत्य संबंधी शिक्षा दी जाती थी। 'संगीत' संज्ञा भी एक स्थल पर प्रयुक्त की गई है।[२]

गायन—गायन का उल्लेख सर्वप्रथभ कामसूत्र में एक कला के रूप में प्राप्त होता है। भाष्य तथा समकालीन अन्य साहित्य के आधार पर गायन के कुछ प्रमुख तत्त्वों को भी देखा जा सकता है। यथा—स्वर, पद, लय एवं अवधान। गायन में उक्त चारों तत्वों का होना आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण होता है। इसकी विस्तृत व्याख्या नाट्यशास्त्र में की गई है।[३] संक्षेप में यह कहना पर्याप्त होगा कि स्वर सप्त स्वरों एवं तत्प्रकारों का द्योतक है, पद, गीत रचना का, लय, समय का नियमित गति का एवं अवधान मन की एकाग्रता का द्योतक है। गायन, नृत्य तथा वादन के साथ तथा एकाकी भी किया जाता था।[४] तूर्य के अन्तर्गत भी गायन को रखा गया था। वात्स्यायन ने तूर्य का मात्र समूह-वाद्य वादन के रूप में उपयोग नहीं किया है, किन्तु उसका उपयोग ऐसे समूह-संगीत के रूप में किया है, जिसके

१—१, १५ पृ० ३६४।

२—१. ४, २३ पृ० ४८ संगी-कानि...

३—सूत्र १६ पृ० ३२ जयमंगला टीका पृ० ३२, वात्स्यायन काम सूत्र, पृ० १६३
स्वरगं पदगं चैव तथा लयगमेव च। चैतोऽवधानगं चैव गेयं ज्ञेयं चतुर्विधम्।

४—२, १०, ७ पृ० १७२

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अन्तर्गत स्त्री तथा पुरुष दोनों संगीतकार समूह गायन एवं समूह वादन करते थे।[1] कभी-कभी ऐसे समूह का एक मुखिया अथवा प्रधान भी होता था, जो 'रंगोपजीविन्' कहलाता था। यह व्यक्तिविशेष कुशल कलाकार होता था तथा कभी-कभी यह अपनी कन्या का विवाह अन्य कुशल कलाकार से कर देता था, जो उसके कार्य अथवा तूर्य्य में सहायक बने।[2]

वादन—इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम वाद्यों का विवेचन आता है। इस साहित्य में चारों प्रकार के वाद्यों के उल्लेख के साथ एक अन्य प्रकार 'उदक वाद्य' का भी उल्लेख आता है, जिसे जलतरंग के रूप में समझ सकते हैं।

ततवाद्य—इसके अन्तर्गत वीणा का स्थान महत्वपूर्ण है। वीणा जिस प्रकार अत्यन्त प्राचीन काल में भी अत्यधिक प्रचलित एवं महत्त्वपूर्ण वाद्य था, उसी प्रकार यहाँ भी उसका वही महत्त्व देखा जा सकता है। प्रत्येक नागरिक के घर में वीणा का होना आवश्यक होता था तथा प्रत्येक संन्ध्या में उसका वादन किया जाता था। यह सुखद वातावरण का प्रतीक समझी गई थी।[3] शयन कक्ष में इसकी उपस्थिति संभवतः इसीलिए आवश्यक समझी गई थी।

आनद्धवाद्य—आनद्ध वाद्यों के लिए वात्स्यायन ने संभवतः एक समूहगत नाम 'डमरुक' का प्रयोग किया है। 'डमरुक' सभी प्रकार के आनद्ध वाद्यों का संकेत समझा जा सकता है। इस वर्ग के अन्य प्रकारों को समकालीन साहित्य में देखा जा सकता है। तूर्य के अन्तर्गत वादन किये जाने वाले वाद्यों में आनद्ध वाद्यों का भी महत्वपूर्ण स्थान था।[4]

१—३. २, १ पृ० १६२

२—पृ० ३६६ तथा पृ० २८०

३—१. ४, १० पृ० ४४ नागदन्तावसक्ता वीणा…॥

४—सूत्र १६, पृ० ३२ वीणाडमरुकवाद्यानि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सुषिर एवं घन--सुषिर वाद्यों का प्रतिनिधित्व 'कामसूत्र' में उल्लिखित 'वंश' करता है।[1] इसकी मधुर ध्वनि में स्त्रियों के हृदय को जीतने की सामर्थ्य मानी गयी थी, जब यह उचित रीति से बजाया जाता था। 'वंश' वह वेणु था, जो 'बाँस' से निर्मित होता था। घन वाद्यों का यों तो कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिये कि साहित्यकार इससे अनभिज्ञ था, किन्तु प्रसंगाभाव में इसका उल्लेख नहीं मिलता। इसका प्रचुर उल्लेख समकालीन साहित्य में देखा जा सकता है।

उदकवाद्य--यह वाद्य आधुनिक जलतरंग का संकेत करता है। बर्तन (कप) में विभिन्न मात्रा में जल भरके लकड़ी द्वारा इसका वादन किया जाता है। यह वाद्य आज पर्याप्त प्रचार में है।[2] इसके 'कप' आकार में बड़े छोटे होते हैं। उन्हें लकड़ी से बजाया जाता है।

नृत्य—'नृत्य' की गणना संगीत के अन्तर्गत की गई है। नृत्य भी वादन एवं गायन के साथ तथा एकाकी दोनों रूपों में प्रचलित था। नागरिक नृत्य का आनन्द नित्य संध्यासमय लेता था। नृत्य के अन्तर्गत समस्त रस भाव का होना आवश्यक माना गया था।[3] नृत्य का रस से संबंध नाट्य शास्त्र में देखा जा सकता है।[4]

गायन रचना—इस विषय पर भी वात्स्यायन कुछ प्रकाश डालते हैं। उनका कथन है कि सुन्दर सुमधुर संगीत या गायन स्त्री पुरुषों के परस्पर प्रेम प्राप्ति का माध्यम होता है। कभी-कभी तो गायन की विषय वस्तु भी प्रेमी एवं उसके परिवार से संबंधित होती थी एवं प्रेमी का नाम उस गायन में आता था।[5]

१—सूत्र ४३, पृ० ३७९ वंशवादनतो या शब्दं शृणोति सा वश्या भवति।

२—सूत्र १६, पृ० ३२ वात्स्यायन का कामसूत्र पृ० १९३।

३—सूत्र १६ पृ० ३२ नृत्यं—जयमंगला टीका पृ० वही विभावो भाव एवं च अनुभावो रसाश्चेति संक्षेपान्नृत्यसंग्रहः।

४—नाट्यशास्त्र अध्याय चतुर्थं

५—काम० सूत्र १५ पृ० ३६४ तथा सूत्र २२ तथा ३२ तथा पृ० ३१२–१४

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संगीत शिक्षा—समाज में संगीत का महत्त्वपूर्ण स्थान था, इसका संकेत संगीत शिक्षा से प्राप्त होता है। नगर में संगीत शिक्षा के लिये गाधर्व -शालाएँ होती थीं। जहाँ नागरिकों के पुत्र एवं पुत्रियाँ गीत, वाद्य एवं नृत्य की शिक्षा ग्रहण करती थीं।[1] कन्याओं के लिये संगीत-शिक्षा अथवा ज्ञान आवश्यक था। इसका स्पष्ट प्रमाण चौंसठ कलाओं के अन्तर्गत संगीत का उच्च स्थान प्राप्त करना था।[2]

संगीत एवं तत्कालीन समाज——कामसूत्र में आये संगीतोल्लेख इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि उस काल के नागरिकों की रुचि अत्यन्त कलात्मक थी तथा उस समय का अधिकांश समाज संगीतप्रेमी था। संगीत संबंधी 'समाज एवं गोष्ठियों का प्रचलन भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि करता है।

एक पक्ष अथवा एक मास में संगीत का सार्वजनिक कार्यक्रम होता था जिसमें बाहर से भी कलाकारों को निमंत्रित किया जाता था। कलाकारों के लिये 'कुशीलव' संज्ञा प्राप्त होती है। बाहर से निमंत्रित कलाकारों का उचित आदर सत्कार करना, उसकी सुख-सुविधा का ध्यान रखना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य था। ऐसे सार्वजनिक कार्यक्रम किसी नागरिक के घर में अथवा सरस्वती मंदिर में होते थे।[3]

संगीत संबंधी गोष्ठियों के भी यत्र तत्र उल्लेख प्राप्त होते हैं, जहाँ कला संबंधी अनेक विषयों पर वार्त्तालाप एवं विचार विमर्श किया जाता था। ये गोष्ठियाँ नागरिक के निवास स्थल अथवा विशेष रूप से बने सभा मण्डप में होती थीं। ऐसा निष्कर्ष निकाला जा सकता है

१—काम० १, १५, पृ० ३६४ तेषां कलाग्रहणे गांधर्वशालाया भिक्षुकीभवने···।

२—१, ३, १६ पृ० ३२ गीतं वाद्यं नृत्यं···।

३—काम० १, ४, २८ पृ० ५० पक्षस्य मासस्य वा प्रज्ञातेऽहनि सरस्वत्या भवने नियुक्तानां नित्यं समाजः कुशीलवाश्चागन्तवः प्रेक्षणकमेषां दद्युः। द्वितीयेऽहनि तेभ्यः पूजा नियतं लभेरन्। ततो यथाश्रद्धमेषां दर्शनमुत्सर्गो वा व्यसनोत्सवेषु चेषां परस्परस्यैककार्यता। आगन्तूकानां च कृतसमवायानां पूजनमभ्युपपत्तिश्च इति गणधर्मः।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कि न केवल संगीत के कार्यक्रम ही होते थे अथवा उसका व्यावहारिक पक्ष प्रबल था किन्तु शास्त्रीय विचार भी किया जाता था।[1] संगीत वेश्या वर्ग से भी संबंधित था। उनकी जीविका का माध्यम संगीत था। अत: जो व्यक्ति गायक, वादक, नर्त्तक एवं अन्य कलाविद् होते थे, उन्हें वे अपना सहायक पुरुष बनाती थीं।[2]

संगीत का समाज में महत्वपूर्ण स्थान होने का संकेत इसकी शिक्षा के विधान से भी मिलता है। संगीत का उपयोग विवाहादि सामाजिक अवसरों पर भी बहुतायत से होता था। विवाह के तीन दिन पूर्व से एक सप्ताह तक गायन वादन आदि होता था। इस अवसर पर नट भी अपना कार्यक्रम प्रस्तुत करते थे।[3]

संगीत-गोष्ठियों का समयनिर्धारण भी मिलता है। कहा गया है कि दिन के तृतीय प्रहर में अथवा सायंकाल संगीत कार्यक्रम एवं गोष्ठियाँ होनी चाहियें।[4]

इस प्रकार हम देखते हैं कि कामसूत्र के उल्लेख इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि समाज संगीतप्रेमी था एवं संगीत को प्रश्रय देता था। संगीत के किसी भी पक्ष में ह्रास नहीं प्रतीत होता, किन्तु इस काल तक आते-आते उसका सामाजिक पक्ष और भी प्रबल हो रहा था। शास्त्रीय अथवा सैद्धान्तिक पक्ष भी दिन प्रतिदिन विकसित हो रहा था, जैसा कि इसके समकालीन शास्त्र भरतकृत नाट्यशास्त्र से स्पष्ट हो जाता है। इस काल में एक महत्वपूर्ण बात दिखाई देती है। वह यह कि वेश्यावर्ग में संगीत बहुत अधिक प्रचलित हो गया था।

याज्ञवल्क्य--स्मृति में संगीत

इस काल के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण धार्मिक साहित्य का प्रतिनिधित्व याज्ञवल्क्य स्मृति करती है। आचारादि नियमों के विवेचन के

१—१, ४, ३५ पृ० ५१ तत्र चैषां काव्यसमस्या कला समस्या वा—

२—६; १, ९ पृ० ३००—समान विद्या—कलाग्राहिणा—ते च ते कार्ययोगात्।

३—काम० ३, २, १ पृ० १९२ सप्ताहं सतूर्यं मंगलस्नानं प्रसाधनं सहभोजनं प्रेक्षासंबंधिनां च पूजनम्।

४—काम० १, ४, २३ पृ० ४८ गृहीतप्रसाधनस्यापराह्ले गोष्ठीविहारा: प्रदोषे च संगीतकानि।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अतिरिक्त प्रसंगानुकूल संगीत के भी अल्प किन्तु महत्त्वपूर्ण अंशों का उल्लेख इस ग्रन्थ में देखा जा सकता हैं।

ब्राह्मण धर्म का ग्रन्थ एवं ब्राह्मण—विरचित होने के कारण 'साम' का महत्त्व दिखाना स्वाभाविक ही था, किन्तु मनुस्मृति के विपरीत इसमें गांधर्व संगीत या प्रचलित सामेतर संगीत का भी महत्त्व दिखाया गया है।

'साम' के महत्त्व के विषय में कुछ स्थलों पर यह कहा गया है कि जो व्यक्ति साम का अध्ययन करता है, वह देवताओं को संतुष्ट करता है।[1] जो व्यक्ति 'साम' का गायन यथाविधि सस्वर एवं सावधानी, एकाग्रता एवं अभ्यास से करता है, वह ब्रह्म के पास पहुँच जाता है।[2]

इस स्मृति में संगीत के लिए 'शिल्प' संज्ञा का प्रयोग किया गया है। शिल्प को आजीविका का साधन भी इसी स्थल पर कहा गया है।[3]

भरत द्वारा बताये शुद्ध गीतकों में से कुछ के उल्लेख इसमें भी प्राप्त होते हैं जो इस बात का प्रमाण समझे जा सकते हैं कि ये शुद्ध गीतक केवल सैद्धान्तिक ही नहीं थे अथवा सिद्धान्त तक ही सीमित नहीं थे, किन्तु उनका व्यावहारिक प्रयोग भी था।[4] इतना ही नहीं इनकी श्रेष्ठता का भी संकेत मिलता है। इनके लिए इतना तक कहा गया है कि उक्त गीतों के गायन से मोक्ष मार्ग की प्राप्ति हो जाती हैं। मोक्ष मार्ग से तात्पर्य है कि चित्त की एकाग्रता प्राप्त हो जाती है। जो कि मोक्ष का प्रथम सोपान है।

१—याज्ञ० श्लो० ४२ पृ० १०१

२—वही० अ० ३ प्र० ४ श्लो० १११ यथावधानेन पठन् साम गायत्यविस्वरम्। सावधानस्थाभ्यासात्परं ब्रह्माधिगच्छति।

३—याज्ञ० श्लो० १२० पृ० २०८ शिल्पैर्वा विविधैर्जीवेद्०—॥

४—याज्ञ० अ० ३ प्र० ४ श्लो० ११२–१३ अपरान्तिकमुल्लोप्यमद्रकं प्रकरीं तथा। औवेणुकं सुराबिन्दमुत्तरं गीतकानि तु। ऋग्गाथा: पाणिकादक्षं विहिता ब्रह्मगीतिका:। गायन्नेतत्तदभ्यासकारणान्मोक्षसंज्ञितम्।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वीणा का उल्लेख याज्ञवल्क्य अनेक स्थल पर करते हैं। वेद के अध्ययन के समय वीणा की ध्वनि बाधक मानी गई थी।[1] इससे अध्ययन की एकाग्रता भंग होने की आशंका होती है। संभवत: इसी से निषिद्ध माना था।

'बाण' नामक शततंत्री वीणा का उल्लेख यहाँ भी आया है। संभवत: यह वीणा इस काल में धार्मिक अवसरों पर ही अधिक उपयोग में आती थी। वीणावादन के तत्त्व का तथा श्रुति, जाति तालादि का कुशल ज्ञाता मोक्ष मार्ग को प्राप्त करता है।[2] यह संगीत की श्रेष्ठता का प्रमाण समझा जा सकता है। इसी प्रकार गीतज्ञ के लिये भी कहा गया है। यदि गीतज्ञ परमपद की प्राप्ति गीत से न कर पाये तो वह रुद्र का अनुचर होकर आनन्द मनाता है।[3] संगीत के पारिभाषिक शब्दों की श्रुति जाति तालादि की व्याख्या भरत संबंधी खण्ड 'क' में देखी ही जा चुकी है।

संगीत राजाओं के दैनिक जीवन का एक आवश्यक अंग था। इसी रूप में याज्ञवल्क्य ने भी राजा के लिए यह विधान बताया है कि भोजन से पूर्व उसको 'गीतवाद्यनृत्य' को सुनना एवं देखना चाहिये।[4] इतना ही नहीं 'तूर्य' (वाद्य) वादन के साथ ही राजा का शयन एवं जागरण होना चाहिये।[5]

इस प्रकार इस काल के उत्सों के सम्मिलित प्रकाश में यह निष्कर्ष उचित प्रतीत होता है कि संगीत किसी न किसी रूप में सभी वर्गों में सभी क्षेत्रों में प्रविष्ट हो चुका था। शास्त्रीय संगीत कहीं भी हेय नहीं माना गया। वेश्यावर्ग द्वारा शास्त्रीय रीति से प्रदर्शित संगीत को हेय

१—याज्ञ० श्लो० १४८ पृ० २३१।

२—वही० अ० ३ प्र० ४ श्लो० ११४ वीणावादनतत्वज्ञ: श्रुतिजातिविशारद:। तालज्ञस्य प्रयासेन मोक्षमार्गं निगच्छति।

३—याज्ञ० ११५ श्लो० गीतज्ञो यदि गीतेन नाप्नोति परमं पदम्। रुद्रस्यानुचरो भूत्वा तेनैव सह मोदते।

४—,, श्लो० ३३० पृ० ३६३।

५—वही०, श्लो० ३३१ पृ० ३६४।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

न मान उसे उच्च स्थान दिया गया था। संगीत इस काल में चरमोत्कर्ष पर था। भरत ने 'गांधर्व' को भी वेदों से संबंधित कर इसकी स्थिति और भी उच्च कर दी थी। बौद्ध ग्रन्थों ने भी संगीत को पूजा के उपकरणों के अन्तर्गत स्थान देकर उसकी उच्च स्थिति को और भी सुदृढ़ कर दिया। संगीत में शास्त्रीय सैद्धान्तिक विकास के विषय में यह काल सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था। इस काल में जो कुछ सिद्धान्त थे वे इतने सुविकसित एवं क्रम-बद्ध थे कि आगे परवर्त्ती ग्रन्थकारों ने उन्हें अविकल उतार दिया। परिवर्त्तन या विकास हुआ भी तो अत्यन्त अल्पमात्रा में हुआ। परिवर्त्तन जो कुछ हुए भी वे 'देशी' संगीत के रूप में हुए। इस काल में शिक्षालयों के माध्यम से संगीत शिक्षा भी प्रदान की जाने लगी थी। अन्ततोगत्वा यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि यह काल संगीत के सैद्धान्तिक, एवं शास्त्रीय विकास का तो स्तंभ था ही व्यावहारिक विकास का भी, स्तंभ था। संगीत को स्मृतिकार सदृश कट्टर ब्राह्मण ने भी श्रेष्ठ स्थान प्रदान किया।

चतुर्थ अध्याय समाप्त

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पंचम अध्याय

गुप्तकालीन संगीत

गुप्तकाल भारतीय इतिहास एवं संस्कृति का स्वर्णयुग कहा जाता है। इस काल में सभी कलाओं की उन्नति हुई। इसे विकास के चरमोत्कर्ष का काल कहा जा सकता है। इस काल के संगीत पर प्रकाश डालने वाले साहित्यिक उत्सों के अन्तर्गत अधिकतर नाटक आते हैं। यथा-भास शूद्रक एवं कालिदासकृत विभिन्न ग्रन्थ। इनमें नाट्य के अंग रूप में संगीत का उल्लेख तो है ही, संगीत की शास्त्रीय शब्दावलियाँ भी प्राप्त होती हैं जो विकास की द्योतक हैं। इस काल में कुछ जैन सूत्रों का भी महत्वपूर्ण स्थान था। यद्यपि इनके काल पर मतभेद है तथापि ये सूत्र दूसरी से पाँचवीं शताब्दी के मध्य के ही प्रतीत होते हैं।

गुप्त काल में भारतीय संस्कृति का विपुल विस्तार हुआ। इसका सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ मतंग का बृहद्देशी है। इसका अधिकांश मान्य काल गुप्त काल ही है। इस ग्रन्थ का अपना विशेष महत्त्व है। इसके विषय में खण्ड 'क' में विवेचन किया गया है।

अन्य महत्वपूर्ण उत्स के अन्तर्गत इस काल की कुछ मूर्त्तिकला, तथा मुद्राएँ एवं अभिलेख हैं। इनका स्वतंत्र विवेचन नहीं किया गया है। इनका उपयोग साहित्यिक उल्लेखों की परिपुष्टि के लिये किया गया है।

खण्ड 'क'

मतंग––गुप्तकालीन संगीत पर प्रभाव डालने वाला एवं नाट्य से संगीत का ग्रन्थ मतंग का बृहद्देशी अत्यंत महत्वपूर्ण है। दत्तिल के ग्रन्थ की भाँति यह अत्यंत संक्षिप्त नहीं है। यद्यपि इसके भी कई अंश खण्डित हैं, जो आज अप्राप्य हैं, तथापि जो भी रूप सामने है वह गुप्तकालीन विकसित संगीत कला का द्योतक माना जा सकता है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

भरत के ग्रन्थ में उल्लिखित अधिकांश विषय तो इसमें उसी रूप में मिल जाता है। अतः उस पर विशेष कुछ कहने की आवश्यकता नहीं, किन्तु कुछ विषय मतंग के ग्रन्थ में नवीन हैं जिन पर समुचित प्रकाश डालना आवश्यक है।

बृहद्देशी में रागाध्याय, स्वराध्याय एवं प्रबंधाध्याय ही मिलते हैं। नृत्य एवं वाद्याध्याय नहीं मिलते, यद्यपि अभिनव गुप्त ने सुषिर वाद्यों के संदर्भ में तथा नान्यदेव ने वीणा पर भी मतंग को उद्धृत किया है। ये अंश आज अप्राप्य हैं। भरत के अनुकूल निम्नोक्त विषयों का निरूपण मतंग ने अपने ग्रन्थ में किया है यथा–चतुः सारणा, अलंकारादि, स्वर, श्रुति, ग्राम, मूर्च्छना आदि।

भरत से भिन्न जो विषय इसमें उल्लिखित हैं वे ये हैं—गांधार ग्राम का उल्लेख मात्र, द्वादश स्वर मूर्च्छना पद्धति, ८४ मूर्च्छना तानों का यज्ञ नामों के साथ संबंध जोड़ा है, जातियों की मूर्च्छनाएँ भी बताई गई हैं, राग का अध्याय, देशी रागों का उल्लेख, जो विशेष महत्व का है परन्तु खण्डित है, प्रबंधाध्याय के अन्तर्गत नाट्य की ध्रुवाओं के स्थान पर स्वतंत्र संगीत की बन्दिशों का उल्लेख है।

द्वादश-स्वर-मूर्च्छना—[1]

भरतोक्त-सप्त-स्वर मूर्च्छना के अतिरिक्त द्वादश स्वरों की मूर्च्छनाओं का भी मतंग उल्लेख करते हैं। ग्राम के सात स्वरों में से प्रत्येक को बारी-बारी से आरंभक स्थान मानकर आरोहावरोह बनाने की प्रक्रिया भरतानुसार देखी जा चुकी है। मतंग इसे सप्त स्वर मूर्च्छना कहते हैं।

द्वादश स्वर मूर्च्छना का प्रयोजन मतंग ने त्रिस्थान प्राप्ति अर्थात् प्रत्येक मूर्च्छना में मंद्र, मध्य एवं तार तीनों स्थानों की प्राप्ति बताया है। इस हेतु से प्रत्येक मूर्च्छना में ७ की अपेक्षा १२ स्वर लेने का विधान बताया है, किन्तु वास्तव में मतंग ने द्वादश स्वर मूर्च्छनाओं के जो आरंभ स्थान कहे हैं उनसे इस प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती।

१—बृहद्देशी पृ० २२ सा च मूर्च्छना, द्विविधा सप्तस्वरमूर्च्छना, द्वादशस्वर-मूर्च्छना चेति——॥

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मतंग द्वारा षड्ज व मध्यम ग्राम की द्वादश स्वर मूर्च्छनाओं को निम्नोक्त सारिणी में देखा जा सकता है--

षड्जग्राम—

सांकेतिक मूर्च्छना नाम	द्वादशस्वर मूर्च्छना	परंपरागत ग्राम का मूर्च्छना नाम	मूल आरंभक स्वर मूर्च्छना के अनुसार
धैवतादि	ध नि सा रे ग म प ध नि सा रे ग	उत्तरमंद्रा	सा
निषीदादि	नि सा रे ग म प ध नि सा रे ग म	रजनी	नि
षड्जादि	स रि ग म प ध नी सा रे ग म प	उत्तरायता	ध
रिषभादि	रे ग म प ध नि सा रे ग म प ध	शुद्धषड्जी	प
गांधारादि	ग म प ध नी सा रे ग म प ध नि	मत्सरीकृता	म
मध्यमादि	म प ध नि सा रे ग म प ध नि सा	अश्वक्रान्ता	ग
पंचमादि	प ध नि सा रे ग म प ध नि	अभिरुद्गता	रे
निषादादि	नि सा रे ग म प ध नि सा रे ग म	सौवीरी	स
षड्जादि	सा रे ग म प ध नी सा रे ग म प	हरिणाश्वा	ग
ऋषभादि	रे ग म प ध नी सा रे ग म प ध	कालोपनता	रे
गांधारादि	ग म प ध नी सा रे ग म प ध नि	शुद्ध मध्यमा	सा
मध्यमादि	म प ध नि सा रे ग म प ध नि सा	मार्गी	नि
पंचमादि	प ध नि सा रे ग म प ध नि सा रे	पौरवी	ध
धैवतादि	ध नि सा रे ग म प ध नि सा रे ग	हृष्यका	प

मतंग का त्रिस्थान प्राप्ति प्रयोजन इसमें मात्र प्रथम षड्ज की मूर्च्छना उत्तरमंद्रा ही में सिद्ध हुआ है। अन्य में इस क्रम का पालन नहीं मिलता। इतना ही नहीं, प्रयोजन तो सिद्ध नहीं ही हुआ, सप्तस्वर मूर्च्छनाओं के मौलिक आरंभ स्थानों के साथ द्वादश स्वर मूर्च्छनाओं के आरंभ स्थानों का कोई सामंजस्य भी नहीं हो पाया है। यदि त्रिस्थान प्राप्ति उद्देश्य था तो भरत का वही अवरोही क्रम रखना चाहिये था आरोही नहीं। इस प्रसंग में मतंग का पृ० ३२ का कथन देखा जा सकता है। इस उद्धरण में सात स्वर मूर्च्छनाओं को भी अवरोह क्रम

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में रखा है यदि इसी क्रम से १२ स्वर वाली मूर्च्छना के साथ सात स्वर वाली मूर्च्छनाओं को स्थापित करते तो सामंजस्य रहता, परन्तु इस उद्धृत अंश के होने पर भी उपलब्ध पाठ में क्रम अवरोही है। क्रमभंग से प्रयोजन भी नहीं सिद्ध हो पाया एवं सप्त स्वर मूर्च्छनाओं से भी मेल नहीं बैठ पाया, न ही जातियों के स्वर-रूप निर्धारण ही में कोई उपयोगिता सिद्ध हो पाई।

मूर्च्छनाओं की जातियाँ--

मतंग ने मूर्च्छनाओं का धैवतादि निषादादि सांकेतिक नामों से निर्देश किया है। ये सांकेतिक नाम सर्व प्रथम मतंग ही में प्राप्त होते है। भरत ने जातियों के साथ किसी मूर्च्छना विशेष का संबंध नहीं जोड़ा है अर्थात् उन्होंने यह नहीं बताया कि अमुक जाति की अमुक मूर्च्छना है। मतंग ही में सर्व प्रथम जातियों के साथ मूर्च्छनाओं का उल्लेख मिलता है। किन्तु वहाँ भी अधिकतर धैवतादि, निषादादि सांकेतिक नामों का ही प्रयोग मिलता है, तब वहाँ यह निर्णय करना कठिन सा हो जाता है कि मतंग का अभिप्राय सप्तस्वर मूर्च्छना से या द्वादशस्वर मूर्च्छना से है। जातियों के लक्षणों का भरत सदृश विवरण मिलता है तथा भरत से अतिरिक्त जो विवरण मिलता है वह है जातियों का स्वर रूप भी उल्लिखित करना।[1]

यों तो 'जाति' एवं रागों में कोई मूलभूत तात्त्विक भेद नहीं है। तथापि 'जाति' जैसी कि वह सामान्य की द्योतक है, सीमित संख्या में थी, इसके विपरीत राग व्यक्तित्व विशेष के कारण संख्या में अधिक रहे होंगे। यही कारण था कि मतंग को रागवर्गीकरण की आवश्यकता प्रतीत हुई। मतंग ने ग्राम एवं देशी राग, दो प्रकार का उल्लेख ग्रन्थ के 'रागाध्याय' में किया है। ग्राम रागों का संबंध मतंग ने मार्ग संगीत से जोड़ा है। पृथक्-पृथक् पांच गीतियों में ग्राम रागों का विभाजन किया है यथा-शुद्धा, भिन्ना, गौड़ी, (वेसरा) राग[2] तथा

१—बृहद्देशी पृ० ७४–७६

२—इसी को सं० र० में 'वेसरा' कहा है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

साधारणी। ग्राम रागों के आश्रित भाषा इत्यादि की समुचित व्याख्या मतंग के कथन से नहीं मिलती। संगीतराज नामक ग्रन्थ में भाषा की व्याख्या इस प्रकार की गई है:—

आलापभेदो रागाणां भाषेत्याहुर्मनीषिण:।[1]

भाषा को प्रत्येक राग के आलापों का विशिष्ट प्रकारों के रूप में समझा जा सकता है। कुछ रागों का ढाँचा ही ऐसा होता है कि उसमें आलाप के लिये विस्तृत क्षेत्र होता है। रागों में एकता का अंग जितना प्रबल होगा उसमें प्रकार वैशिष्ट्य भी उतना ही अधिक संभव होगा। आज के हमारे कल्याण, कान्हड़ा एवं सारंगादि इसी विस्तृत क्षेत्र वाले रागों के अन्तर्गत देखे जा सकते हैं। कंपित, कोमल, ललित, गमक एवं रंजक स्वर-समूहादि के प्रयोगके भेदोपभेद के आधार पर उक्त वर्गीकरण किया गया है।

देशी रागों के तीन विभेद भाषांग, क्रियांग तथा रागांग किये गये हैं। आगे चलकर संगीत रत्नाकर में चौथा उपांग भी जोड़ दिया गया है।[2] चार प्रकार के भाषा राग मतंग ने बताये हैं यथा—मूल, संकीर्ण, देशज एवं छाया।[3]

इसके अतिरिक्त भाषा रागों में निम्नलिखित तीन प्रकार की अन्य भाषाएँ भी कही गयी है यथा—भाषा, विभाषिका एवं अन्तरभाषा। मतंग ने देशी रागों के उल्लेख का प्रारंभ तो किया है, किन्तु आगे का विवरण खण्डित हो जाने के कारण प्राप्त नहीं होता।[4]

मतंग के रागोल्लेख से निम्नोक्त तथ्य प्रकाश में आते हैं यथा—जाति की भाँति राग को भी नाट्य के प्रसंग विशेष के साथ संबंधित किया है। ग्राम रागों के लक्षणों के अन्तर्गत ग्राम, जाति, ग्रह, अंश, न्यास, संपूर्ण षाडवौड़व आदि मंद्र, तार, वर्ण, अलंकार, रस एवं तालादि का उल्लेख आया है।

१—सं० राज० पृ० २७१, ५. ७५

२—सं० र० २, २, ४–१८ मल्लिनाथ की टीका।

३—बृह० भाषा लक्षण अध्याय देखिये।

४—बृह० पृ० १४०–४१

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

तृतीय तथ्य यह स्पष्ट होता है कि प्रत्येक राग का किसी जाति एवं मूर्च्छना से भी संबंध जोड़ा गया है। रागों की जो मूर्च्छनाएँ बताई है उनकी संगति जातियों से नहीं बैठती। अतः रागों का स्वर रूप मूर्च्छना अथवा जाति किस आधार पर बनायीं जाये, इसका कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिल पाता।

चतुर्थ तथ्य यह प्रकाशित होता है कि रागों के जो अलंकार कहे गये हैं उनका भी प्रयोजन स्पष्ट नहीं होता क्योंकि उदाहरण स्वरूप एक गौड़ सारंग राग को छोड़कर अन्य रागों में तो सर्वत्र एक ही क्रम से स्वर प्रयोग नहीं किया जाता है।

इस प्रकार राग प्रकरण से जहाँ एक ओर यह सिद्ध हो जाता है कि रागों का विकास उस काल में विपुल रूप से हो गया था, वहीं यह भी कहा जा सकता है कि इनका कोई विशेष स्पष्टीकरण मतंग के उल्लेख से नहीं हो पाता, अन्यथा उन रागों का आधुनिक प्रचारगत उन्हीं नाम के रागों के साथ समीकरण का कुछ प्रयास किया जा सकता था।

प्रबंधाध्याय—

गायन में स्वतंत्र रचनाओं को 'प्रबंध' के रूपमें जाना जा सकता है। 'प्रबंधों' का भरत ने कोई उल्लेख नहीं किया है। नाट्य की ध्रुवाओं का उल्लेख विवरण सहित किया है, इसे ही गायन के प्रबंधों का संक्षिप्त स्वरूप समझा जा सकता है। प्रबंधों को मतंग ने देशी संगीत के अन्तर्गत रखा है। ध्रुवाओं से 'प्रबंध' का यह भेद है कि 'ध्रुवा' में नाट्य परिस्थिति प्रमुख रहती है अर्थात् 'ध्रुवा' इनके आश्रित है, इसके विपरीत प्रबंध स्वतः ही परिस्थिति का निर्माण करते हैं अर्थात् जब कोई रचना या प्रबंध गाया जाता है तो उससे स्वतः ही किसी अवस्था का निर्माण हो जाता है।

संगीत रत्नाकर में जिस प्रकार प्रबंध की धातु एवं उसके अवयवों का उल्लेख मिलता है, बृहद्देशी में नहीं। सीधे प्रबंध भेदों का ही निरूपण कर दिया है। इसमें कुल ४८ प्रबंधों का निरूपण किया गया है।[१]

१—देखिये प्रबंधाध्याय

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

यद्यपि बृहद्देशी में प्रबंध के प्रभेदों की संख्या संगीत रत्नाकर की भाँति विस्तृत नहीं, तथापि जो भी निरूपण मिलता है वह पर्याप्त विकसितावस्था का द्योतक है।

खण्ड 'ख'

कुछ जैन सूत्रों में संगीत—

जैन सूत्रों में संगीत के कुछ अत्यन्त रोचक उल्लेख आते हैं। विशेषकर वाद्यों के कुछ नाम ऐसे आये हैं जिनका अन्यत्र उल्लेख नहीं प्राप्त होता। संगीत के शास्त्रीय पक्ष पर भी कुछ उल्लेख प्रकाश डालते हैं। स्वर, ग्राम, मूर्च्छना आदि के उल्लेख आये हैं। किन्तु मूर्च्छनाओं के नामों का भरत के समान क्रम नहीं मिलता। इसमें गांधार ग्राम की भी मूर्च्छनाएँ बताई गई हैं।

गायन—

गायन अथवा गीत संबंधी अनेक उल्लेख नृत्य, एवं वाद्य के साथ देखे जा सकते हैं।[1] संगीत के लिये गांधर्व संज्ञा भी प्राप्त होती है।[2] गायन की कुछ विशेषताओं पर भी ये जैन सूत्र प्रकाश डालते हैं। प्रथम मंद्र स्वर से, तथा क्रमशः मध्य एवं तार स्वर में गीत का उच्चार करना चाहिये। वाद्य के वादन के साथ एकरसता होनी चाहिये।[3]

गीत के तीन आकार, ६ दोष, ८ गुण एवं वृत्त पद्य के तीन प्रकार कहे गये हैं। जो इनके ज्ञान से गीत गाता है वही शिक्षित कहलाने के योग्य होता है। तीन आकारों के अन्तर्गत मृदु गीत ध्वनि, तीव्र गीत ध्वनि एवं क्षययुक्त हलकी गीत ध्वनि आती है। छः दोषों के अन्तर्गत डरकर गाना, शीघ्र गाना, धीरे गाना, ताल रहित गाना, काक

१—राज० पृ० ३–४, ४६–७ पृ० १५६, ७६, २८२, २६६ अव० सूत्र० पृ० ८१–८२ पृ० १११ गीयवाइयं——। पृ० १४३ गीयरईप्पिया, नच्चणसीला पृ० १६७ नट्टं गीतं वाईयं सरगयं पुक्खरगय, समतालं——। १६६, समवा० पृ० १७६ स्थानां० पृ० ६७४–७५–७६–७७–७८।

२—वही० पृ० १६६ गीतरतिगंधव्वनट्ट कुशले——।

३—राज० पृ० ६७–६८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्वर से गाना, नाक से गाना इत्यादि आता है। संगीतकार के दोषों का आभास नाट्यशास्त्र में भी मिल चुका है। गायन के आठ गुण इस प्रकार हैं—पूर्णकला से गाये, राग को रंजक बना कर गाये, अन्यस्वरविशेषों से अलंकृत करके गाये, स्पष्ट गाये, मधुर स्वर से, ताल वंश के स्वर से मिलाकर गाये इत्यादि।[1]

उरः कण्ठ एवं शिरः से, पदबद्ध, गेय पद सहित, ताल समान पद का उच्चारण करना, एवं सात स्वर के समक्षरों सहित गाना ही गीत कहा गया है। गीत को दोषरहित, अर्थयुक्त, काव्यालंकार-युक्त, उपसंहार, उपचार सहित मधुर शब्दार्थ वाला एवं प्रमाण युक्त होना चाहिये। संस्कृत तथा प्राकृत दोनों प्रकार के श्लोकों में गाना प्रशस्त माना जाता था।[2]

इसी प्रसंग में गायन करती हुई स्त्रियों की भी पहचान बताई गई है। श्यामा १६ वर्षीय स्त्री मधुर, काली, रुक्ष, गौरी चातुर्य से गाती है। कानी स्त्री विलंब से, अंधी शीघ्र गति, पिंगला, कपिला खराब स्वर से गातीं है। गायन विधि में ताल, तंत्रीलय, पद, लय गाथा, श्वास आदि का ध्यान रखना चाहिये।[3]

संगीत के कुछ पारिभाषिक शब्द—

सप्त स्वर—षड्ज, ऋषभ आदि सप्त स्वरों का तथा उनके सात स्थानों का उल्लेख प्राप्त होता है। इनको जीव निःसृत कहकर प्रत्येक

१—स्थाना० पृ० ६७४–७८ तिन्नियगेयस्स आगारा। कूद्दोसे अट्ठगुणे तिन्निय वित्ताहं दोय भणियाओ जोणहिइ सो गाहिई, सुसिविखओ रंगमज्भंमि। भीतं दुतं रहस्सां गायन्ति मायगाहिउत्तालं। कास्सरमणुणासं च। होंति गेयस्स छद्दोसा। पुन्न रत्तं च अलंकियं। ववत्तं तहांय अविघुट्ठं मधुरं समसुकुमालं। अट्ठगुणा होंति गेयस्स।

२—वही० पृ० ६७८–८०।

३—वहो० सामा गायइ मधुरं। काली गायइ स्वर च रुक्खं च गौरी गायइ चउरं। का।ा विलंब दुतं अंधा। विस्सरं पुण पिंगलां। तंति समताल समं पादसमं लय समं गृह समं च नीससिउ ससियसमं संचार समा सरासन्ता।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्वर का संबंध भिन्न-भिन्न जीव के साथ जोड़ा गया है यथा—षड्ज स्वर की मयूर के स्वर से ऋषभ की कुक्कट इत्यादि से तुलना की है।[1]

सप्त स्वरों को अजीव निःसृत कहकर वाद्यों से भी संबंध जोड़ा गया है। यथा—सा मर्दल का, रे गोमुही का,[2] ग शंख, म झल्लरी, प दर्दुरी, ध ढोल, नि महाभेरी का।

ग्राम तथा मूर्च्छना तीन ग्राम षड्ज, मध्यम एवं गांधार बताये गये हैं। इनकी ७-७ मूर्च्छनाओं का भी उल्लेख आया है जो क्रम तथा कुछ नाम में भी भरतोक्त मूर्च्छनाओं से भिन्न है षड्ज ग्राम की भंगी कौरव, हरीत, रजनी, सीरकान्ता, सारसी, श्रुतसज्ञा, मध्यम ग्राम की उत्तरमन्द्रा, रजनी, उत्तरा, उत्तरसभा, अश्वकान्ता, सौवीरा, अभि-रूपवती तथा गांधार ग्राम की नंदिता, खुद्रिमा, पूरिमा, शुद्धगंधारा, उत्तर गंधारा सुष्ठुतर आयमा एवं उत्तराकाण्डी।[3] उत्तरमंद्रा षड्जग्राम की सर्वमान्य मूर्च्छना कैसे यहाँ मध्यमग्राम के साथ जुड़ गयी इसका कोई संकेत नहीं मिलता। संभवतः यह नाम भेद प्रादेशिक भिन्नता के आधार पर बन गया हो किन्तु इस विषय पर प्रमाणाभाव में निश्चित कुछ नहीं कहा जा सकता।

इतना तो स्पष्ट ही कहा जा सकता है कि भरत का संगीत सिद्धांत पूर्णतः व्यवहार में आ रहा था।

वादन—

इसके अन्तर्गत वाद्यों का विवेचन प्रमुख होता है। रायापसेणीय सूत्र निम्नोक्त प्रकार के वाद्यों का उल्लेख करता है यथा—शंख, सिंग,

---

१—स्थानां पृ० ६७१–७२। सत्तसरा–सज्जे रिसमे गंधारें, मज्झिमे पंचमे सरे धैवते चेव णेसादे—एएसिणं सत्तण्हं सराणं सत्तसरट्ठागां—। सज्जं तु अग्ग जिव्हाए उरेण रिसमसरं कण्ठुग्गएग गंधारं मंभ्क जिव्माए मंज्झिम। णासाए पंचमं वूया दन्तो टेणयइ घेवयं मुद्धाणेणणयणेसायं। सरट्ठाणां वियहिया—। सत्तसराजीव निस्सिया सज्जं खइभ यूरो कुक्कुडो रिसभं सरं हसों णदइ गंधारं मज्झिमंतु गवेलगा—कोइला पंचमं सरं छट्ठं च सारसा कोंचा णेसायं सत्तमं गएगा।

२—वही० पृ० ६७२—३--४

३—वही० पृ० ६७४–७८ तक।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शंखिया, खरमुही, पेया, पिरिपिरिया, पणव, पडह, भंभा (ढक्का के नाम से भी ज्ञात) होरंभा, भेरी, झल्लरी, दुन्दुही, मुरय, मुइंग, नन्दीमुइंग आलिङ्ग्य, कुतुंब, गोमुही मद्दल, वीणा, विपंची, वल्लकी, महती, कच्छपी, चित्तवीणा, वदघोसा, सुघोषा, नन्दिघोषा, रणसिंगा, काहली, भामरी, चम्भामरी, परवायणी, तूण, तुम्ब वीणा, आभति, झंझा, नकुल, मुगुन्द, हुडुक्की, विचिक्की, करडा, डिण्डिम, किणिय, कडम्ब, दद्दरिया (गोहिय नाम से भी ज्ञात) दद्दरगा, कलकिया, महुप, तल, ताल, कंसताल, रिंगिरिसिया, लत्तिया, मगरिया, सुंसुमरिया, वंस, वेलु, वाली, परिल्ली, वद्धंगा।[1] ये वाद्यों के चारो प्रकारों का संकेत करते हैं। इनमें से कुछ वाद्य तो सामान्य रूप से अन्य उत्सों में देखे जा सकते हैं। किन्तु कुछ वाद्यों का समीकरण नहीं किया जा सकता। संभवतः ये वाद्य भिन्न-भिन्न प्रदेशों के प्रचलित वाद्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं। कुछ को नामों के आधार पर समझा जा सकता है। यथा—चित्तवीणा संभवतः विचित्रवीणा का पूर्व रूप रही होगी। इसी प्रकार कलसिया वाद्य संभवतः कलशवादन संकेत प्रदान करता है।[2] किणिय वाद्य तथा तामिल प्रदेश का 'किण्ई' नामक ढोल यह सम्भवतः एक ही रहे हों।

नृत्य—

नृत्य के भी यत्र तत्र उल्लेख मिलते हैं। रस्सी पर चढ़कर नृत्य करना एवं लास्य नृत्य दोनों ही प्रकार के नृत्य ज्ञात थे।

राजाओं से संगीत का संबंध तथा संगीत शिक्षा—

राजकुमार को सात वर्ष होने पर कलाचार्य के पास ७२ कला सिखाने भेज दिया जाता था। राजाओं के जीवन में संगीत का महत्वपूर्ण स्थान था। ७२ कलाओं के अन्तर्गत नृत्य कला (नट्ट) गीत-कला, कण्ठ संगीत (सरगम) वाद्य संगीत (वादित) पुष्कर वादन की कला (पुक्खर गय) तथा संगीत में काल दिखाना (समताल)

१—राया० सू० पृ० ६२–६८

२—राय० सू० पृ० ३–४, पृ० ४६–७, २७६, २८२, २६७, २६६ उव० सू० पृ० २–३, सम वाया० पृ० १७६

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आदि को रखा गया है जो संगीत के विपुल प्रचार एवं शिक्षा का संकेत करते हैं। राजकुमारों को गांधर्व कला अथवा संगीत कला की शिक्षा भली भांति दी जाती थी।[1] राजाओं की सेना में संगीतकारों का प्रमुख सहयोग होता था तथा सम्माननीय व्यक्ति के स्वागत में भी संगीत प्रयुक्त किया जाता था। नगरियाँ गायक वादक नर्तकों से पूर्ण रहती थीं।[2] स्त्रियाँ भी नृत्य करती थीं उनके समवेत नृत्य भी प्रचलित थे।[3] नृत्य शालाओं का भी उल्लेख इसका संकेत करता है कि संगीत के कार्यक्रम अथवा शिक्षा के लिये विशेष स्थान बने होते थे।[4]

संगीत की महिमा इस काल तक इतनी बढ़ गई थी कि यहाँ तक कह दिया कि गीत नृत्य में प्रीत रखने वाले भी यदि साधु की मर्यादा का पालन करते रहेंगे तो देवता के अवतार लेंगे।[5]

इस प्रकार जैन सूत्रों से कई महत्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। प्रथम तो यह कि संगीत की कलाओं के अन्तर्गत सुदृढ़ स्थान प्राप्त हो जाने से एवं शिक्षा का अंग बन जाने से वह जीवन का एक आवश्यक अंग, शिक्षा का एक प्रमुख विषय बन गया था। कुमारों को उसकी शिक्षा प्रारंभ ही से लेनी पड़ती थी।

दूसरी महत्वपूर्ण सूचना वाद्यों का विपुल प्रकार है। इतने अधिक वाद्यों का उल्लेख अन्य किसी साहित्य में प्राप्त नहीं होता। एक ही सूत्र में साठ वाद्यों का उल्लेख आता है, जो संभवतः प्रकार एवं उप-प्रकार प्रतीत होते हैं। ये छोटे बड़े भी होते थे।[6] एक प्रकार का नवीन वाद्य मुख मुइंग या मुख मृदंग भी उल्लिखित है।[7] इसकी व्याख्या

१—उव० सू० पृ० १६७, १६६, राया० पृ० २६७ राया० पृ० २६६, समवाया० पृ० १७६, ।

२—राया० सूत्र० पृ० ६२–६३, वही० पृ० ३–४, ४५–४७, ६७–६८, उव० पृ० १०८–१०६, उव० सू० पृ० २–३ ।

३—राया० पृ० २७६ ।

४—वही० पृ० २८२ ।

५—उव० पृ० १४३ ।

६—राया० पृ० ६२–६३

७—उव० सू० पृ० १०८–१०६

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ऋषि अमोलक जी रणसिंघे से करते हैं। किन्तु संभवतः यह चर्म से मढ़ा फूंक से वजने वाला कोई आदि वासियों का वाद्य रहा होगा। इसका अन्यत्र उल्लेख प्राप्त नहीं होता।

निष्कर्ष स्वरूप इतना यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि संगीत एवं संगीतकारों का महत्व समाज में अधिक उन्नत हो गया था। कोई भी अवसर संगीत से रहित नहीं होता था। पूजा में भी इसका महत्वपूर्ण स्थान था। संगीत का देश के विभिन्न भागों में प्रचार हो गया था। देशी संगीत का यह ज्वलन्त उदाहरण है कि इतने अधिक संख्यक वाद्यों की गणना उक्त साहित्यों में की गई है। गुप्तकाल की यह विशेषता थी। इस काल में देशी तत्वों का विपुल विस्तार हुआ था।

खण्ड "ग"

कालिदासकृत ग्रन्थों तथा भास एवं शूद्रक के नाटकों में संगीत

गुप्तकाल की साहित्यिक कृतियों में उक्त लेखकों की रचनाएँ अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखती है। ये संगीत के व्यावहारिक एवं शास्त्रीय दोनों ही पक्षों पर समान रूप से प्रकाश डालती है। कालिदास के ग्रन्थों को देखकर तो ऐसा प्रतीत होता है कि वे स्वयं संगीतकार के संस्कार रखते थे क्योंकि पार्वती की आवाज की मधुरता का वर्णन करते समय वे अनमिली वीणा की कर्कश ध्वनि का निजी अनुभव भी बताते हैं।[1]

उक्त साहित्यों में संगीत के लिये पूर्व प्रचलित 'गांधर्व' संज्ञा के साथ 'संगीत' संज्ञा भी बहुतायत से प्राप्त होती है।[2] संगीत को

१—कुमार० १. ४५ स्वरेण तस्याममृतस्रुतेव प्रजल्पितायामिजातवाचि।
अप्यन्यपुष्टा प्रतिकूलशब्दा श्रोतुर्वितन्त्रीरिव ताड्यमाना।

२—प्रति० यौगं घ० अं० २ पृ० २८ गांधर्वेऽभिलाषः।
मृच्छ० अं० १ पृ० १० चिरसंगीतोपासनेन।
वही० ३. १०४ गंधव्व गंधर्वम्——गांधर्वं श्रोतुं गतस्या वही० ५. २१२
संगीतवीणा इव।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कलाओं के अन्तर्गत रखा गया था। यह उल्लेखनीय है कि शूद्रकने संगीत का उल्लेख 'कला वैशिकी'[1] अर्थात् वेश्या वर्ग से संबंधित रूप में किया है। संभवत: वेश्याओ की जीविका का साधन संगीत होने के कारण ही ऐसा कहा गया है। अन्यथा संगीत का प्रचार इस काल में प्रत्येक वर्ग में देखा जाता है।

गायन—

गायन के लिये 'गीत' संज्ञा का उपयोग किया गया है।[2] गायन के प्रमुख दो स्वरूपों में यथा—शास्त्रीय एवं लौकिक में देखा जा सकता है। लौकिक गायन के अन्तर्गत अनेक प्रकारों को देखा जा सकता है।

लौकिक गायन का अभ्यास महिला वर्ग में विशेष प्रचलित था। आज की भाँति विना किसी शिक्षा प्राप्ति के वे समय के प्रवाह में उसे अपना लेती थीं। यहाँ उन्हें किसी वाद्ययन्त्र की भी सम्भवत: आवश्यकता नहीं पड़ती थीं। उत्सवों में अवसरानुकूल प्राचीन प्रारंभिक गीतों के अभ्यास एवं अपने नवीन परिचितो से नवीन गीत सीखने का उन्हें पर्याप्त सुयोग प्राप्त होता था।[3] गायन के अन्य प्रकार भी थे। यथा—

यशोगान—

यशोगान संभवत: राजाओं के सुकृत्यों से संबंधित गायन था। कुबेर के यशोगान का उल्लेख भी देखा जा सकता है। राजाओं के चरित्र अथवा उत्तम पुरुषों के चरित्र पर कवि काव्य रचना करता था, जो कि पठन एवं गायन दोनों के योग्य होता था। वाल्मीकि रामायण इसी प्रकार का पठन एवं गायन योग्य काव्य है जो रामचन्द्र सदृश सत्पुरुष राजा के जीवन का चरित्र गायन है।[4] राज्य में नियुक्त

१—वही० १. ८ ऋग्वेदं सामवेदं गणितमथ कलां वैशिकी ।।

२—प्रतिमा० १, ४ गीयतां। चारू० पृ० ४९–५० मृच्छ० ३. १०४ ३, १०६, ५, १८४, गीतं गायामि गर्दभस्यानुरूपं. को मे गाने तुम्बुरुर्नारदो वा ८, २६२–इति गायति, भाव भाव श्रुतं त्वया यन्मया गीतं।

३—इन्डिया इन कालिदास पृ० २२५

४—रघु० २, १२, मेघ श्लोक १०, रघु० १५, ३३, १५, ६३–६४–६५

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यश अथवा चरित्र गायन करने वाले चारण कहलाते थे। शंकर का चरित्र गायन 'वैतालिक' करते थे।[1]

शुभ अवसरों पर गाये जाने वाले गीत मंगल गान तथा स्तुति गायन को भी इसी का उप-प्रकार माना जा सकता है।[2]

विजय गीत—

चारण, वैतालिक, तथा गंधर्व किन्नरादि द्वारा गाये विजय गीतों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। 'विजय गीत' जैसा नाम से ही स्पष्ट होता है व्यक्ति या राजा विशेष की विजयों से संबंधित रचना होती है। सेना में विजय-गीत गाने वाले गंधर्व एवं चारण तथा भाट आदि नियुक्त होते थे। शिव जी की सेना में भी ऐसे गायक देखे जा सकते हैं। भाटो की प्रथा आज भी भारत में कुछ स्थानों पर देखी जा सकती है जो विवाह-अवसर पर आकर गीत गाते हैं।

उपर्युक्त यशोगान, मंगलगान, स्तुतिगान एवं विजयगीत आदि को देखते हुए लौकिक गायन की विषय वस्तु का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

विवाह अवसर के मंगल गान एवं खेतों की ऊपज की रखवाली करते समय के गायन की विषय वस्तु भी तत्संबधी ही होती थीं।[3]

लौकिक गायन स्वाभाविक होता है। प्रत्येक कार्य के साथ स्वतः गायन मुखरित होने लगता है। कालिदास ने भी ऐसे कुछ उल्लेख किये हैं जिससे इस बात का संकेत मिलता है कि नदी स्नान करते समय स्त्रियाँ मधुर गीत गाती थीं एवं गीत के ताल पर पानी में थपकियाँ देती थीं।[4] इस स्वाभाविक क्रिया का प्रमाण दैनिक जीवन की गति विधियों में भली भाँति लक्ष्य किया जा सकता है।

१—कुमार० ६, ३२

२—मेघ० श्लोक ४९, कुमार० ६.८५, २. ५ विश्व उत्पत्ति के कारण शंकरजी की स्तुति की जाती थी। ७, ४८

३—रघु० ४, २०,

४—रघु० १६; ६४ तीर्थस्थलीबर्हिभिरुत्कलापैः प्रस्निग्धके कैरभिनन्द्यमानम्। श्रोत्रेसुसम्मूर्च्छति रक्तमासां गीतानुगं वारिमृदंगवाद्यम्। आस्फालितं यत्प्रमदाकराग्रैर्मृदंगवीरुध्वनिमन्वगच्छत्—॥

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

गायन की अन्य विषय वस्तु—

गायन की विषय वस्तु प्रेम एवं विरह से संबंधित भी होती थी। गीत की शब्द रचना प्रेम, विरह आदि अवस्था की अभिव्यक्ति करने में सहायक होती थी। इसी का परिणाम है कि आज जो प्राचीन बंदिशें हमें प्राप्त होती हैं बहुधा शृंगार प्रधान ही हैं।[1]

ऋतुओं से संबंधित गायन भी होते थे जो ऋतु वर्णन की विषय वस्तु के संकेतक माने जा सकते हैं। आज के मल्हार, मेघ मल्हार, बसंत बहारादि मौसमी रागों में अधिकांश गीत प्राप्त होते हैं वे ऋतु वर्णन से ही संबंधित हैं।[2]

शास्त्रीय गायन—

शास्त्रीय गायन के अन्तर्गत संगीत की पारिभाषिक संज्ञाओं को देखा जा सकता है। सामान्यत: शास्त्रीय गायन के अन्तर्गत निम्नोक्त तत्वों का समावेश किया गया है। गायन में लय, ताल, हावभाव, राग, गीति, वर्ण, मूर्च्छना, आलाप प्रक्रिया गीत का रस भाव एवं छन्दोबद्ध होना, सप्त शुद्ध स्वर एवं विकृतस्वरों का प्रयोग आदि प्रमुख तत्व हैं।[3]

राग-गायन—

रागों का उद्भव इस काल तक हो चुका था जैसा मतंगकृत ग्रन्थ में देखा जा चुका है। कालिदास ने भी कुछ रागों का यथा स्थान उल्लेख किया है। 'कौशिक' राग का गायन मूर्च्छना प्रयोग सहित किया जाता था, इसके अतिरिक्त भिन्नक, वलन्तिका, एवं ककुभ

१—अभि० शाकु० अं० ५, मालवि० अंक० २

२—अभि० शाकु० अं० १, प्रतिमा० अं० १ पृ० ४ शरत्कालमधिकृत्य गीयतां तावत्।

३—रघु० ६ ३५, रघु० १५ ६३–६४–६५, ऋतु० १ ८ श्लोक. विक्रमों० अंक० १ श्लोक ३, अभि० शा० अं० १ अंक ५, मेघ० श्लोक २५, मालवि० अंक २ श्लोक ४, कुमार० ६ ३३–३८, विक्रमो० अंक १ पृ० १०४ अं० ३ पृ० १०४, १०६, ४–१६०, ८–२६२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नामक रागों का भी उल्लेख किया गया है। कुछ राग नाम मतंग ने भी दिये हैं। इनमें से कुछ तो आज भी इसी नाम से प्रचार में हैं किन्तु समय व्यवधान से, उसका पूर्व स्वरूप क्या था, कहना अत्यंत कठिन है क्योंकि राग नाम समान होने पर भी स्वर व्यवस्था भिन्न हो सकती है।[1] राग गायन में प्रथम राग के स्वरों का गायन करना चाहिये जिसे आज की भाषा में 'आलाप' या मुक्तालाप कहा जाता है।[2] राग गायन का द्वितीय सोपान चीज या गीत रचना है। कालिदास ने इसे 'वस्तु' संज्ञा प्रदान की है। इसे 'प्रबंध' का पर्याय-वाची समझा जा सकता है। कालिदास ने ऐसी एक वस्तु का माल-विकाग्निमित्र में इकतिस विक्रमोर्वशीय में, तथा तीन अभिज्ञान शाकुन्तलम् में उल्लेख किया है।[3]

वर्ण—गायन के स्वर अभ्यास से संबंधित तत्वों के अन्तर्गत 'वर्ण' संज्ञा को देखा जा सकता है। वर्ण एवं अलंकारों को नाट्यशास्त्र में, देखा ही जा चुका है। आज भी प्रारंभ में संगीत-अभ्यास हेतु वर्ण-अलंकार की सर्व प्रथम शिक्षा दी जाती है।[4]

गायन अभ्यास में स्वरित का प्रयोग भी अति आवश्यक माना गया था। स्वरित वह आधार स्वर है, जिसके परिमाण एवं आधारा-नुकूल आगे या पीछे के स्वरों का गायन अथवा आरोह अवरोह किया जाता है। यह पद्धति मूर्च्छना के उपयोग का संकेतक समझी जा

१—कुमार० ८.८५ मूर्च्छनापरिगृहीतकैशिकैः किन्नरैरुषसि गीतमंगलः। विक्रमो० ४.३ पाटस्थान्ते भिन्नकः—एतदेव नर्त्तित्वा वलन्तिकयों नृत्यजानुभ्यां स्थित्वा—। इति ककुभेन षड्जपभग्गा। अभि० शाकुं० अं० १ तथा ५ अहो रागावबद्धचित्तवृत्तिशालिखित इव सर्वतो रंगः। तवास्मि गीतरागेग हरिणा प्रसभंहृतः। अहो रागपरिवाहिनी गीतिः। मृच्छ० अं० ३ पृ० १०६,

२—माल० अं० २ उपगानं उपोहनं कृत्वा—।

३—माल० अं० २. ४, अभिज्ञान० १. १, ५. १, ७. १, विक्रमो० ४. १–३१ तक।

४—अभि० अंक ५ संगीतशालाभ्यन्तरेऽवधानं देहि कलविशुद्धाया गीतैः स्वर-संयोगः श्रूयते। जाने तत्रभवती हंसपदिका वर्णपरिचयं करोतीति।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सकती है।[1] गायन में प्रयुक्त होने वाले तत्वों के स्पष्टीकरण का सुन्दर उदाहरण मृच्छकटिक के एक अंश में देखा जा सकता है:—

तं तस्य स्वरसंक्रमं मृदुगिरः श्लिष्टं व तन्त्रीस्वनं
वर्णानामपि मूर्च्छनान्तरगतं तारं विरामे मृदुम्।
हेलासंयमितं पुनश्च ललितं रागादिरुच्चारितं
यत्सत्यं विरतेऽपि गीतसमयं गच्छामि शृण्वन्निव ॥[2]

गायन में स्वर संचालन होता है, अर्थात् स्वरों का सरलता से विविध रीति से गायन होना चाहिये, ऐसा गायन मधुर स्वर में एवं तंत्री वाद्यों से मिला होना चाहिये। गायन के अन्तर्गत मूर्च्छना तथा त्रिस्थानों का प्रयोग करना चाहिये। रागानुकूल गायन में सप्तक, ध्वनि इत्यादि प्रयोग करना चाहिये। रागानुकूल तथा भावानुकूल[3] काकली स्वर का भी प्रयोग होना चाहिये। इसका स्पष्टीकरण नाट्यशास्त्र में देखा जा चुका है।

गायन की संगत में वाद्यों का प्रयोग भी प्रचलित ही था। ताल एवं स्वर की संगति के लिये क्रमशः घन एवं आनद्ध वाद्य मुरजादि तथा वेणु आदि स्वरित या स्वराधार के लिये प्रयुक्त करना चाहिये।[4] गायन की सामान्य विशेषताओं के अन्तर्गत उसकी मधुरता, व्यक्तता, सुस्पष्ट अभिव्यक्ति, भावाभिव्यक्ति, संवेगात्मकता एवं लालित्य को रखा जा सकता है। अवसर पड़ने पर गीत के साथ अभिनय प्रयोग भी होता था। अर्थात् गीत के भाव प्रकाशन के लिये अभिनय का आश्रय भी मान्य था।[5]

१—ए० मं० रि० ई० भाग ७ पृष्ठ १८।

२—मृच्छ० अं० ३ पृ० १०६।

३—वही० अं० ४ पृ० १६०, ८. २६२।

४—मेघ० १. ५६, कुमार० १. ८ रघु० २, १२, विक्र० अं० २, मेघ० श्लो० ६० पृ० ६०, रघु० २, १२; १६. ६४, कुमार० ६. ३३–३८ तक, रघु० ८, ३३, ऋतु० १, ८, मेघ० श्लोक २५ पृ० १३१।

५—चारू० पृ० ४६–५० मधुरगीतं सर्वदा सुव्यक्तं गीतं। कुतः रक्तं च तारमधुरं च समं स्फुटं च भावार्पितं च न च साभिनयप्रयोगम्—।, मृच्छ० अं० ३ पृ० १०४ रक्तं च नाम मधुरं च समं च स्फुटं च, भावान्वितं च ललितं च मनोहरं च किं वा प्रशस्तवचनेर्बहूभिर्मदूक्तैरन्तर्हिता यदि भवेद्वनितेति मन्यो।

CC-0. Agamnigam Digital Preseyation Foundation, Chandigarh

इस प्रकार गायन के शास्त्रीय पक्ष में गायन का रस भाव से संबंध भी स्पष्ट हो जाता है। उक्त उल्लेखों को देखकर यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि इस काल में शास्त्रीय संगीत का विपुल प्रचार था एवं अधिकांश जनता की रुचि भी वैसी ही प्रशिक्षित थी जो उसे समझ सकें।

वादन—इसके अन्तर्गत वाद्य संबंधी विवेचन आता है।

तत वाद्य—इस वर्ग के वाद्यों में वीणा का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान था। इसे भी एक रत्न के समान माना गया जो बिना समुद्र मन्थन के प्राप्त हुआ है।[1] वीणा इतना महत्वपूर्ण वाद्य था कि कवि को मूर्च्छित स्त्री (इन्दुमति) की उपमा के लिये सर्व प्रथम वीणा का ही स्मरण आया।[2] वीणा के महत्व संबंधी अनेक उल्लेख उक्त साहित्यों में देखे जा सकते हैं। वीणा राजा के लिये स्त्री साहचर्य के समान ही महत्व रखती थी। अग्निवर्ण राजा सदा वीणा एवं स्त्री के साहचर्य में मग्न रहता था।[3] वीणा वादन के द्वारा ही स्त्रियों ने अग्निवर्ण को आकर्षित किया था।[4] वीणा स्त्रियों का प्रिय वाद्य था। हंसवती का वीणा वादन, यक्षिणी का गोद में वीणा रखकर वादन करना, व वासवदत्ता की घोषवती वीणा का संबंधादि इसी के संकेतक हैं।[5]

वीणा की तंत्रियों, खूंटियों, एवं तारों के विषय में भी प्रकाश पड़ता है। सप्ततंत्री वीणा अधिक प्रचलित थी। संभवतः 'परिवादिनी' नामक वीणा ऐसी ही थी।[6] वीणा वादन गोद में रखकर, आलिंगन की सी

१—'भास ए स्टडी पृ० ४२३, मृच्छ० अं० ३ पृ० १०४ वीणा हि नाम समुद्रोत्थितं रत्नम् कुतः। प्रतिज्ञा० अं० ३ पृ० ४८ वीणारत्न।

२—रघुवंश ८. ३५

३—रघु० १९. १३

४—वही० १९. ३५-३६

५—मेघ० उत्तर मेघ० २५ पृ० १३१, अभिज्ञा० अं० ५ पृ० ३१९, स्वप्न वा० अं० ६ पृ० २५७-५८, प्रतिज्ञा० अं० ३ पृ० ४८ घोषवती नाम वीणारत्नं।

६—रघु० ८ ३५-३४, ८. ३५-४१ मृच्छ० अं० ५ पृ० १८४ सुशब्दं वीणा वादयामि सप्ततंत्रीं नदन्तीम्।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्थिति तथा बेला वाद्य की भाँति रखकर किया जाता था। वादन कोण एवं हाथों के नखों दोनों से किया जाता था। मूर्त्तिकलाओं में इन दोनों तथ्यों के प्रमाण देखे जा सकते है।[1] वीणा को वादन से पूर्व उचित स्वर में मिलाना चाहिये अन्यथा बेसुरी अथवा वितंत्री हो जायेगी। वीणा के स्वर मधुर होते थे। यह माधुर्य मार्जना से अधिक बढ़ता है। मार्जना न होने पर वह बेसुरा प्रतीत होगा।[2]

वीणा वादन की यथावत् शिक्षा का भी संकेत मिलता है। अभ्यास के समय पहले स्वर संयोजना, संयोग, वर्ण परिचय, ताल, लय आदि के समन्वय की शिक्षा, तत्पश्चात् काकली आदि स्वरविशेष लगाने की विधि मूर्च्छना प्रयोग आदि की शिक्षा दी जाती थी।[3] वीणा के अनेक उल्लेख गायन एवं नृत्य की संगत के रूप में मिलते हैं।[4] एकाकी वादन भी सर्व विदित ही था।

आनद्ध वाद्य—

इस वर्ग के अनेक वाद्यों का उल्लेख इन साहित्यों में प्राप्त होता है। मृदंग इस वर्ग का सर्वाधिक महत्वपूर्ण वाद्य था। इसके महत्व को भरत ने प्रमुख अंगों में रखकर और भी बढ़ा दिया है। यह हाथ से बजाया जाता था एवं नृत्य गीत की संगत में बहुतायत से प्रयुक्त किया जाता था। संगीत संबंधी कार्यक्रम के स्थल रंग भवन में, प्रारंभ में मृदंग की ध्वनि की जाती थी जिससे कार्य क्रम की सूचना

१—स्वप्न० अं० ६ पृ० १६३–६४–६५, कथं नु देव्या स्तनयुगले जघनस्थलेन च सुप्ता—। वही० अं० ५ पृ० २२१ हस्तेन त्रस्तकोणेन कृतमाकाशवादितं। देखिये फलक चित्र संख्या।

२—कुमार० सर्गं १ ४५, प्रतिज्ञा० अं० ३ पृ० ४८ श्रुतिसुखमधुरा स्वभावरक्ता–

३—ऋतु० १ ८, अभिज्ञान० अं० ५ पृ० ३१६, उत्तर मेघ० श्लो० २३–२५ पृ० १३१, मृच्छ० अं० ५ पृ० २१२ संगीतवीणा इव ताड्यमानास्ताला-नुसारेण पतन्ति धाराः।

४—मेघ० (उ० मे०) २५ १३१ पू० मे० ४६ पृ० ७४, ऋतु० १. ८ प्रतिज्ञा० अं० १ पृ० ६–११, अं० २ पृ० २७–२८, ३. ४८–४६, चारु० पृ० ४६–५०, मृच्छ० ३. ११६

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मिलती थी।[1] मृदंग के अवयव आलिंग्य एवं ऊर्ध्वक प्रकारों का भी उल्लेख मिलता है। इनका भी अंकन मूर्तिकला में देखा जा सकता है।[2] इसके अतिरिक्त इस वर्ग के अन्य अनेक वाद्यों का भी उल्लेख द्रष्टव्य है यथा—दुन्दुभि, नन्दि, पटह, ढक्का, दर्दुर, पणव, भेरी, डिण्डिम, मर्दल इत्यादि।[3] नन्दि वाद्य संभवतः चमड़े के थैले जैसा मुख पर नन्दि बैल की आकृति वाला वाद्य था। ऐसा प्रचार से मालूम होता है।

आनद्ध वर्ग के वाद्य लकड़ी द्वारा भी बजाये जाते थे। इसके लिये बाँस की लकड़ी का प्रयोग भी किया जाता था तथा हाथ से भी वादन किया जाता था।[4] संगीत संबंधी उपयोग तो उक्त वर्ग के वाद्यों का था ही किन्तु घोषणात्मक कार्य भी इनसे लिया जाता था जैसा पहले भी देखा जा चुका है। वध घोषणा के समय भी वादन सर्व साधारण तक को सूचना देने के लिये किया जाता था। वध के अवसर पर डिण्डिम एवं पटह का वादन किया गया था।[5] विवाह के अवसर पर भी पटह वादन किया जाता था।[6] युद्ध यात्राओं में भी इनका उपयोग होता था। भेरी, दुन्दुभि एवं पटह अपनी भीषण

१—रघु० १६. १३–१४, १६. ६४, १३. ४०, मृच्छ० ३. ११६, ४. १६० मेघ० श्लो१ ३८ पृ० ५८।

२—कुमार० ११. ३६, ६. ४०, ऋतु० २. ४ रघु० १६. ६४, माल० १. २१ मेघ० २. ६, देखिये फलक ४, ५ चित्र सं० १, ४, ५—५,

३—प्रतिज्ञा० ३. ४६, प्रतिमा अं० १ पृ० १–१७, मृच्छ० ६–२३८, १०. ३६८–३८८, २. ७४; ४. १६०, ३. ३३८, ६. ३४८ १०. ३६८–३८२, कुमार० ११. ३६, ६. ४०, ऋतु० २. ४, रघु० १६–६४ माल वि० १. २१, मेघ० २. ६।

४—मृच्छ० ४. १६० युवतिकरताडिता। मृच्छ० १०. ३७६ जर्जरवंशखण्डेन—।

५—मृच्छ० १० ३६८–३८२, बध्यडिण्डिमशब्दं, पटहानां च श्रूयते। इदं च पश्चिमं घोषणास्थानम्। तत्ताडयतांडिण्डिमं उद्घोषयतां घोषणाम्। वध्यपटहध्वनयस्तथैव—।

६—प्रतिमा० १ पृ० १७, मृच्छ० १०. ३८८ जाता विवाहपटहध्वनिभिः समाता

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ध्वनि के कारण ऐसे ही अवसरों के लिये उपयोगी थे।[1] मर्दल नामक वाद्य का भी सेना में वादन होता था।[2]

इस वर्ग के वाद्यों का पूजा संबंधी उपयोग भी होता था।[3]

सुषिर वाद्य—

वेणु एवं शंख इस वर्ग के प्रमुख वाद्य हैं। वेणु में स्वर साधने के लिये सप्त छिद्र होते हैं जो फूँकने से प्रतिध्वनित होते हैं।[4]

घन वाद्य—

कांस्य ताल (करताल) इस वर्ग का प्रमुख वाद्य था।[5] ताल के लिये इस वर्ग के वाद्यों का महत्व होता था।[6] गुप्तकाल के भूमरा मंदिर की कला में मजीरे का भी अंकन देखा जा सकता है। (फ० ८ चि० २)

तुर्य—

तूर्य का प्रयोग उक्त साहित्यों में वाद्य वादन के रूप में ही किया गया प्रतीत होता है। विवाह के अवसर पर, स्नान के समय, पुत्र-जन्मोत्सव, स्वयंवर, राजा के जागरण के समय तथा अतिथि सत्कार के लिये तूर्य वादन होता था।[7]

नृत्य—

"नृत्य कला" इस काल में चरमोत्कर्ष पर थी।[8] कालिदास ने इसे मनोरंजन का प्रमुख प्रकार माना था। यद्यपि सबकी भिन्न-भिन्न

१–२–रघु० ६. ११, १०, ७६, कुमार० १४, २७–१७ ऋतु० सर्ग २, १–४, कुमार० ७, १०।

३—मेघ० श्लो० ३८ पृ० ५८।

४—रघु० १६ ३५–३६, २. १२, कुमार० १, ८, ६, ३१–३२–३८, रघु० ६, ६, ७, ६३,

५—मृच्छ० अं० ४ पृ० १६० कांस्यताला:

६—वही० ५, २१२ तालानुसारेण

७—कुमार० ७, १०, ६ ३६, रघु० ३, १६, ७, ३८, १७, ११,

८—विक्रमो० ४-१२, मेघ० पृ० ३६ लाइफ इन गुप्त एज।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रुचि संभव हो सकती है।[1] नृत्य के आवश्यक अंग, अंग संचालन, रस भाव, चारी विधान, विभिन्न मुद्राएँ आदि हैं। वाद्यों की संगत युक्त एवं रहित दोनों प्रकार के नृत्य संभव थे।[2] नृत्य कला अभिनय से घनिष्ठ रूप से संबंधित थी। संभवतः कालिदास ने इसीलिये दोनों को एक कला के रूप में उल्लेख किया है।[3] नृत्य के सामान्य उल्लेख भी द्रष्टव्य हैं।[4]

नृत्य का महत्व उसे देवताओं से संबद्ध करके और भी बढ़ा दिया है। शिव ने अर्ध नारीश्वर रूप में दो भागों में ताण्डव एवं लास्य में विभक्त कर दिया। नृत्य के माध्यम से नवरत्न, तथा तीन गुणों द्वारा लोक चरित दिखाया जाता है। अतः यह भिन्न-भिन्न रुचिवालों का मनोरंजन करने में समर्थ होता है।[4]

नृत्य के कुछ प्रकारों का भी उल्लेख मिलता है। 'छलिक' नृत्य का एक कठिनतम प्रकार था जो चतुष्पद गीत के साथ संपन्न किया जाता था। (छलिक गान के रूप में, महाभारत के हरिवंश खण्ड में भी 'छलिक गांधर्व' संज्ञा मिलती है। छलिक गान को बहुत कठिन माना जाता था। तपस्या के बिना इसे तथा इसके मूर्च्छना विधान को नहीं जाना जा सकता। छलिक गान देवगंधार राग में भी गाया जाता था। छलिक गान के कई प्रकार संभवतः ज्ञात थे उन्ही में से एक 'लेश' प्रकार था। यह इस की सबसे कठिन जाति थी)।[5] इस नृत्य

१—अभि० १-२६ माल० २-३, ६—८ नानारसंदृष्यते।

२—माल० पृ० १४ अं० १ पृ० २६ पंचांगाभिनय

३—प्रतिज्ञा० ३, ५५, मृच्छ० ४, १६० गणिकादारिका नृत्यन्ते नाट्यं पाठ्यन्ते सश्रृंगारम्, मालवि० १-४, २, ३—६—८।

४—मालवि० १, ४ देवानामिदमाममन्ति मुनयः कान्तं क्रतुं चाक्षुषम्। रुद्रेणेदमुमाकृतं व्यतिकरे स्वांगे विभक्तं द्विधा, त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते, नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्।

५—हरि० विष्णु पर्व अ० ८६- ७१—८५, ९३, २३—२४।

६—माल० वि० अंक १, ४ तथा मेघ० श्लोक ४०—६० कुमार० ६-३६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ध्वनि के कारण ऐसे ही अवसरों के लिये उपयोगी थे।[1] मर्दल नामक वाद्य का भी सेना में वादन होता था।[2]

इस वर्ग के वाद्यों का पूजा संबंधी उपयोग भी होता था।[3]

सुषिर वाद्य—

वेणु एवं शंख इस वर्ग के प्रमुख वाद्य हैं। वेणु में स्वर साधने के लिये सप्त छिद्र होते हैं जो फूँकने से प्रतिध्वनित होते हैं।[4]

घन वाद्य—

कांस्य ताल (करताल) इस वर्ग का प्रमुख वाद्य था।[5] ताल के लिये इस वर्ग के वाद्यों का महत्व होता था।[6] गुप्तकाल के भूमरा मंदिर की कला में मजीरे का भी अंकन देखा जा सकता है। (फ० ८ चि० २)

तुर्य—

तूर्य का प्रयोग उक्त साहित्यों में वाद्य वादन के रूप में ही किया गया प्रतीत होता है। विवाह के अवसर पर, स्नान के समय, पुत्र-जन्मोत्सव, स्वयंवर, राजा के जागरण के समय तथा अतिथि सत्कार के लिये तूर्य वादन होता था।[7]

नृत्य—

"नृत्य कला" इस काल में चरमोत्कर्ष पर थी।[8] कालिदास ने इसे मनोरंजन का प्रमुख प्रकार माना था। यद्यपि सबकी भिन्न-भिन्न

१–२–रघु० ९. ११, १०, ७६, कुमार० १४, २७–१७ ऋतु० सर्ग २, १–४, कुमार० ७, १०।

३—मेघ० श्लो० ३८ पृ० ५८।

४—रघु० १९ ३५–३६, २. १२, कुमार० १, ८, ९, ३१–३२–३८, रघु० ६, ९, ७, ६३,

५—मृच्छ० अं० ४ पृ० १६० कांस्यताला:

६—वही० ५, २१२ तालानुसारेण

७—कुमार० ७, १०, ९ ३६, रघु० ३, १९, ७, ३८, १७, ११,

८—विक्रमो० ४-१२, मेघ० पृ० ३६ लाइफ इन गुप्त एज।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रुचि संभव हो सकती है।[१] नृत्य के आवश्यक अंग, अंग संचालन, रस भाव, चारी विधान, विभिन्न मुद्राएँ आदि हैं। वाद्यों की संगत युक्त एवं रहित दोनों प्रकार के नृत्य संभव थे।[२] नृत्य कला अभिनय से घनिष्ठ रूप से संबंधित थी। संभवत: कालिदास ने इसीलिये दोनों को एक कला के रूप में उल्लेख किया है।[3] नृत्य के सामान्य उल्लेख भी द्रष्टव्य हैं।[४]

नृत्य का महत्व उसे देवताओं से संबद्ध करके और भी बढ़ा दिया है। शिव ने अर्ध नारीश्वर रूप में दो भागों में ताण्डव एवं लास्य में विभक्त कर दिया। नृत्य के माध्यम से नवरत्न, तथा तीन गुणों द्वारा लोक चरित दिखाया जाता है। अत: यह भिन्न-भिन्न रुचिवालों का मनोरंजन करने में समर्थ होता है।

नृत्य के कुछ प्रकारों का भी उल्लेख मिलता है। 'छलिक' नृत्य का एक कठिनतम प्रकार था जो चतुष्पद गीत के साथ संपन्न किया जाता था। (छलिक गान के रूप में, महाभारत के हरिवंश खण्ड में भी 'छलिक गांधर्व' संज्ञा मिलती है। छलिक गान को बहुत कठिन माना जाता था। तपस्या के बिना इसे तथा इसके मूर्च्छना विधान को नहीं जाना जा सकता। छलिक गान देवगंधार राग में भी गाया जाता था। छलिक गान के कई प्रकार संभवत: ज्ञात थे उन्ही में से एक 'लेश' प्रकार था। यह इस की सबसे कठिन जाति थी)।[६] इस नृत्य

१—अभि० १-२६ माल० २-३, ६—८ नानारसंदृष्यते।

२—माल० पृ० १४ अं० १ पृ० २६ पंचांगाभिनय

३—प्रतिज्ञा० ३, ५५, मृच्छ० ४, १६० गणिकादारिका नृत्यन्ते नाट्यं पाठ्यन्ते सश्रृंगारम्, मालवि० १-४, २, ३—६—८।

४—मालवि० १, ४ देवानामिदमाममन्ति मुनयः कान्तं क्रतुं चाक्षुषम्। रुद्रेणेदमुमाकृतं व्यतिकरे स्वांगे विभक्तं द्विधा, त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते, नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्।

५—हरि० विष्णु पर्व अ० ८६- ७१—८५, ९३, २३—२४।

६—माल० वि० अंक १, ४ तथा मेघ० श्लोक ४०—६० कुमार० ६-३६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में गीत, वाद्य, चरणन्यास, लय तथा भिन्न-भिन्न रसों का प्रदर्शन किया जाता था। नृत्य के द्वारा गीत का अर्थ इस प्रकार अभिव्यक्त हो जाना चाहिये मानो शब्द ही बोल रहे हों—चरण न्यास गति एवं लय के साथ हों, अभिनय के माध्यम से प्रत्येक रस भाव का प्रदर्शन हो जाये तथा हाथ से दिया गया ताल अभिनय की कोमलता को और बढ़ाये एवं नृत्य ऐसा हो जो दर्शकों को भाव विभोर बनाये रहे।[1]

नृत्य भी आंगिक, वाचिक एवं सात्विक प्रकार का होता था।[2]

ताण्डव नृत्य विकराल होता था।[3] नृत्य अनेक अवसरों पर किया जाता था। पुत्रोत्पत्ति के अवसर पर अप्सराएँ वाद्यों की संगत में रस भाव, छन्दोबद्ध गीत के साथ नृत्य करती थीं।[4] मंदिरों में नर्त्तकियों की नियुक्ति की जाती थी।[5] सभा में नाट्याचार्यों की कला कुशलता की परीक्षा हेतु भी नृत्य होता था।[6] इस अवसर पर त्रुटि दिखने पर गुरु को ही लज्जित होना पड़ता था।[7] नृत्य के प्रचार का संकेत गुप्त-कालीन मूर्त्तिकलाओं में अंकित नृत्य दृश्यों के अंकन से भी मिल जाता है।[8]

राजाओं के जीवन में संगीत—

राजाओं के जीवन में संगीत को अभिन्न अंग रूप में पहले भी देखा जा चुका है। भास एवं शूद्रक के नाटकों से स्पष्ट है कि राजाओं का संगीत प्रिय मनोरंजन था। वाद्यों की ध्वनि से वे प्रिया का स्मरण भी करते थे। वासवदत्ता का स्मरण राजा उसकी वीणा को

१—माल० वि० अंक १-४ तथा मेघ० श्लो० ४०–६० कुमार० ६-३६,

२—रघु० १६, ३५–३६, १६, १५।

३—कुमार० ६, ३६

४—मेघ० ३६।

५—मालवि० अंक १–२

६—रघु० १६, १४।

७—मालवि० अं० १ तथा २।

८—देखिये फलक ८ चित्र ५, ७, ८, ६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

देखकर कर लेता है। राजकुमारियाँ एवं रानियाँ भी संगीत में रुचि रखती थीं जैसा उल्लिखित अंशों के संदर्भ से स्पष्ट है।[1] इनके नाम को 'संगीत एवं स्त्री वर्ग' शीर्षक में देखा जा सकता है।

राजाओं के मनोरंजन हेतु नटियों, नर्त्तकियों आदि की नियुक्ति होती थी। इसके अतिरिक्त मंगल गीत एवं विजय गीत गाने वाले चारण, भाट तथा वैतालिकों को पहले ही देखा जा चुका है। राजा के सभी कार्यों में संगीत का सहयोग था—पुत्रजन्म, युद्ध यात्रा, विजय, स्वयंवर, जागरण इत्यादि।[2]

राज्य की शोभा एवं सम्पन्नता का अनुमान उनमें गूंजते संगीत से लगाया जाता था।[3]

राजाओं का संगीत प्रेम गुप्तकाल के उद्धरणों से भी स्पष्ट हो जाता है। समुद्रगुप्त की मुद्रा का 'वीणा-धारी' प्रकार इस बात को भलीभाँति स्पष्ट कर देता है कि राजा केवल संगीत का आनंद ही नहीं लेता था किन्तु स्वयं भी संगीतकार होता था। इस मुद्रा में राजा को वीणा बजाते दिखाया गया है।[4] समुद्रगुप्त की 'प्रयाग प्रशस्ति' में भी उसकी तुलना तुम्बुरु एवं नारद के संगीत कौशल से की गई है। 'गंधर्वललितैः संज्ञा उसके संगीतकार होने का सबल प्रमाण है।[5]

स्कन्दगुप्त का भी संगीतज्ञ के रूप में उल्लेख किया गया है। भितरी स्तंभ लेख में उसकी संगीत समझने की प्रतिभा का संकेत किया गया है।[6]

१—अभि० अं० ५ मालवि० २, ४–८।

२—कुमार० ७, ४९, ६, ८५।

३—वही० ६, ४० उत्तर मेघ० १, ५ विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः, संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगंभीरघोषम् अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुंगमभ्रंलिहाग्राः, प्रासादास्त्वां तुलयितुमलंयत्रस्तैस्तैर्विशेषैः। गुप्तकालीन मुद्राएं

४—तथा एलेन का कैटलांग फलक ५ देखिये।

देखिये फलक ६ चित्र ४।

५—फलीट एपी० इण्डि० १४–१५–पृ० ८।

६—फलीट १३ पृष्ठ ५५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राजाओं को संगीत कला से इतना अधिक प्रेम था कि अति मग्न हो जाने के कारण वे बहुधा रानियों के द्वारा आलोचित भी किये जाते थे।[१] कर्त्तव्यच्युत राजा का एकमात्र संबल संगीत एवं शराब होता था।[२] राजा स्वयं भी कुशल संगीतकार होते थे जैसा समुद्रगुप्त के विषय में देखा जा चुका है। कालिदास ने भी राजा अज का उसी रूप में उल्लेख किया है जो ललित कलाओं की संभवतः संगीत की शिक्षा अपनी पत्नी इन्दुमती को दिया करता था।[३] राजा अग्निवर्ण का उल्लेख भी एक भूतपूर्व संगीत नृत्य आचार्य के रूप में किया गया है जो वेश्याओं की भूलें दिखाया करता था। क्योंकि ऐसी भूलें आचार्यों के लज्जा का कारण होती हैं,[४] स्वाभाविक ही कवि उन्हें 'कृति आचार्य' के रूप में उल्लेख करता है।

राज्य का प्रश्रय—

संगीत की शिक्षा संस्थाएँ राज्य के खर्च पर चलती थीं। तत्संबंधित शिक्षकों को नियमित वेतन भी मिलता था।[५] राज्य में पेशेवर संगीतज्ञ भी होते थे।[६] वेश्याओं की नियुक्ति स्पष्ट ही थी। ये मंदिरों में तो नियुक्त की ही जाती थीं, सामान्य सामाजिक अवसरों, विवाहादि पर भी आती थीं।[७]

संगीत शिक्षा एवं प्रतियोगिताएं—

'संगीत शाला' तथा संगीत आचार्यों का उल्लेख इस प्रसंग में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।[८] हरदत, गणदास, रेभिल नामक गायक,

---

१—मालवि० जइ राअकज्जेसु ईरिसी अणि उगदा अज्जउत्तरस—।

२—रघु० १६, ४–५।

३—वही० ८, ६७।

४—वही० १६–१४, मालवि० १–११।

५—देखिये उपाध्याय की पुस्तक मालवि० पृ० १७।

६—रघु० ३, १६, १९-३५, १६–१४–१५–१६ मेघ० ३५ पृ०

७—मेघ० पृ० ३५।

८—मालवि० अं० १ अकुलनाट्याचार्यं गणदास का उल्लेख यथा एव नाट्याचार्यं आर्यं गणदासः संगीतशालाया निर्गच्छति।, अभि० अं० ५ संगीतशालान्तरे–।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तुम्बरु एवं नारद नामक आचार्यों का उल्लेख संगीत शिक्षा एवं गुरु शिष्य परंपरा का संकेतक समझा जा सकता है।[1] संगीत के शिक्षकों का 'सुतीर्थ' के रूप में भी उल्लेख मिलता है।[2]

संगीत शालाओं में नियमित कक्षाएँ हुआ करती थीं एवं नित्य गृह पाठ भी दिया जाता था।[3] संगीत शिक्षा ग्रहण करने वाली कुछ स्त्रियों का उल्लेख भी इस प्रसंग में द्रष्टव्य है यथा—मालविका, परिव्राजिका एवं शर्मिष्ठा।[4] शर्मिष्ठा संगीत कला में पर्याप्त उन्नति कर चुकी थी। उसकी कुशलता का उल्लेख उसके छलिक नामक नृत्य के प्रदर्शन के प्रसंग में देखा जा सकता है जिसे वह अभिनय की परीक्षा के लिये प्रस्तुत करती है।[5] उक्त अंश से छलिक नामक रचना के स्वरूप का भी अनुमान सहज ही किया जा सकता है। यह रचना चार भागों में निर्मित थी, इसमें मध्य लय रखी जाती थी। शर्मिष्ठा ने स्वयं भी कुछ संगीत संबंधी पदों की रचनाएँ की थीं एवं तत्संबंधी नियमों की भी स्थापना की थी।[6]

मृच्छकटिक नाटक में भी वीट एक ऐसी ही कुशला का उल्लेख करता है जो अपनी आवाज के विभिन्न प्रयोगों में कुशल थी तथा नृत्य इत्यादि सभी कलाओं में कुशल थी।[7]

नृत्य कला के आचार्यों के कुछ आवश्यक गुणों का भी संकेत किया गया है। नृत्य तत्त्वज्ञ होना आचार्य का प्रमुख गुण है। नृत्य

१—मृच्छ० अं० १ पृ० ८–१०, ३-११६ कथं नाट्याचार्यस्य गृहामेदम्। वाडेकर ने संगीतशिक्षक के रूप में व्याख्या की है। ४-१६०, माल वि० अं० १।

२—माल० पृ० १४, रघु० १६–३६।

३—देखिये उपाध्याय की पुस्तक, विक्रमो० पृ० २७।

४—मालवि० पृ० ८ परमनिपुणा मेधाविनी चेति—पृ० १२ पण्डित कौशिकी, पृ० २१–२४ तथा अभि० ४-६।

५—मालवि० पृ० ४-५ ६-२४ तस्यास्तु छलिकं प्रयोगं—। २४ छलिकं नाम नाट्यं ॥ ४-५-६।

६—अभि० ४-६।

७—मच्छ० १' ४६ इयं रंगप्रवेशेन कलानां चोपशिक्षया, वंचतापण्डितत्वेन स्वरनैपुण्यमाश्रिता ॥

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के विभिन्न तत्त्वों का भरत ने सुन्दर एवं विस्तृत विवरण नाट्यशास्त्र में दिया है। ऐसा विश्वास था कि गुरु की कुशलता योग्य शिष्यों में प्रविष्ट हो जाय तभी महान सफलता प्राप्त होती है। ऐसे योग्य आचार्य को राजा एवं प्रजा सभी सम्मान प्रदान करते हैं।[1] आचार्य को नृत्य के व्यावहारिक एवं सैद्धांतिक दोनों पक्षों में प्रवीण होना चाहिए अर्थात् स्वयं में प्रदर्शन की प्रतिभा एवं उसे सिखाने की भी प्रतिभा का गुण आवश्यक था।[2]

आचार्यों के मध्य कभी-कभी कला संबंधी मतभेद भी हो जाता था, जो स्वाभाविक भी था एवं इन्हें स्पर्धा की ओर अग्रसर करता था। फलस्वरूप खुली प्रतियोगिता के रूप में प्रकट हो जाता था। हरदत्त खुली सभा में गणदास को अपने से निम्न प्रकार का कहकर व्यंग करता है एवं प्रतियोगिता के लिए कहता है। पक्षपात न हो अतः राजा अपनी पत्नी एवं विद्वान् कौशिकी को भी अपने साथ मध्यस्थ बनाता है।[3] निर्णय के आधार संबंधी कुछ तत्त्वों का अनुमान उक्त अंश से लगाया जा सकता है। यथा-शिष्य गुरु की आज्ञा एवं आदेश पालन किस प्रकार करता है, एक अयोग्य शिष्य में गुरु किस प्रकार कौशल को प्रविष्ट कराने की क्षमता रखता है। क्योंकि शिष्य की प्रवीणता गुरु की श्रेष्ठता का भी निर्णायक होती है।[4] ऐसी प्रतियोगिताएँ रंग भवन या संगीत शालाओं में होती थीं।[5]

नर्त्तकी की विशेषताओं का भी उल्लेख प्राप्त होता है। शारीरिक सौष्ठव आदर्श रूप हो।[6] प्रतियोगिता में विजयी व्यक्ति राजा की ओर से कटक प्राप्त करता था।[7]

स्त्री वर्ग एवं संगीत—

स्त्रियों के साथ संगीत के घनिष्ठ संबंध प्रत्येक काल के साहित्यों में भरे पड़े हैं। मूर्तिकलाओं में भी अधिकांश अंकन स्त्री गायिका

१—मालवि० अं० १।
२—वही० पृ० २७।
३—मालवि० पृ० २४।
४—मालवि० पृ० २१।
५—मालवि० अं० १–२।
६—वही० अं० २ पृ० ४०।
७—वही० तथा ४६ पृ०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वादिका एवं नर्त्तकियों का देखा जा सकता है।[1] स्त्रियों के लिये आवश्यक ६४ कलाओं में भी इसकी गणना देखी जा चुकी है। राज्य में नर्तकियों की नियुक्ति की जाती थी। स्त्री गायिकाएँ कामदेव को जगाया करती थीं।[2] वासवदत्ता, निपुणिका, हंसवती, शर्मिष्ठा, मालविका आदि नारियों का संगीत भी स्त्री वर्ग के साथ घनिष्ठ संबंध का द्योतक है। अन्य, विवाहावसर पर अप्सराओं का गायन वादन, मंदिरों में नर्तकियों की नियुक्ति आदि भी इसी तथ्य की पुष्टि करते प्रतीत होते हैं।[3] गीत रचना में भी स्त्रियों की विशेष देन थी। सरस्वती द्वारा रचित रचना इसका ज्वलन्त प्रमाण है।[4]

इस प्रकार संपूर्ण गुप्तकालीन उत्सों को देखते हुए यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि इस काल तक संगीत के सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक दोनों ही पक्ष समान रूप से विकसित हो गये थे। मतंग द्वारा बताये हुये सैद्धांतिक पक्ष का व्यावहारिक प्रयोग भी इस काल में होता था। मतंग द्वारा कहे गये एवं देशी रागों का इस काल में विपुल विस्तार एवं प्रचार दिखता है।[5] कुछ रागों एवं प्रबन्धों का भी स्पष्ट उल्लेख एवं व्यवहार भी हमारे इसी निष्कर्ष की पुष्टि करता है।

संगीत को ब्राह्मण, क्षत्रिय, राजा, सामान्य जनता सभी वर्गों में उच्च दृष्टि से देखा जाता था। शास्त्रीय संगीत का महत्व तो स्पष्ट ही था क्योंकि उच्च वर्ग की लड़कियों का भी खुली प्रतियोगिताओं में भाग लेना बुरा नहीं समझा जाता था।

१—देखिये फलक २ चित्र २, ३। फलक ३ चित्र संख्या ४ फलक ४ चित्र संख्या १, ४, ५, ६, ७ फलक ५ चित्र संख्या १,५,६, ८ फलक ६ चित्र संख्या ७

२—अभि० अं० १ पृ० ९—१०—११ ऋतु० १-८।

३—कुमार० ६, ३३—३८, मालवि० अं० १—२ मेघ० ३९ पृ० ५९।

४—विक्रमो० अं० ३ पृ० १९२, रघु० १६, १३—१४।

५—हरिवंश विष्णुपर्व ८९, ८२ महाभारत का यह अंश षड्जग्रामरागेषु च तत्तत्कार्यं तस्यैकदेशानयनेन राजन् लेशाभिधानां सुकुमारजाति निष्ठां सुदुःस्वनेन नराः प्रयान्ति।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पुराणों में संगीत

पुराणों के अन्तर्गत जिस प्रकार के संगीत का उल्लेख मिलता है उससे यह मालूम होता है कि वह पूर्व ग्रन्थों से काफी प्रभावित है। भरत के नाट्यशास्त्र में संगीत के सैद्धान्तिक पक्ष का जितना विशद विवरण मिलता है उसमें कोई भी प्रमुख तत्त्व ऐसा नहीं जो छूट गया हो। यद्यपि संगीत का ग्रन्थ न होने से विस्तार अवश्य नहीं मिलता किन्तु कोई तत्त्व छूट भी नहीं पाया है। सभी विषय शृंखला-बद्ध से मिलते हैं।

यों तो पुराणों के रचना काल के विषय में अत्यधिक मतभेद है तथापि गुप्तकाल के अन्तर्गत आने वाले पुराणों में मुख्यतः तथा संगीत की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण एवं प्राचीनतम पुराण निम्नलिखित है। वायु पुराण, मार्कण्डेय पुराण तथा विष्णु धर्मोत्तर पुराण।

संगीत के सैद्धान्तिक पक्ष का विपुल विवरण विष्णुधर्मोत्तर पुराण में देखा जा सकता है। प्रायः वायुपुराण एवं मार्कण्डेय पुराण के उल्लेख भी अल्पभेद के साथ ही इसमें प्राप्त होते हैं। इन सबके अतिरिक्त कुछ अन्य विषयों का भी निरूपण किया गया है।

पुराणों में संगीत का उल्लेख उसके तीनों अंगों यथा गीत, वाद्य, एवं नृत्य, के साथ ही प्राप्त होता है।[1] पुराणों में संगीत की उत्पत्ति संबंधी अनेक पौराणिक कथाएँ भी यत्र तत्र देखी जा सकती हैं। विशेषकर वायु पुराण तो ऐसी अनेक कथाओं से भरा पड़ा है। कहीं शिव तो कहीं अन्य देवता के साथ संगीतोत्पत्ति की कथा जुड़ी हुई मिलती है।[2] इसी प्रकार विष्णुधर्मोत्तर पुराण यह श्रेय स्वाभाविक ही विष्णु को प्रदान करता है।

१—३-१८–३४ विष्णुधर्मोत्तरपुराण

२—वायु० ११, २४–२५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पुराणों में यह बात भी विशेष दिखाई पड़ती है कि यज्ञों के साथ संगीत घनिष्ठरूप से जुड़ा हुआ था। यज्ञों के सार्थ संगीत का यह संबंध वेद कालीन है अर्थात् वेदों के काल से ही चला आ रहा था तथापि यहाँ यह संबंध और अधिक घनिष्ठ हो गया इतना कि 'तानों' के नाम भी यज्ञों के नाम पर दिये जाने लगे। इस प्रकार का कुछ उल्लेख मतंग मुनि ने भी 'बृहद्देशी' में किया है।

पुराणों में उल्लिखित संगीत को तीन भागों में देखा जा सकता है यथा गीत, वाद्य एवं नृत्य। सर्व प्रथम पुराणों के अन्तर्गत उल्लिखित गीत एवं तत्संबंधी विषयों को देखेंगे।

पुराणों में तीन ग्रामों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।[1] भरत ने गांधार ग्राम का उल्लेख नहीं किया है। इस आधारपर कुछ विद्वान् भरत को विष्णुधर्मोत्तर पुराण के बाद का मानते हैं किन्तु जैसा कि तिथि विषयक मतभेद है उसके आधार पर यह कुछ ठीक नहीं प्रतीत होता। यों भी भरत के उल्लेख ही अधिक प्राचीन प्रतीत होते हैं। पुराणों में अधिकांश को उसी रूप में अनुकरण कर लिया गया है। इसमें १५ गांधार ग्रामिकाओं तथा ४९ तानों का यज्ञो के नाम के साथ उल्लेख मिलता है जो कि मतंग ने भी किया है। संभवतः विष्णुधर्मोत्तर पुराण मतंग के काल के आसपास ही संकलित हुआ था। कण्ठसंगीत अथवा गीत संबंधी उल्लेखों के लिये विष्णुधर्मोत्तर, पुराण का १८ वाँ अध्याय महत्त्वपूर्ण है जो गीत-लक्षणम् के नाम से प्राप्त है।

संगीत के तीन स्थानों उर, कण्ठ एव शिर का उल्लेख प्रथम किया गया है। इसी के साथ ही मंद्र, मध्य एवं तार सप्तकों का भी स्पष्ट उल्लेख किया गया है।[2] इनकी विस्तृत व्याख्या 'भरत' संबंधी अध्याय में देखी जा सकती है।

इसके पश्चात् तीन ग्रामों का उल्लेख है। वायु पुराण में यद्यपि तीन ग्रामों[3] का उल्लेख है तथापि कहा गया है कि जब कि षड्ज एवं

१—मार्कं० २३–५६ वायु० २४–३६ विष्णु ख० अ० १८।

२—वायु० ११ २५४ विष्णु० ३ अ० १८ मार्कं० २३–५६।

३—वायु० २.२४–३६ मार्कं० २३–५६ विष्णु ३.१८

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मध्यम ग्राम पृथ्वी पर व्यवहृत होता है, गांधार ग्राम स्वर्ग के लिये सुरक्षित है। षड्ज आधार स्वर था जिसके आधार पर अन्य ६ स्वरों का उल्लेख किया गया। स्वरों में श्रुतियों के विभाजन अल्प भेद सहित होने पर भी भरत की पद्धति का ही उल्लेख है जिसके द्वारा विभिन्न श्रुतियाँ बनती है। अथवा उनका नाम स्थिर किया जाता है।

सप्तस्वरों के विषय में विष्णुधर्मोत्तर पुराण में एक मनोरंजक तथ्य प्रकाश में आता है वह यह कि निषाद को अन्तिम स्थान न देकर धैवत को दिया गया है निषाद की स्थिति उससे पूर्व ही रख दी गई है वायु पुराण में यह भेद नहीं दिखता वहाँ सप्त स्वरों का पूर्व की भाँति उल्लेख है अर्थात् निषाद ही अन्त में स्थित है।[1] २१ मूर्च्छनाओं का उल्लेख भी पुराणों की विशेषता है। यद्यपि गांधार ग्राम प्रचार में न था फिर भी परंपरा गत रूप में संख्या में उसकी संख्या को भी समाविष्ट किया जाने के कारण आज भी भरत की १४ मूर्च्छनाओं के स्थान पर २१ मूर्च्छना ही अधिक प्रचलित हुई। ध्रुपद इत्यादि में २१ मूर्च्छना का ही उल्लेख प्रसिद्ध है। मूर्च्छनाओं के नाम वायु पुराण और विष्णुधर्मोत्तर पुराण में भी कुछ भिन्न-भिन्न मिलते है।

४९ तानों का उल्लेख यज्ञनामों के साथ मिलता है। जैसे अग्निष्टोमिक, वाजपेयिक, आश्वमेधिक, पौण्डरीक इत्यादि। यहाँ भी तीनों ग्रामों की तानों का उल्लेख मिलता है। मध्यमग्रामिक २०, षड्जग्रामिक तानें १४ एवं गांधारग्रामिक तानें संख्या में १५ दी गई है। तीन ग्रामों की तानो के नामों में भी एक विशेष रोचक बात दिखाई देती है वह यह कि जहाँ प्रथम दो ग्रामों की तानों के नाम वैदिक यज्ञों के नाम पर दिये गये हैं वहाँ गांधारग्राम की तानों का नाम (Celestial musicians) एवं मुख्य देवताओं (recognised heroes) के नाम पर दिये गये हैं। लगभग सभी नाम वायु पुराण में

१—वायु ११ २४–३५–३७।

२—वही० ११ २४–३८ भार्क० २३–५६।

३—विष्णु० अं० १८ भार्क० २३–५६ वायु० अं० २४।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भी मिल जाते हैं।[1] मतंग[2] ने कुछ नवीन तानों का भी उल्लेख किया है जो उक्त पुराणों में नहीं मिलते। इस प्रकार के तानों के नाम भरत के ग्रंथ में नहीं मिलते।

तानों का समावेश मूर्च्छनाओं के अन्तर्गत होता है, जब कि मूर्च्छना के अन्तर्गत सप्त स्वर आते हैं तानों में यह बात नहीं होती। यही भेद इन दोनों में होता है।

तानों का उपयोग जाति एवं रागादि में भेदोत्पत्ति के लिये होता है। प्रत्येक ग्राम की जातियों एवं रागों में भेदोत्पत्ति करने में तानें सहायक होती है। आज जो तान का अर्थ लिया जाता है वह बहुत प्राचीन नहीं है इसी प्रकार मूर्च्छनाओं का भी वास्तविक अर्थ परवर्ती संगीत में लुप्त होता गया।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में सबसे महत्त्वपूर्ण जो उल्लेख मिलता है और जो मात्र दत्तिलं में ही अन्यत्र मिलता है अन्य कहीं नहीं वह 'अवधान' का उल्लेख है "एतच्चतुर्विधं स्वरपादलयावधानयोगात्" 'अवधान' शब्द का उल्लेख पहले भास एवं कालीदास के उल्लेखों में तथा कामसूत्र में देखा जा चुका है।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण की उपर्युक्तपंक्ति की तुलना दत्तिलं के उल्लेख से सहज ही की जा सकती है। वि० ध० की लय दत्तिलं के ताल के समकक्ष, है दत्तिलं के अनुसार गांधर्व के अन्तर्गत स्वर, ताल, एवं पद आते हैं! इससे प्रतीत होता है कि गांधर्व गीति एवं आतोद्य का सम्मिलित स्वरूप है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में भी १९ वें अध्याय में कहा गया है कि ताल गति प्रदान करता है। ताल के सभी अंगों का यथा भाग मात्रा, वस्तु, पद, परिवर्त्त, अंग लय यति पाणि प्रकरण क्रिया, वज्रा, गीति एवं मार्ग लय, सभी का उल्लेख है! लय के तीन प्रकार द्रुत मध्य, विलंबित का उल्लेख है। मध्य लय अन्य लयों की इकाई निर्धारित करता है।

वादी संवादी विवादी एवं अनुवादी स्वर अर्थात् श्रुतियों के विभिन्नान्तरों का उल्लेख भी भरत की भाँति मिलता है। अनुवादी के

१—११-२४-४१-४६।

२—वृह० पृ० २६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्थान पर अन्यवादी संज्ञा प्राप्त होती है। प्रत्येक मूर्च्छना की Cycle में भिन्न २ स्वर वादी संवादी अनुवादी विवादी बनते हैं। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में ऐसे तीन स्वरों का उल्लेख है परन्तु इसी ग्रन्थ का अन्य अंश उसके साथ ठीक नहीं बैठता अतः यह विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं। संभव है वह मात्र वाद्य संगीतके लिये कहा गया हो।

पुराणों में नव रस एवं स्वरों के साथ उसके संबंध का भी उल्लेख मिलता है। वि० पु० में इसका विशद वर्णन है। यहाँ भरत से कुछ भिन्नता भी दिखती है जैसे रिप के स्थान पर साप को रखा गया है। जिसका रस वीर, रौद्र व अद्भुत बताया है।

लयों के साथ भी रस का संबंध दिखाया गया है। मध्यम लय हास्य श्रृंगार के साथ, विलंबित बीभत्स भयानक एवं द्रुत लय वीर रौद्र व अद्भुत रस के अनुकूल है।

'चोक्षा प्रयोग' संज्ञा शुद्ध जातियों के लिये (विकृत से भिन्नता दिखाते हुए) प्रयुक्त हुई है।

जाति के दस लक्षणों का भरत की ही भाँति उल्लेख मिलता है। जाति के उल्लेख से यह निष्कर्ष निकालना भ्रामक न होगा कि संभवतः अभी भी रागों का प्रयोग बहुत प्रचलित नहीं था (जाति रागों का पूर्व रूप मानी जाती है।

गीत की सजावट के लिये प्रयुक्त होने वाले वर्ण व अलंकारों का भी पुराणों में उल्लेख आया है। विष्णुधर्मोत्तर केवल २ वर्णों का उल्लेख करता है वह भी वाद्याध्याय में। वायु पुराण में ४ वर्णों का उल्लेख है। भरत भी चार ही उल्लेख करता है।

विष्णु० पु० ४ अलंकारों का उल्लेख करता है जब कि नाट्यशास्त्र ३० का करता है ये चार इस प्रकार हैं—प्रसन्नादि, प्रसन्नाद्यन्ता, प्रसन्नान्त एवं प्रसन्न मध्या ये सभी लगभग स्थायी वर्ण के अलंकार माने गये हैं। वायु पुराण के ४ अलंकार भिन्न नामों से मिलते हैं—स्थापनि, क्रमरेजिन, प्रमाद, अप्रमाद।[1]

गीत के ७ प्रकारों के उल्लेख भी पुराणों में मिलते हैं ! ये प्रकार अत्यन्त प्राचीन थे एवं अधिकांश संगीत ग्रन्थकारों ने इसे छोड़ दिया

१—वायु० (२) २५६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है। वि० पु० इनके नाम भी देता है यथा—अपरान्तक, उल्लाप्य, उपरूपक इत्यादि। वायुपुराण में भी कुछ नाम मिलते हैं। जैसे मद्रक।[1]

विष्णु० पुराण में उक्त सप्तगीतियों के अतिरिक्त ४ अन्य प्राचीन गीत प्रकारों का भी उल्लेख मिलता है। ऋक्गाथा, पाणिका दक्ष-विहिता एवं ब्रह्मगीतिका। ऋग्गाथा व पाणिका का उल्लेख भरत ने भी किया है।[2]

विष्णु० पु० में इस बात पर विशेष जोर दिया गया है कि सप्त-गीतियो से पूर्व उक्त चार पवित्र गीतियों का गायन हो। १८ वें अध्याय के अन्त में यहीं पर यह भी कहा गया है कि संगीतकार यदि परमपद की प्राप्ति न भी करेगा तो वह विष्णु या स्वामी lord में लीन हो जायगा।[3]

मार्कण्डेय पुराण में ग्राम रागों का स्पष्ट उल्लेख संगीत के अन्य तत्त्वों के साथ मिलता है।[4] जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ग्राम रागों का प्रचलन इस काल में पर्याप्त रूप से हो चुका था। क्यों कि इसका स्फुट उल्लेख न होकर अन्य तत्त्वो के साथ मिलता है साथ ही मतंग में जैसा देखा जा चुका है इनका विभाजन भी गीतियों में किया है।

इस प्रकार उक्त उल्लेखों से यह प्रतीत होता है कि संगीत के प्रथम तत्त्व गीत के लगभग सभी पक्षों का पुराणों में उसी प्रकार उल्लेख आता है जैसा भरत ने किया है सैद्धान्तिक पक्ष की प्रबलता एवं उसका व्यवहार पुराणों को लोकप्रियता से ही स्पष्ट है संगीत अवश्य ही समाज में इतना अधिक प्रचार पा चुका था कि सभी प्रकार के ग्रन्थों में एक निश्चित स्थान उसे मिल गया। पुराण तत्कालीन समाज की परिस्थितियों का प्रमाण माने जा सकते हैं इस दृष्टि से संगीत संबंधी उल्लेख भी उसकी लोकप्रियता के कारण आ गये।

१—वही० (२ २५–३३।

२—भरत० ना० शा० ३१–३६६।

३—वि० ध० अ० १८ (३) bat

४—मां० पु० अ० २३–५६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पुराणों में संगीत का द्वितीय तत्त्व वाद्य भी उसी महत्त्व के साथ उल्लिखित है जितना कि प्रथम तत्त्व गीत वाद्यों के परंपरागत चार प्रकारों तत सुषिर, घन एवं अवनद्ध का स्पष्टोल्लेख विष्णु० पु० में देखा जा सकता है।[1] अन्य पुराणों में भी वाद्यों का उल्लेख यथा-स्थान किया गया है।[2] चार प्रकार के वाद्यों का लगभग भरतोक्त विवरण के समान ही उल्लेख किया गया है।[3]

तंत्रीवाद्यों की वादन विधि एवं उसकी धातु इत्यादि का विशद विवरण भरत ही में दिया गया है।[4]

तालों के विषय में भी यही कहना पर्याप्त होगा कि पुराणों में जो उल्लेख है वह भरत से भिन्न कुछ नहीं है।

इसी प्रकार अन्य प्रकारों एवं तत्संबंधी विवरण भरत की ही भाँति मिलता है। वाद्यो के जो नाम मिलते हैं उनमें कोई नवीनता नहीं लगभग सभी वाद्य प्रचलित थे एवं इससे पूर्व उल्लेख आ चुका है। कुतपविन्यास का उल्लेख भी पुराणों में नाट्यशास्त्र ही की भाँति किया गया है।[5]

अभिनय एवं नृत्य संबंधी उल्लेख भरत के ही अनुकरण है अतः उसकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है।

इस प्रकार उक्त पुराणों के उल्लेखों से जहाँ शास्त्रीय या सैद्धान्तिक पक्ष पर इतना अधिक प्रकाश पड़ता है वहाँ यह अनुमान भी भ्रामक न होगा कि व्यावहारिक पक्ष भी उतना ही प्रबल होगा। पूर्व ग्रन्थों का प्रभाव होने पर भी इसके उल्लेखों का अपना भी विशेष महत्त्व है जिनको अनदेखा नहीं किया जा सकता। यों तो भरत ने संगीत संबंधी कोई प्रमुख तत्त्व छोड़ा ही नहीं था तथापि इन ग्रन्थों में विशेषकर धार्मिक ग्रन्थों में भी उल्लेख आना सांस्कृतिक पक्ष की प्रबलता का प्रमाण है।

१—अध्याय १६ वि० ध०।

२—देखिये भरत का तालाध्याय।

३—वायु०—भरत०।

४—'वि० धर्मो' १८

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उपसंहार

इस प्रबंध में वैदिक काल से गुप्तकाल तक के संगीत का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक विवेचन हमने किया। इस काल के प्रमुख साहित्यिक एवं पुरातात्विक अवशेषों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि संगीत का दिन-प्रतिदिन विकास होता रहा। न केवल विकास ही वरन् उसमें समय-समय पर यथोचित परिवर्त्तन भी होते रहे। इस परिवर्त्तन को संगीत की विभिन्न धाराओं में लक्ष्य किया जा सकता है।

प्रारंभ में जब हम वैदिक साहित्य का सूक्ष्म विश्लेषण करते हैं तो एक महत्वपूर्ण तथ्य सर्वप्रथम प्रकाशित होता है कि इस समय जो संगीत समाज के प्रमुख अंग रूप में प्रचलित एवं प्रस्थापित था, वह पूर्णतया धार्मिक संगीत था जो सामसंगीत की धारा के रूप में परिलक्षित किया जा सकता है। साम गायन की धारा वैदिक काल की सर्वाधिक प्रचलित धारा प्रतीत होती है।

साम गायन भी संगीत की प्रारंभिक अवस्था का संकेत नहीं करता, इसके विपरीत उसकी विशिष्ट गायन पद्धति को देखते हुए तो यह कहना भी अतिशयोक्ति नहीं कि इतना विकसित होने के लिये कदाचित् दशकों का ही नहीं कुछ शतियों का दीर्घकाल लगा होगा, यद्यपि साहित्यिक सामग्री के अवशेष न मिलने से इसकी पुष्टि नहीं होती है। संगीत के प्रचलन का आभास हमें सिंधु सभ्यता सदृश प्राचीन सभ्यता के अवशेषों से मिलता है, जो कि वाद्यों एवं नृत्य के अवशेषों के रूप में प्राप्त है। तत्कालीन कण्ठ संगीत का ज्ञान तत्संबंधी लिपि से परिचय न होने के कारण हमें अप्राप्य है; तथापि वाद्य एवं नृत्य के साक्ष्य स्वयं ही कण्ठ संगीत की सत्ता को सिद्ध कर देते हैं। यदि उपर्युक्त साक्ष्य पर ध्यान न भी दिया जाये तो भी सामगायन की उत्पत्ति निश्चित ही वैदिक काल से पूर्व मानी जा सकती है; जो कि इस काल तक पहुँचते-पहुँचते कुछ इतनी विकसित हो गई थी कि छन्द, उच्चारादि नियमों का पालन उसका आवश्यक अंग बन चुका था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वैदिक काल में ही संगीत की एक अन्य धारा का भी अवलोकन किया जा सकता है जिसे निश्चय ही 'साम' की धारा से पृथक् रखना होगा। यद्यपि यह धारा भी धार्मिक अवसरों से पूर्णतः मुक्त न थी, वरन् एक प्रकार से उस से घनिष्ठ रूप से संबंधित ही थी, तथापि 'साम' से वह भिन्न ही थी। इस सामेतर धारा के अन्तर्गत गाथा, नाराशंसी इत्यादि को रखा जा चुका है। यज्ञादि धार्मिक अवसरों पर इनका गायन ब्राह्मण एवं क्षत्रिय किया करते थे। विवाह तथा अन्य संस्कारों के अवसर पर साम से भिन्न जो गायन होता था वह भी इसी धारा में अन्तर्हित किया जाता है। इस प्रकार वैदिक काल में ही संगीत की दो धाराएँ स्पष्ट देखी जा सकती हैं। इस काल में संगीत की कुछ एक शास्त्रीय एवं पारिभाषिक संज्ञाएँ प्राप्त होती हैं— यथा सप्तस्वर, उत्तरमद्रा, मूर्च्छना एवं त्रिस्थान, जो यह संकेत करती हैं कि संगीत में पर्याप्त विकास हो चुका था।

वैदिक काल से जब और आगे बढ़ते हैं तो संगीत की एक तृतीय धारा भी दृष्टिगोचर होती है। यह लौकिक धारा के रूप में स्पष्ट की जा सकती है। संभवतः 'गांधर्व संगीत' यही था। (इस प्रसंग में यह अवश्य स्मरणीय है कि 'गान्धर्व' को ही बाद में 'मार्ग' (निःश्रेयस-साधक) का पर्यायवाचक माना गया, जो 'देशी' से सर्वथा पृथक् था)। यह धारा जातकों के संगीत में भलीभाँति लक्ष्य की जा सकती है। सूत्र साहित्य में वैदिक दो धाराओं का प्रतिनिधित्व तथा जातक साहित्य तृतीय धारा का प्रतिनिधित्व करता है। कुछ अन्य ग्रन्थ भी इस काल में संगीत का उल्लेख करते हैं—यथा पाणिनि का अष्टाध्यायी जा व्याकरण ग्रन्थ है, तथा शिक्षा एवं प्रातिशाख्य ग्रन्थ। इनमें भी संगीत के क्रमशः वाद्योल्लेख कुछ संज्ञाएँ तथा स्वरोच्चार संबंधी उल्लेख प्राप्त होते हैं। इस सामग्री को इसी लिये स्वतंत्र रूप से उल्लिखित किया गया है।

सूत्र साहित्य के पश्चात् जब हम और आगे आते हैं तो यह देखते हैं कि साम गायन धीरे-धीरे कम हो रहा था एवं यह संगीत कुछ यज्ञ एवं संस्कारों तक सीमित हो चुका था, इसके उल्लेख भी अपेक्षाकृत अल्प-संख्यक हो जाते हैं। इसका उल्लेख यों तो रामायण, महाभारत एवं कुछ प्राचीन स्मृतियों में मिलता है, परन्तु ऐसा प्रतीत

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होता है कि प्रचार में अब उसका उपयोग कम हो गया था। यह अब समाज में वर्गविशेष एवं संस्कार विशेष में सीमित होता जा रहा था। इसके विपरीत लौकिक धारा इतनी प्रबल हो रही थी कि लगभग सभी उपलब्ध सामग्रियों में इस धारा का साक्ष्य प्राप्त किया जा सकता था। यह धारा क्रमशः विकास की ओर अग्रसर हो रही थी। समाज के सभी वर्गों में इसका प्रचार देखा जा चुका है। इस काल में संगीत का विभिन्न उपयोग भी देखा जा सकता है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में संगीत का राजनैतिक उपयोग भी बताया है। इस काल के बौद्ध एवं जैन उल्लेख भी संगीत पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। संगीत यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते और भी विकसित हो गया था, क्योंकि संगीत की कुछ पारिभाषिक संज्ञाएँ यहाँ भी मिलती हैं। जिनका समीकरण नाट्यशास्त्र की संगीत संबंधी संज्ञाओं से किया जाता है।

इसके पश्चात् ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों तक पहुँचते-पहुँचते संगीत का चरमोत्कर्ष स्पष्टरूप से नाट्यशास्त्र के रूप में हमारे सम्मुख आता है। गांधर्व संगीत कितना विकास कर चुका था, यह कहने की आवश्यकता नहीं। एक बात ध्यान देने योग्य यह परिलक्षित होती है कि भरत काल में 'गांधर्व' संज्ञा परंपरागत रूप से गांधर्व उपवेद के साथ अभिन्न रूप से जुड़ी हुई थी, जिसका भरत भी उल्लेख करते हैं। द्वितीय बात यह भी है कि नाट्य को पंचम वेद माना है। संगीत के उसके अंग रूप में लेकर भरत ने उसे भी वेदों से संबंधित बना दिया। लौकिक विद्या को भी विशुद्ध धार्मिक स्वरूप प्रदान करना भारतीय संस्कृति की निजी विशेषता है। इसी के परिणाम स्वरूप सभी अचल (दृश्य) कलाओ को स्थापत्य उपभेद में, चिकित्सा को आयुर्वेद में, युद्ध विद्या को धनुर्वेद में एवं संगीत विद्या को गांधर्व उपवेद में स्थान प्राप्त हुआ। मनुष्य की सभी संभव लौकिक प्रवृत्तियों को उपवेद की परिधि में लाकर भारतीय जीवन दर्शन ने अपनी व्यापक एवं विशाल दृष्टि से जींवन के प्रत्येक क्षेत्र में धार्मिक प्रयोजन को ओत-प्रोत कर दिया था। जो भी हो, इसकाल में संगीत का शास्त्रीय, सैद्धान्तिक विवरण प्रदान करने का सर्वप्रमुख स्रोत नाट्य-शास्त्र है। नाट्य वेद के साथ यह 'गांधर्व' का भी प्रतिनिधित्व करता

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है। इनमें उल्लिखित सिद्धान्तों का व्यावहारिक प्रयोग इस काल की अन्य सामग्रियों में देखा जा सकता है।

इसके पश्चात् गुप्त काल आते-आते संगीतका इतना विकास हो जाता है कि इसके पश्चात् संगीत का कोई पहलू ऐसा नहीं है, जिसके लिये हमें आगे देखना पड़े। इसकाल में मतंग का ग्रन्थ महत्वपूर्ण है। मतंग के काल में संगीत का विपुल विस्तार हो गया था। देशी संज्ञा भी इसी काल में प्राप्त होती है। मतंग ने भरतोल्लिखित संगीत को 'मार्ग' के अन्तर्गत रखकर अन्य को 'देशी' कहा, परन्तु ऐसा विभाजन मतंग से पूर्व नहीं मिलता। संगीत के शास्त्रीय पक्ष में भरत के बाद राग तथा प्रबंध को छोड़कर कोई विशेष परिवर्तन या विकास नहीं हुआ। मात्र संख्या की दृष्टि से भेद-प्रभेदों का विकास ही हुआ। मूलभूत तत्वों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। भरत का 'जाति' गायन ही राग रूप में विकसित हुआ, ग्रामरागों की नियत संख्या, के विपरीत देशी रागों की अनियमित एवं विपुल संख्या देशी ताल, वाद्यों के चतुर्विध विभाग के अन्तर्गत अधिक संख्या के वाद्यों का वर्णन, इत्यादि विषय ऐसे हैं जो भरत के बाद विकसित हुए। स्वर प्रकरण लगभग वही रहा जो भरत ने बताया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संगीत की लौकिक धारा या 'देशी' संगीत किस प्रकार समय-समय पर विकसित होता रहा।

ऊपर हमने संगीत की विभिन्न धाराओं को देखा। अब उनकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का भी विश्लेषण करने का प्रयत्न करेंगे। संगीत की प्रत्येक धारा की निजी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि थी, जिसमें उसकी उत्पत्ति, विकास एवं प्रचार होता रहा।

साम गायन एवं गाथा, नाराशंसी आदि गायन की धारा पूर्णतः धार्मिक पृष्ठभूमि में प्रवाहित हुई। इनका संबंध यज्ञ, स्तुति, प्रशस्ति आदि के प्रसंगो से था।

धार्मिक तथा लौकिक धारा के मिश्र रूप अथवा गांधर्व संगीत की धारा का सांस्कृतिक प्रसंग स्पष्ट ही था। यह धारा विशेषत: नाट्य से संबद्ध थी। नाट्य को लोकशिक्षण का प्रमुख साधन माना गया था। लौकिक धारा राजाओं से उनके प्रत्येक संस्कार से यथा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अभिषेक, युद्ध-प्रयाण, अन्तःपुर आदि से संबंधित होने के साथही मनोरंजन तथा शिक्षा का भी एक अंग थी। राजकुमारो को अन्य विषयों के साथ-साथ संगीत शिक्षा भी प्रदान की जाती थी। संगीत की यह धारा राजकीय वातावरण में पनप रही थी।

लोकप्रिय काव्य रामायण, महाभारत के उल्लेखों से ऐसा मालूम होता है कि संगीत को पर्याप्त सम्मान प्रदान किया गया था, किन्तु मात्र इनके आधार पर कोई निष्कर्ष निकालना भ्रामक होगा। इसके लिये समकालीन सामग्रियों पर भी दृष्टिपात करना होगा। यह देखा ही जा चुका है कि स्मृतियों में मनुस्मृति द्वारा जो सम्मान साम संगीत को दिया गया, इस संगीत को नहीं। यह साहित्य कट्टर ब्राह्मण वर्ग का नेतृत्व करता है। इसके अतिरिक्त कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में संगीत की राजनैतिक उपयोगिता दिखाने में उसे गणिकाओं से संबंधित कर दिया-काम सूत्र भी वेश्या वर्ग से संबंध बताता है—ऐसा प्रतिध्वनित होता है कि ब्राह्मण एवं क्षत्रिय जो समाज के उच्च अभिजन वर्ग थे, उनमें संगीत एवं संगीतकारों को बहुत उच्च दृष्टि से नहीं देखा गया था। स्पष्ट ही जो सम्मान एवं लोकप्रियता संगीत को सामान्य जनता में मिली वह उक्त उच्च वर्गों में नहीं। इसके विरुद्ध याज्ञवल्क्य ने "वीणा-वादन" तथा' शुद्ध गीतक गायन' को 'मोक्ष' का उपाय स्वरूप बताया है। ब्राह्मण वर्ग में संगीत की उच्च प्रतिष्ठा का यह जाज्वल्यमान प्रमाण है। आगे चलकर भरत एवं मतंग तथा गुप्तकालीन उल्लेखों में यह बात पुनः लक्षित होती है कि संगीत सभी वर्गों में सम्माननीय बन गया था। कालिदास के नाटकों में संगीत शिक्षा को उच्च वर्ग की कुमारियों तक में देखा जा सकता है। इतना ही नहीं खुली प्रतियोगिताओं में भी लड़कियों का भाग लेना बुरा नहीं समझा गया। वात्स्यायन ने भी कन्या की ६४ कलाओं में एक स्थान संगीत को देकर प्रतिष्ठित किया। यह बात अवश्य है कि जीविका का साधन संगीत बन जाने से एवं उसके अभद्र प्रकाशन से उसे हेय समझा गया, अन्यथा किसी दृष्टि से इसे हेय नहीं समझा गया यदि उचित शिक्षा एवं भद्रता से इस का प्रदर्शन किया जाये। तमिल ग्रन्थों में यह बात दिखाई देती है कि संगीत कुशला पेशेवर गणिकाएँ (जिनका पेशा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ही संगीत था) सम्माननीय मानी जाती थीं, क्योंकि शास्त्रीय विधि-पूर्वक वे शिक्षित थीं।

संगीत के प्रति बौद्ध एवं जैन दृष्टिकोण भी विशेष महत्व रखता है। इन्होंने संगीत को मनोरंजन का साधन मानकर धर्म विरोधी माना, किन्तु निषेध शिक्षण काल ही तक था। ऐसा कहा गया था कि बौद्ध जैन भिक्षुओं को संगीत को वर्ज्य समझना चाहिये। निर्वाण-प्राप्ति के पश्चात् स्वयं ही ये आनंद की वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं। भले ही तपकाल में निषेध किया, किन्तु सामान्य जीवन में कहीं भी निषेध नहीं मिलता। वरन् जनजीवन में तो अभिन्न रूप से घुलमिल चुका था। राजाओं के जीवन का संगीत प्रधान अंग था। कुमारों की शिक्षा का एक विषय भी था। पूजा की सामग्रियों के अन्तर्गत नृत्यगीत वाद्य अभिप्रेत था, जिसका उल्लेख बुद्ध के निर्वाण संबंधी उल्लेखों में देखा जा चुका है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समाज में संगीत प्रारंभ से ही आदृत एवं प्रचलित था। प्रारम्भ में धार्मिक कृत्यों में संगीत का उपयोग तथा आगे चलकर सामाजिक उत्सवों, मंदिरों में पूजा के अवसरों पर, दैनिक जीवन में विभिन्न समयों तथा शिक्षा के लिये इसका उपयोग ऊपर विवेचित है। उक्त तथ्य संगीत के क्रमशः विपुल विस्तार का ही संकेत करते हैं संगीत का सभी वर्ग उपयोग करते थे। इसे व्यव-साय का साधन भी बनाया जाता था। संगीत के विपुल प्रचार एवं मनोरंजन का प्रमुख साधन होने के कारण इसकी शिक्षा का विधान भी था। संभवतः इसी लिये संगीतशास्त्र को उपवेद का अभिधान प्राप्त हुआ।

इस प्रकार इस प्रबंध में हमने संगीत को धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं शास्त्रीय तथा ऐतिहासिक-विभिन्न पहलुओं में देखने का प्रयास किया एवं यह पाया कि संगीत का विभिन्न दृष्टिकोणों से महत्वपूर्ण स्थान था। अन्य विद्याओं की भाँति संगीतका भी काल-क्रमानुसार दिनोदिन विकास होता रहा। समयानुकूल परिवर्तन भी आते रहे जैसे सामगायन धीरे धीरे सामाजिक प्रवृत्तियों के बदलने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से लुप्त: प्राय: होने लगा था। देशी संगीत का प्रचार (कालक्रम) से प्रबल होता गया एवं भरत के भी कुछ विवरणों को 'मार्ग' कह कर छोड़ दिया और उसी का देशी विकसित रूप प्रचलित हो गया। गुप्तकाल में यों भी देशीतत्वों का सभी पक्षों, क्षेत्रों में प्राबल्य था। स्वाभाविक ही था कि संगीत भी उससे अछूता नहीं रहा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

फलक—१

चित्र संख्या—१	विपंची वीणा,		कलकत्ता संग्रहालय ।
,,	२	कात्यायन वीणा,	,,
,,	३	शृंग अथवा सिंग,	,,
,,	४	डमरू,	,,
,,	५	पुष्कर, लंबे आकार वाला	,,
,,	६	नगाड़ा अथवा भेरी	,,
,,	७	नगाड़ा अथवा भेरी	,,
,,	८	लकड़ी के स्टैण्ड पर रखा मुरज अथवा पणव,	,,
,,	९	मर्दल	,,
,,	१०	चौड़ी आकृति वाला पुष्कर	,,
,,	११	करताल,	,,

फलक—२

चित्र संख्या—१ मल्लों द्वारा बुद्ध की अस्थियों की पूजा का दृश्यांकन है। यह सांची के उत्तरी तोरण द्वार के स्तंभ पर अंकित है। दायीं तरफ जानवर की मुखाकृति से युक्त गोमुख सदृश वाद्य वादक है, तथा दो मुखों वाली वेणु का एक वादक है, इसके पश्चात् मध्य में विभिन्न आकृतियों वाले पुष्करों के वादक खड़े हैं। बायीं तरफ धनुषाकृति वीणा के वादक हैं। (सांची, मार्शल, फलक–३६)।

चित्र संख्या—२ अप्सराओं के संगीत रूपक जिसमें गीत, वाद्य एवं नृत्य तीनों से संबंधित अंकन है। इसमें चार अप्सराएँ नृत्य कर रही हैं तथा एक छोटा बच्चा भी साथ में नृत्य कर रहा है। दायीं तरफ वाद्य-वादिकाएँ वाद्य वादन कर रही हैं। एक मजीरा बजा रही है, दो धनुषाकृति वीणाएँ बजा रही है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ये कोण द्वारा वादन कर रही है। एक ढोलक के समान पुष्कर गोद में रखकर बजा रही है। एक अप्सरा संभवतः हाथ से लय अथवा ताल भी दे रही है। इनमें से एक का मुख नहीं दिखता वह संभवतः गायन कर रही है। उसकी आकृति का पिछला भाग ही द्रष्टव्य है। यह दृश्य बुद्ध को आकर्षित करने के लिये मार द्वारा अप्सराओं के संगीत कराने का है।

(भरहुत, बरुआ (भागतृतीय,) फलक ३९)।

चित्र संख्या—३ बौद्ध साहित्य में उल्लिखित वीणा यह सर्वोत्कृष्ट दृष्टान्त है। यक्षिणी धनुषाकृति वीणा पकड़े खड़ी है। इसमें वादन के लिये कोण का प्रयोग नहीं किया गया है। (भरहुत, भाग-तृतीय, चित्र संख्या ८१)

फलक—३

चित्र संख्या—१ हाथी के साथ बन्दरों की सेना जो गाते बजाते अंकित की गई हैं, उनमें सबसे आगे वाला बन्दर डमरू की आकृति का छोटा ढोल पकड़े वादन दण्ड से बजाते चल रहा है। हाथी के ऊपर भी कुछ बन्दर हाथ से ताल देते अंकित किये गये हैं। नीचे सामने की ओर पटह सदृश वाद्य भी लिये एक बन्दर चल रहा है।

(भरहुत, भाग तृतीय, चित्र संख्या १४८ ए)

चित्र संख्या—२ इस दृश्य में बन्दरों ने एक राक्षस के नाक में रस्सा डाला है तथा उनकी सेना के सामने लंबी धातु की वीणा बजाते हुए एक बन्दर चल रहा है। ऊपर की ओर पटह एवं पुष्कर वादक चल रहे हैं।

(भरहुत, तृतीय भाग, चित्र संख्या १४८ सी)

चित्र संख्या—३ किन्नर युगल नृत्य की मुद्रा में खड़े हैं।

(भरहुत, तृतीय भाग, चित्र संख्या २३)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चित्र संख्या—४ इस दृश्य में बैजयन्त के महल का तथा तैतीस देवताओं के सुधर्मा हाल (कमरे) का अंकन है। इसमें चूड़ामह संस्कार का दृश्य प्रस्तुत किया गया है जिसमें अप्सराएँ नृत्य कर रही हैं तथा कुछ अप्सराएँ गायन एवं विभिन्न वाद्यों का वादन कर रही हैं। तीन अप्सराओं के बायें हाथ कान के समीप एवं दाहिने कमर से नीचे हैं। एक के उठे हाथ गायन का संकेत करते हैं। वादिकाओं में धनुषाकृति वीणा बजाने वाली, ऊर्ध्वक मृदंग बजाने वाली तथा मजीरा बजाने वाली स्त्रियों का स्पष्ट अंकन है।

(भरहुत, तृतीय भाग, चित्र संख्या ३९)

फलक—४

चित्र संख्या—१ आलिंग्य तथा ऊर्ध्वक मृदंग वादिका का अंकन है।

(अमरावती, शिव राममूर्त्ति, फलक १३ चित्र सं० ६)

चित्र संख्या—२ दण्ड द्वारा पटह का वादन करते हुए पुरुष का अंकन है।

(वही० चित्र संख्या ४)

चित्र संख्या—३ मर्दल नामक छोटी आकृति का ढोल या आनद्ध वाद्य जिसका वादन दण्ड द्वारा किया जाने का संकेत मिलता है।

(वहीं० चित्र संख्या २)

चित्र संख्या—४ अंक्य नामक गोद में रखकर वादन किये जाने वाले अत्यंत छोटी आकृति के मृदंग को बजाती हुई स्त्री का अंकन।

(वही० चित्र संख्या १० तथा १२)

चित्र संख्या—५ उर्ध्वक एवं आलिंग्य मृदंग वादिकाओं का अंकन।

(वही० चित्र संख्या ८ तथा ९)

चित्र संख्या—६ नृत्यांगना का अतिक्रान्त करण में स्थानक मुद्रा में अंकन है।

(वही० चित्र संख्या १५)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चित्र संख्या—७ नृत्य का दृश्यांकन। बीच में खड़ी नर्त्तकी नृत्य की प्रारंभिक मुद्रा वैशाख रेचित में खड़ी है। मध्य की झुकी हुई नर्त्तकी युद्ध संबंधी क्रियाओं के संकेतक आलिध स्थान में खड़ी है। बायीं ओर खड़ी नर्त्तकी यौवनोत्तेजना के संकेतक अर्ध मत्तलि मुद्रा में खड़ी है। दायी ओर वाली नर्त्तकी भी इसी के समान मुद्रा में खड़ी है।

(वही० चित्र संख्या १६)

चित्र संख्या—८ यह दृश्यांकन सांची के उत्तरी तोरण के पीछे मध्य भाग का है। राक्षस मार की पराजय से अनभिज्ञ वादन करते अंकित किये गये हैं। एक राक्षस धनुषाकृति वीणाका हाथों से वादन कर रहा है। दूसरा ऊर्ध्वक मृदंग बजा रहा है तथा तीसरा संभवतः घनवाद्य वादन अथवा हाथों से ताल दे रहा है। चौथा नृत्य अथवा गायन के लिये तत्पर प्रतीत होता है क्योंकि इसका हाथ ऊपर की तरफ उठा हुआ है।

(साँची, मार्शल (द्वितीय भाग), फलक—२६)

चित्र संख्या—६ यह दृश्यांकन साँची के पश्चिमी तोरण के पीछे के मध्य भाग पर का है। इसमें मार की हार के बाद देवताओं की प्रसन्नता का पारंपरिक अंकन है। आगे-आगे तीन पुष्कर वादक हैं जो छोटी एवं ढोलकाकृति के पुष्करों को गले लटकाए हाथ से वादन कर रहे हैं। साथ में पीछे एक पटह वादक देवता भी हैं जो मुड़ी हुई लकड़ी से उसका वादन कर रहा है।

(वही० फलक ६१)

चित्र संख्या—१० साँची के पूर्वी तोरण के सामने के मध्य भाग पर अंकित इस दृश्य में बोधिवृक्ष की पूजा को दिखाया गया है। आगे-आगे छोटी बड़ी आकृतियों वाले

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पुष्करों के वादक चल रहे हैं, उनके साथ एक पटह वादक तथा दो बेणु वादक तथा तीन शंख के वादक चल रहे हैं।
(वही० फलक ४०)

फलक—५

चित्र संख्या—१ सरोद अथवा गिटार के आकृति की वीणा। हाथ से बजाई जाने का संकेत मिलता है। खूँटियों को देखते हुये यह पाँच तारों वाली प्रतीत होती है। (अमरावती, शिवराममूर्त्ति, फलक–१३ चित्र सं० १४)

चित्र संख्या—२ शंख वादक। (वही० फलक–१३ चित्र सं० १)

चित्र संख्या—३ विशालकाय पटह जिसे दो व्यक्ति लकड़ी के सहारे कंधे पर लटकाये हैं। दोनों के हाथों में वादन दण्ड है। (वही० चित्र सं० १३)

चित्र संख्या—४ धनुषाकृति वीणा जो कोण द्वारा बजाई जाती अंकित की गई है। (वही० चित्र सं० ७)

चित्र संख्या—५ अंक्य मृदंग वादिका (यह डमरू की आकृति का है) (वही चित्र संख्या १०)

चित्र संख्या—६ बेणु वादिका (वही० चित्र संख्या ६)

चित्र संख्या—७ धनुषाकृति वीणा का हाथ से वादन करती पुरुषाकृति। (वही० चित्र संख्या ३)

चित्र संख्या—८ धातु की बनी लंबी वेणु जिसका सिरा शंखाकृति का है। इसका वादन स्त्री कर रही है।
(वही० चित्र संख्या ५)

चित्र संख्या—९ गिटार अथवा सरोदाकृति की वीणा जिसका वादन हाथ से करता हुआ पुरुष अंकित किया गया है। (वही० चित्र संख्या ११)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

फलक—६

चित्र संख्या—१ सरोदाकृति की संभवतः पंचतंत्री वीणा (नागार्जुनी कोण्डा)

चित्र संख्या—२ सरोदाकृति की वीणा जिसमें खूँटियों का अभाव है। (गांधार)

चित्र संख्या—३ कोण द्वारा बजाई जाने वाली सरोदाकृति वीणा। (गांधार)

चित्र संख्या—४ समुद्रगुप्त की मुद्राओं में अंकित वीणा।

चित्र संख्या—५ सरोदाकृति वीणा। (गांधार)

चित्र संख्या—६ धनुषाकृति वीणा। (भरहुत)

चित्र संख्या—७ स्त्रियों द्वारा सरोदाकृति वीणा का वादन। (नागार्जुनी कोण्डा)

चित्र संख्या—८ एकतंत्री वीणा (अजंता)

चित्र संख्या—९ सरोदाकृति वीणा (नागार्जुनी कोण्डा) (स्वामी प्रज्ञानानन्द की पुस्तक के फलक ७, ८, १०, ११, १३ तथा १५)

फलक—७

चित्र संख्या—१ धनुषाकृति वीणा। (अमरावती)

चित्र संख्या—२ कोण द्वारा वादन की जाने वाली धनुषाकृति वीणा। (भरहुत)

चित्र संख्या—३ सरोदाकृति वीणा जो महल के कक्ष में लटकी हुई है। (अजन्ता)

फलक—८

चित्र संख्या—१ गले में डमरू की आकृति का पुष्कर बाँधे हाथ से बजाते हुए पुरुषाकृति। (भूमरामंदिर)

चित्र संख्या—२ मजीरे का वादन करती हुई पुरुषाकृति (वही०)

चित्र संख्या—३ पतली जवाकृति का पुष्कर गले में लटकाकर वादन करती हुई पुरुषाकृति। (वही०)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चित्र संख्या—४ वेणु वादक। (वही०)

चित्र संख्या—५ नृत्य करती पुरुषाकृति। संभवतः ललितम् मुद्रा में। (वही०)

चित्र संख्या—६ श्रृंग वादक। (वही०)

चित्र संख्या—७ नृत्य करती हुई पुरुषाकृति। ललितम् मुद्रा से मिलती मुद्रा में। (वही०)

चित्र संख्या—८ वही०। पैरों की स्थिति कुछ भिन्न है। (वही०)

चित्र संख्या—९ वही०। किन्तु पैरों की मुद्रा उक्त प्रकारों से भिन्न है। (वही०) उक्त चित्र मेमोर्यस ऑफ दि आर्कलाजिकल सर्वे आफ इन्डिया, संख्या १६, १९२४, फलक ९–१० की प्रथम, द्वितीय, तृतीय पंक्तियों से उद्धृत किये गये हैं।)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सहायक ग्रन्थों की सूची

१—ऋग्वेद संहिता (१० मण्डलों में), सायणाचार्य के भाष्यसहित।

२—अथर्ववेद संहिता भाग १–२ अनु० विलियम डी० विटने, मोतीलाल बनारसीदास, १९६२।

३—अथर्ववेद संहिता भाग १–२ अनु. ग्रिफिथ बनारस, १९१६।

४—अथर्ववेद संहिता, विथ दि कमेन्टरी आफ सायणाचार्य संपा० शंकर पाण्डुरंग पण्डित गवर्नमेन्ट सेन्ट्रल बुक डिपो, १८९८।

५—वाजसनेयी संहिता।

६—काठक संहिता, एल० वी० श्रेडर, लीपजिंग, १९२२।

७—तैत्तिरीय संहिता, सायण भाष्य।

८—जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण, पं० रामदेव दयानन्द महाविद्यालय संस्कृत ग्रंथमाला, लाहौर, १९२१।

९—तैत्तिरीय ब्राह्मण, सायण भाष्य।

१०—कौषीतकि ब्राह्मण अनु० ए० बी० कीथ, हारवर्ड यूनिवर्सीटी प्रेस, १९२०।

११—जैमिनीय ब्राह्मण, प्रो० रघुवीर, लाहौर, १९३७।

१२—जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण, १९२१।

१३—गोपथ ब्राह्मण, संपा० हेरासगे वेन, १९१९।

१४—तैत्तिरीय ब्राह्मण, सायण भाष्य।

१५—ताण्ड्य महाब्राह्मण संपा० प्रो० कैलेण्ड।

१६—दि ब्राह्मणाज आफ दि ट्वेन्टी फाइव चेप्टर्स (पं० वि० ब्रा०) अनु०–डब्ल्यू कैलेण्ड।

१७—शतपथ ब्राह्मण भाष्यकार-सायणाचार्य, बम्बई, १९४०।

१८—सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट सिरीज, शतपथ ब्राह्मण, संपा० मैक्समूलर, अनु० जे एगेलिंग।

१९—तैत्तिरीय आरण्यक, सायणभाष्य समेत। आनंदाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली ३६ १८१९–१८९८।

२०—शांखायन आरण्यक, आनंदाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, १९२२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

२१—ऐतरेय आरण्यक, ए० बी० कीथ, आक्सफोर्ड, १९०९।
२२—कौषीतकि उपनिषद्, जयपुर।
२३—तैत्तिरीय उपनिषद् आनंदगिरि टीका, आनंदाश्रम, पूना।
२४—छान्दोग्य उपनिषद्, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थांक १४, आनंदगिरि टीका, १९०२।
२५—बृहदारण्यक उपनिषद, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रंथावली ग्रंथांक—१५ आनंदगिरिकृत टीका संकलित शांकरभाष्यसमेता आनंदाश्रम मुद्रणालय, १८९१–१९३९।
२६—कोष ग्रंथ वैदिक इन्डेक्स आफ नेम्स एण्ड सब्जेक्ट्स, दो भागो में।
२७—वैदिक पदानुक्रम कोष, वी० वी० आर० आई०।
२८—उपनिषद्वाक्यकोष: जैकोबी भारतीयादिशासनसंरक्षकता में प्रकाशित, मोतीलाल बनारसी दास।
२९—बौधायन धर्मसूत्र श्री गोविन्दस्वामी प्रणीत विवरण समेत चोखम्भा संस्कृत सिरीज-आफिस, बनारस, १९११।
३०—वसिष्ठधर्म सूत्र गवर्नमेंट सेन्ट्रल प्रेस बम्बई, १९१६।
३१—दि सेक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट संपा० मैक्स मुलर भाग १४ आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस लन्दन, १८८२।
३२—दि सेक्रेड लाज आफ दि आर्यन्ड भाग २ वसिष्ट बौधायन धर्म सूत्र।
३२— शांखायन गृह्य सूत्र, एस० सहगल, दिल्ली, १९६०।
३३—शांखायन गृह्य सूत्र, श्री नारायण प्रणीत भाष्य, राजकोट १९८८।
३४—कौषीतकि गृह्य सूत्र, मद्रास यूनिवर्सीटी संस्कृत सिरिज सं० १५ संपा० टी० चिन्तामणि, मद्रास, १९४४।
३५—आपस्तंब गृह्य सूत्र, संपा० महादेव शास्त्री, गवर्नमेण्ट ओरयण्टल लाइब्रेरी सिरीज मैसूर, १८९३।
३६—काठक गृह्य सूत्र, संपा० प्रो० कैलेण्ड, लाहौर, १९२५।
३७—वाराह गृह्य सूत्र, ठाकुर उदय नारायण सिंह, मुजफ्फरपुर, १९३४।
३८—पारस्कर गृह्य सूत्र, चौ० सं० सि० बनारस, १९६५।
३९—पारस्कर गृह्य सूत्र, जयकृष्ण दास गुप्त-प्रकाशन, १९२०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

४०—गोभिल गृह्य सूत्र, कलेक्शन आफ ओरियन्टल वर्क, प्रकाशित-एशियेटिक सोसायटी आफ बंगाल, संपा० डब्ल्यू० जोन्स, कलकत्ता, १६०७।

४१—हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला ११८ गोभिल गृह्य सूत्र, चौ० सं० सि० संपा० बख्सी मुकुन्द झा बनारस, १६३६।

४२—मानव गृहसूत्र, गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीज ३५ संपा० विनयतोष भट्टाचार्य, बड़ौदा, १६२६।

४३—गोभिल गृह्य सूत्र, कलेकशन आफ ओरियन्टल वर्क्स एसियाटिक सोसायटी, बंगाल चन्द्रकान्त काव्यालंकार भाष्य सहित, कलकत्ता डब्ल्यू० जोन्स, १६०७।

४४—सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट रूल्स आफ वैदिक डोमेस्टिक सेरिमनिज अनु० एच० ओल्डेन वर्ग भाग–१, आक्सफोर्ड क्लेरेण्डन प्रेस, १८८६ शांखायन गृह्य सूत्र, आश्वलायन गृह्य सूत्र, पारस्कर गृह्य सूत्र, खादिर गृह्य सूत्र।

४५—कलकत्ता संस्कृत सिरीज २८, गृह्य सूत्र आफ गोभिल इन इंगलिश, कलकत्ता, १६४१।

४६—हिरण्य केशि सूत्र, आनंदाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली ग्रन्थांक ५३ महादेव शास्त्री संकलित चंद्रिका व्याख्या, १८५०।

४७—कात्यायन श्रौत सूत्र, अच्युत ग्रन्थमाला, विद्याधर शर्मा काशी, १६८७।

४८—वैखानस श्रौत सूत्र, संपा०। डब्ल्यू० कैलेण्ड रा० ए० सौ० बंगाल कलकत्ता, १६४१।

४६—वाराह श्रौत सूत्र, संपा० कैलेण्ड तथा प्रो० रघुवीर लाहौर, १६३३।

५०—शांखायन श्रौत सूत्र, वरदत्त सूत आनर्त्तीय एवं गोविन्दकृत टीका। एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल, कलकत्ता, १८६६।

५१—आपस्तंब श्रौत सूत्र संपा० रिचर्डगार्वे भाग ३ प्रश्न १६–२४ एशियेटिक सोसायटी कलकत्ता, १६०२।

५२ –लाट्यायन श्रौत सूत्र, एशियेटिक सोसायटी टीका–अग्निस्वामीकृत कलकत्ता, १८७२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

५३—बौधायन श्रौत सूत्र, संपा० डब्ल्यू० कैलेण्ड कलकत्ता एशियेटिक सोसायटी, १९०९ ।
५४—जातक मूल (६ भागों में) संपा० फाउज बाल ।
५५—जातक (६ भागों में) अनु० कावेल पा० टे० सो० लन्दन, १९०७ ।
५६—जातक (६ भागों में) भदन्तआनंद कौसल्यायन इलाहाबाद ला जर्नल प्रेस ।
५७—अष्टाध्यायी सूत्र पाठ वार्तिक गणपाठ सहित, शंकरदेव पाठक—संपादक वृन्दावनस्थ गुरुकुल विश्वविद्यालयस्य श्रीधर गुरुकुल ग्रन्थमाला प्रकाशित, १९९६ ।
५८—अष्टाध्यायी विथ वार्तिकाज एण्ड गणाज, संपा० चन्द्रशेखर शास्त्रिगल, मद्रास, १९१७ ।
५९—पाणिनी की अष्टाध्यायी (८ भागों में) अंग्रेजी अनुवाद सहित श्रीशचन्द्र वसु, इन्डियन प्रेस, इलाहाबाद, १८९१ ।
६०—पाणिनीय व्याकरण सूत्रवृत्तिः काशिका (दो भागों में) ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, चौखम्भा संस्कृत पुस्तकालय, बनारस, १९५२ तृतीय संस्करण ।
६१—पाणिनीयशिक्षा, मनमोहन घोष, कलकत्ता, १९३८ ।
६२—याज्ञवल्क्यशिक्षा, ज्वाला प्रसाद मिश्र विरचित भाष्य श्री वेंकटेश्वर मुद्रणालय, १९५६ ।
६३—याज्ञवल्क्यशिक्षा टीका पं० विश्वनाथ शर्मा, गढ़वाली प्रेस, देहरादून ।
६४—ऋग्वेदप्रातिशाख्य (दो भागों में) उव्वटकृत भाष्य मंगलदेव शास्त्री, इन्डियन प्रेस, इलाहाबाद, १९३१ ।
६५—तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, त्रिभाष्यरत्न नाम टीका सहित संपा० राजेन्द्रलाल मित्रा, एशियेटिक सोसायटी ।
६६—शुक्लयजु० प्रातिशाख्य, उव्वटकृत भाष्य ।
६७—तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, माहिषेय भाष्य, संपा० वेंकटराम शर्मा मद्रास, १९३० ।
६८—कौटिलीयअर्थशास्त्रं (मूल) संपा० शामाशास्त्री गवर्नमेन्ट ओरियन्टल लाइब्रेरी सिरीज, मैसूर, १९०९ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

६९—कौटिल्याज अर्थशास्त्र अनु० शामाशास्त्री द्वितीय संस्करण मैसूर, १९२३।

७०—मनुस्मृति मणिप्रभा हिन्दी टीकोपेता हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला २२६ चौखम्भा संस्कृत सिरीज, १९५३।

७१—महाभारत, संपा० बेलवालकर, भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पूना।

७२—महाभारत भाषाभाष्य समेत, श्री दामोदर सातवलेकर स्वाध्याय मण्डल, सतारा।

७३—महाभारत, गीताप्रेस, गोरखपुर।

७४—रामायण (वाल्मीकि) द्वितीय संस्करण निर्णयसागरयंत्रालय बम्बई।

७५—वाल्मीकि रामायण, गीता प्रेस, गोरखपुर।

७६—वाल्मीकि रामायण भाग १ तथा २ ओरियन्टल इन्सिटट्यूट बड़ौदा संपादक–पी० एल० वैद्य। १९६०–१९६२।

७७—वाल्मीकि रामायण—संपा० काशीनाथ पाण्डुरंग निर्णयसागर प्रेस बंबई, १९०२।

७८—दि डिपार्टमेण्ट आफ पब्लिक इन्स्ट्रक्शन व्याकरण महाभाष्य पतंजलि संपा० कीलहार्थ द्वितीय संस्करण भाग १ २ ३ गवर्नमेन्ट सेन्ट्रल बुकडिपो बम्बई, १९०६।

७९—महावस्तु अवदान (मूल) ३ भागों में सेनार्ट ऐशियेटिक सोसायटी, पेरिस।

८०—महावस्तु (तीन भागों में) सेक्रेड बुक्स आफ दि बुद्धिस्ट भाग १६ अनु० जे० जे० जोन्स, लंदन, १९४९।

८१—दीघ निकाय संपा० जे० ई० कार्पेन्टर लन्दन, १९११ आक्सफोर्ड यूनिवर्सीटी प्रेस, १९४७।

८२—दि डायलाग्स आफ दि बुद्ध अनु० एवं मूल–टी० डब्ल्यू० रिजडेविड भाग—३ खण्ड ४ सेक्रेड बुक्स आफ दि बुद्धिस्ट लंदन–१९२१।

८३—दीघ निकाय (मूल) भाग–१ संपा० रिजडेविड पा० टे० सोसायटी, १९४९।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

८४—डायलाग्स आफ दि बुद्ध (दीघनिकाय) भाग १ अनु० टी० डब्ल्यू० रिजडेविड, सेक्रेड बुक्स आफ दि बुद्धिस्ट भाग–२ आक्सफोर्ड यूनिवर्सीटी प्रेस, १९८९।

८५—आई–७ खुद्दक पाठ जर्नल आफ दि एशियेटिक सोसायटी मूल एवं अनुवाद आर० सी० चाइल्डर्स फरवरी १५, १८६९।

८६—माइनर रीडिंग्स एण्ड इलस्ट्रेटर (खुद्दक पाठ) अनु० ज्ञानमोहि पा० टे० सो० लंदन, १९६०।

८७—खुद्दकपाठ (मूल) संपा० हेल्मर स्मिथ पा० टे० सो० लन्दन, १९१५।

८८—चरियापिटक (मूल) संपा० बी सी० ला भण्डारकर ओ० रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना प्रकाशन, १९४९।

८९—थेर एण्ड थेरी गाथा (मूल) संपा० एच० ओल्डेनवर्ग पा० टे० सो० लन्दन, १८८३।

९०—साम्स आफ दि बुद्धिस्ट्स साम्स आफ दि ब्रैथेन अनु० रिज डेविड पा० टे० सो० लन्दन, १९१३।

९१—संयुक्त निकाय (सुत्तपिटक) भाग–प्रथम (मूल) पाली टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन, १८८४।

९२—दि बुक आफ दि किन्ड्रेड सेयिंगस भाग प्रथम पाली टेक्स्ट सोसायटी (संयुक्त निकाय) अनुवादिका टी० डब्ल्यू० रिज डेविड लंदन, १९१७।

९३—दि बुक आफ दि ग्रैजुअल सेइंग्स भाग–१ अंगुत्तर निकाय अनु० एफ० एल० वुड वर्ड, पाली टेक्स्ट सोसायटी लंदन, १९५१।

९४—अंगुत्तर निकाय–भाग २ (मूल) संपादक–आर० मारिस पा० टे० सो० लंदन, १९५५।

९५—दि बुक आफ दि ग्रैजुअल सेइंग्स (अंगुत्तरनिकाय) भाग–२ अनु० वुडवर्ड पा० टे० सो० लन्दन, १९५२।

९६—अंगुत्तर निकाय (मूल) भाग–३ पाली टेक्स्ट सोसायटी संपा० प्रो० हार्डी, आक्सफोर्ड, लंदन, १८६६।

९७—दि बुक आफ दि ग्रैजुअल सेइंग्स भाग–३ अनु० ई एम० हारे, पा० टे० सो० लन्दन, १९५२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

९८—दि बुक आफ दि ग्रैजुअल सेइंग्स भाग ४ अनु० निकाय अनु० इ० एम० हारे पा० टे० सो० लंदन, १६५५।
९९—बुक आफ दि डिसिप्लिन (भाग–४) अनु० हार्नर सेक्रेड बुक्स आफ दि बुद्धिस्ट लंदन, १६५१।
१००—विनयपिटक (मूल) भाग–२ चुल्लवग्ग ओल्डेन वर्ग विलियम एण्ड नौगेट, १८८०।
१०१—दि बुक आफ दि डिसिप्लिन (विनयपिटक) भाग–५ चुल्लवग्ग अनु० हौर्नर लन्दन, १६५२ सेक्रेड बुक्स आफ दि बुद्धिस्ट भाग २० खण्ड ५।
१०२—विनयपिटक (मूल) संपा० ओल्डेन वर्ग भाग ३ सुत्तविभंग–१ विलियम एण्ड नौगेट लंदन, १८८१।
१०३—सेक्रेड बुक्स आफ दि बुद्धिस्ट–भाग–१० दि बुक आफ दि डिसिप्लिन (विनय पिटक) सुत्त विभंग–१ अनु० आइ० वी० होर्नर पा० टे० सो० लंदन, १६४६।
१०४—विनयपिटक (मूल) भाग–१ महावग्ग ओल्डेन वर्ग विलियम्स एण्ड नौगेट, १८७६।
१०५—पेतवत्थु संपा० राहुल आनंद, जगदीश उत्तम भिक्खूना प्रकाशितो, १६३७।
१०६—विमान वत्थु राहुल आनंद, जगदीश कश्यप, १९३७।
१०७—सेक्रेड बुक्स आफ दि बुद्धिस्ट विमान वत्थु पेतवत्थु (दि माइनर एन्थोलोजीज आफ दि पाली कैनन्स भाग–४) अनु० जे० कैनेडी संपा० रिज डेविज लन्दन, १६४२।
१०८—बुद्धवंस संपा० आर० मौरिस भाग १ मूल पाली टेक्स्ट सोसायटी लन्दन, १८८२।
१०९—बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावली—६ सद्धर्मपुण्डरीकसूत्रम् संपा० पी० एल० वैद्य दरभंगा, १९६०।
११०—सद्धर्म पुण्डरीक सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट संपा० मैक्स मूलर अनु० एच कर्न आक्सफोर्ड क्लैरेण्डन प्रेस, १६००।
१११—मिलिन्द पन्हो देवनागरी पाली टेक्स्ट सिरिज ७ संपादक—आर० डी० वाडेकर, भाण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १६४०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

११२—क्वेश्चन्स आफ किंग मिलिन्द टी० डब्ल्यू० रिज डेविड सेक्रेड बुक्स आफ दी बुद्धिस्ट भाग ३५ आक्सफोर्ड, १८६० ।
११३—बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावली--१ ललित-विस्तर सम्पादक—पी० एल० वैद्य मिथिला इन्स्टिट्यूट दरभंगा, १६५८ ।
११४—दिव्यावदान संपा० पी० एल० वैद्य मिथिला दरभंगा ।
११५--जैन सूत्राज (प्राकृत से अनुवाद) भाग—२ उत्तराध्ययन सूत्र सूत्र कृतांग एच० जैकोबी० सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट संपा० मैक्समुलर क्लैरडन प्रेस, १८६५ ।
११६—आचारांग सूत्र पाली टेक्स्ट सोसायटी जैकोबी, १८८२-९१ ।
११७—सेक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट आचारांग तथा कल्पसूत्र अनु० एच० जैकोबी, १८८४ ओक्सफोर्ड क्लेरेण्डन प्रेस ।
११८—भगवती सूत्र हिन्दी भाषानुवाद सहित श्री अमोलक ऋषि जी कृत जैन शास्त्रोद्धार मुद्रालय, सिकंदराबाद दक्षिण ।
११६—जैन कल्प सूत्र भद्र बाहु विरचित जैनोदय पुस्तक प्रकाशन, रतलाम, वि० २००५ ।
१२०—ज्ञाता धर्म कथांक सूत्र अमोलक ऋषि जी महाराज दक्षिण हैदराबाद, सिकन्दराबाद ।
१२१—दि मान्युमेन्ट आफ सांची जान मार्शल भाग--२
१२२—दि आर्ट आफ इन्डियन एशिया, एच० जिमर भाग-२ बौलिंगेन सिरीज ३९ ।
१२३—ट्री एण्ड सर्पेन्ट वर्शिप सांची तथा अमरावती जेम्स फरग्यूसन द्वितीय संस्करण लन्दन इन्डिया म्यूजियम, १८७३ ।
१२४—भरहुत भाग-तृतीय बेनिमाधव बरुआ कलकत्ता, १६३७ ।
१२५—अमरावती स्कल्चर इन दि मद्रास गवर्नमेन्ट म्यूजियम शिवराम मूर्ति मद्रास गवर्नमेन्ट प्रेस, १६५६ ।
१२६—गाइड टू दि म्यूजिकल इन्स्ट्रूमेन्ट एक्जिबिटेड इन दि कलकत्ता म्यूजियम डा० ए० एम० मीरवार्थ कलकत्ता १९१७ ।
१२७—नाट्यशास्त्र (भरतकृत) निर्णय सागर प्रेस ।
१२८--नाट्यशास्त्र (भरतकृत) संपा० बटुक शर्मा तथा बलदेव उपाध्याय काशी संस्करण जै कृष्णदास हरिदास गुप्ता चौ० सं० सिरीज बनारस, १९२९ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१२९—गायकवार्ड ओरियन्टल सिरीज नाट्यशास्त्र (भरतकृत)अभिनवगुप्त की टीका सहित मूल संपा० रामकृष्ण कवि भाग--प्रथम सेन्ट्रल लाइब्रेरी बड़ौदा, १९२६ ।

१३०—दि नाट्यशास्त्र (भरतकृत) भाग--२ (अध्याय २८ से ३६) अनुवादक मनमोहन घोष एशियेटिक सोसाइटी कलकत्ता, १६ ।

१३१—दत्तिलं त्रिवेंद्रम संस्कृत सिरीज संपा० साम्ब शिव शास्त्री, १९३० ।

१३२—बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावली १९ अवदान शतक संपा० पी० एल० वैद्य मिथिला इन्स्टीट्यूट दरभंगा, १९५८ ।

१३३—विशुद्धि मग्ग संपादक--धर्मानन्द कौसाम्बी भाग—१ मूल भारतीय विद्या भवन बंबई, १९४० ।

१३४—विशुद्धि मार्ग २ भागों में भिक्षु धर्मरक्षित महाबोधि सभा सारनाथ, वाराणसी, १९५६ ।

१३५—बुद्धिस्ट महायान टेक्स्ट्स भाग—२ दि लाजर सुखावती व्यूहः दि स्मालर सुखावती व्यूहः दि लार्जर प्रज्ञापारमिता हृदय सूत्र : दि स्मालर प्रज्ञापारमिता हृदय सूत्र : ट्रांसलेटेड बाई मैक्समुलर दि अमितायुर ध्यान सूत्र : ट्रांसलेटैड बाई जे० तकाकुसु ।

१३६ बुधिस्ट महायान सूत्राज प्रथम संस्करण ट्रांसलेटेड बाई वेरियस ओरियन्टल स्कालर्स । सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट भाग–४९ संपा० मैक्समूलर औक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस लन्दन, १८९४ ।

१३७ सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट बुद्धिस्ट महायान सूत्राज ई० वी० कौवेल संपादक मैक्समूलर ।

१३८—सौन्दरनन्द काव्य बिब्लोथेका इन्डिका (अश्वघोष प्रणीत) ऐशियाटिक सोसायटी प्रकाशन कलकत्ता, १६१० ।

१३६—बुद्धचरितं प्रथम भाग विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला ८१ चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी, १६६२ ।

१४०—वात्स्यायनकृत कामसूत्र जयमंगला टीका चौखम्भा संस्कृत सिरीज बनारस ।

१४१—दि शिलप्पदिकारम अनुवादक–वी० आर० रामचन्द्र दीक्षितार आक्सफोर्ड यूनिवर्सीटी प्रेस, १९३९ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१४२—मणिमेखलई श्रीकृष्णस्वामी आयंगार लन्दन लूजेक एण्ड कम्पनी, १९२८।
१४३—चौखम्भा संस्कृत सिरीज सं० ३२२ याज्ञवल्क्य स्मृति श्री मित्रमित्रकृत वीरमित्रोदय टीका। श्री विज्ञानभिक्षु कृत मिताक्षरा टीका सहित विद्याविलास प्रेस वाराणसी, १९२४।
१४४—बृहद्देशी (मतंगमुनि कृत) अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थावली ग्रन्थांक, ९३ १९२८।
१४५—उववाई सूत्र जैन शास्त्रोद्धार मुद्रालय सिकन्दराबाद।
१४६—समवायांग सूत्र जैन शास्त्रोद्धार मुद्रालय, सिकन्दराबाद।
१४७—स्थानांग सूत्र अमोलक ऋषि कृत भाषानुवाद सहित जैन शास्त्रोद्धार मुद्रालय, सिकन्दराबाद।
१४८—राज प्रश्नीय सूत्र (रायापसेनीय सूत्र) अमोलक ऋषि जी कृत हिन्दी अनुवाद सहित मूल, जैन शास्त्रोद्धार मुद्रालय, सिकन्दराबाद।
१४९—कालिदास ग्रन्थावली सीताराम चतुर्वेदी अखिल भारतीय बिक्रम परिषद् काशी सं० २००७ वि०
१५०—विक्रमोर्वशीय (कालिदासकृत) संपा० प्रो० एच० डी० वेलंकर साहित्य एकेडमी, नई दिल्ली।
१५१—रघुवंश (कालिदास) मल्लिनाथ टीका सहित जयकृष्णदास हरिदास गुप्ता चौखम्भा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, १९३१।
१५२—रघुवंश (कालिदासकृत) संजीवनी मणिप्रभा द्वयोपेत चौ० सं० सि० वाराणसी, १९५६।
१५३—मेघदूत (कालिदासकृत) मल्लिनाथ सूरि कृतय संजीविनी टीका समेत मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, पटना; बनारस, १९६१।
१५४—कुमारसंभव हरिदासकृत संस्कृत ग्रंथमाला ९० चौ० सं० सि० विद्याविलास प्रेस, बनारस, १९५१।
१५५—मालविकाग्निमित्र हरि० सं० ग्रन्थमाला २१६ चौ० सं० सि० बनारस, १९५१।
१५६—हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला ४१ अभिज्ञानशाकुन्तलम् किशोरकेलि व्याख्या चौ० सं० सि० वाराणसी, १९५५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चित्र संख्या-१

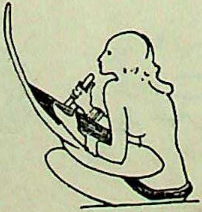

चित्र संख्या-२

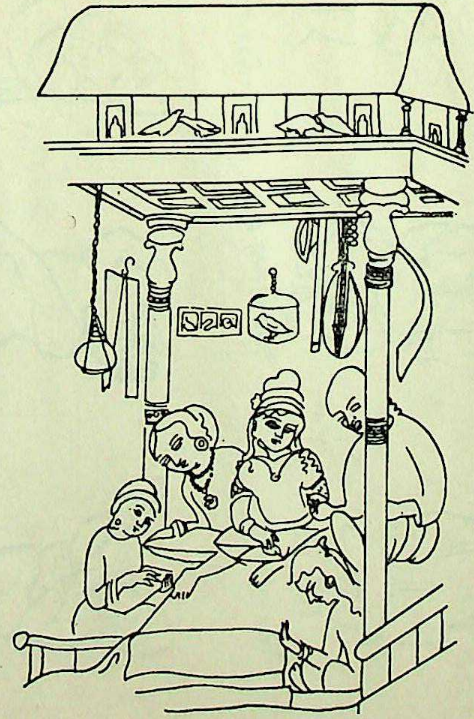

चित्र संख्या-३

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

फलक-८

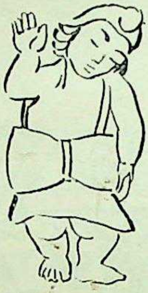

चित्र संख्या-१

चित्र संख्या-२

चित्र संख्या-३

चित्र संख्या-४

चित्र संख्या-५

चित्र संख्या-६

चित्र संख्या-७

चित्र संख्या-८

चित्र संख्या-९

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

फलक-८

चित्र संख्या-१

चित्र संख्या-२

चित्र संख्या-३

चित्र संख्या-४

चित्र संख्या-५

चित्र संख्या-६

चित्र संख्या-७

चित्र संख्या-८

चित्र संख्या-९

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh